



पक्षी और आकाश

रामेय राघव

राजपाल एण्ड सन्झ, दिल्ली



फल तक सब कुछ था । आज कुछ भी नहीं है ।

कुछ लोग कहते हैं कि सुख और दुःख का आरम्भ तब से होता है, जब मनुष्य उनका अनुभव करने लगता है । अर्थात् सारी सृष्टि एक अनुभूति है । मनुष्य चाहे तो अनुभव करे अन्यथा नहीं करे । लोक के सुख और दुःख उसी अनुभूति पर आश्रित हुआ करते हैं । मैंने अनेक मुनियों के साथ सभय व्यतीत किया है या कहां कि उनके साथ व्यतीत हुआ हूं ; क्योंकि मैंने क्या किया और क्या नहीं किया, यह मैं अपने-आप कैसे बता सकता हूं ? परन्तु कुछ साधुओं ने मुझे बताया है कि जो कुछ है वह केवल इसीलिए है कि हम उसका अनुभव करते हैं । असली मनुष्य का उच्चस्तर है, जब वह अनुभव करना छोड़ देता है । लेकिन ऐसा हो कैसे सकता है—यह मैं अभी तक समझ नहीं पाया हूं, जबकि मेरी आयु अब चौबीस वर्ष की हो चुकी है । मैं अनुभव करता हूं एक विशेष आयु से, किन्तु कुछ स्मरण की धूंधली रेखाएं हैं, जो मेरे आसपास के लोग अपनी बातों की तूलिकाओं से गहरी करते हैं और मुझे पता चलता है कि मेरा अनुभव जब प्रारम्भ होता है, मेरी सत्ता उससे पहले से प्रारम्भ हो चुकी हूई मिलती है और मेरा 'मैं' एक पुराने रूप का उत्तराधिकार है और अब शायद वह एक क्रम है, जिसे विराम कहां मिलेगा, यह मैं नहीं जानता ।

सामने पथ पढ़ा है । वरसात की एक मुस्कान ने धरती में एक पुलक भर दी है । चारों तरफ हरियाली उठने लगी है । आकाश में बादलों के सार्थ घूमते फिरते हैं । न जाने वे कितने अज्ञात स्थितियों तक जाते हैं और जहां ठहरते हैं वही पानी का दान करते हैं, पाल देते हैं और कहते हैं कि ये बहुत र जाते हैं, समुद्र से व्यापार करते हैं ।

उसका फल ही भाग्य है। और यह फलाफल उसके एक जीवन में ही सीमित नहीं होता, जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहता है। इसीलिए वह कई तरह से जगत् में जन्म लेता है। तीर्थकर अपने कर्मों का क्षय कर देते हैं और इसीलिए उनका फिर जन्म नहीं होता। किन्तु ब्राह्मण तो ऐसा नहीं मानते। वे तो परमात्मा को मानते हैं। जो भी हो, इतना निश्चित है कि भाग्य एकमात्र सहायक या घातक नहीं है। भाग्य से प्राप्त होनेवाली वस्तु भी तभी मिलती है, जब भनुष्य उद्योग करता है। उद्योग ही पुरुषार्थ है। फिर भी अपने पुरुषार्थ और उद्योग पर व्यक्ति को धमंड नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे अहंकार पैदा होता है, और उससे व्यक्ति एक प्रकार के मोह में पड़ जाता है, जो उसके विवेक को नष्ट कर देता है।

सूर्य हूव रहा है। खेतों में उदासी की लाल-लाल छाया पड़ रही है जो सूर्य की अन्तिम रश्मियाँ विखरा रही हैं। सामने की वह पहाड़ी अब नीली-नीली-सी दीख रही है। असंख्य पक्षी घरों की ओर लौट रहे हैं। न जाने कब से ऐसा ही होता आ रहा है और होता चला जाएगा। मैं एक पेड़ के नीचे बैठा हूं और मेरे पास कोई नहीं है। दूर जहर वहां कोई गांव है; क्योंकि कुत्तों के भोकने की आवाज आ रही है, जो मेरे पीछे के टीलों में से सुनाई देती सियारों की हुआं-हुआं से बिल्कुल अलग है। वह आवादी की गूंज है, यह धीराने की चिल्लाहट है। इन दोनों के बीच मैं बैठा हूं, जो कल तक नगर-सेठ था, और आज कुछ भी नहीं हूं। कैसे कह दूं कि मैं भिखारी हो गया हूं, क्योंकि मुझे घर छोड़े शायद दो पहर ही हुए हैं। अभी भी मेरे कानों में दास-दासियों, परिजनों और सेठों के शब्द गूंज रहे हैं। भिखारी होने के लिए मुझे भीख मांगना श्रावश्यक है; और भीख मैंने मांगी नहीं है; फिर मैं भिखारी कैसे कहला सकता हूं! कुछ भी पास नहीं है। जिनके पास हैं, वे अधिक चाहकर कम से कम बदले में देना चाहते हैं। यह मैं देख चुका हूं और देख रहा हूं। इसलिए ही मैंने धन को धृणित समझा है और भनुष्य के संबंधों को इस धन से ऊपर स्थान देने की चेष्टा कर रहा हूं। जानता हूं, यह धन बहुत ही श्रावश्यक है। न कुछ की अवस्था में भी यह विश्वास बना ही रहता है कि कुछ मिलेगा। और मिलने पर भी अभावों की तृप्ति नहीं होगी, किन्तु गाढ़ी फिर सिंच चलेगी। तो इस विश्वास को मैं अपना पुरुषार्थ कहूं या भाग्य? मैं इसे

भार्य ही कहूँगा, क्योंकि पुरुषार्थ तो मैं बहुतों को करते देखता हूँ, जिन्हें कुछ भी नहीं मिलता। अगर मैं यह कहूँ कि मैं ईमानदार हूँ, या मेरे पुरुषार्थ में और के पुरुषार्थ की तुलना में अधिक विवेक है, तो इससे बढ़कर मूर्खता क्या होगी? इस क्षण में जो अनेक वस्तुओं के मिलन से एक 'समय' बना है, वह अगले क्षण में वस्तुओं के किस प्रकार के 'संबंध' में प्रकट होगा, यह कौन जानता है?

इन संबंधों का नाम ही मनुष्य का जीवन है। यदि मैं इस हृष्टिकोण से देखूँ तो मैं कहूँगा कि यह जो मैं हूँ, सो मेरा नाम धनकुमार है; व्योंकि मेरे शरीर को लोग धनकुमार के नाम से जानते हैं। खाली शरीर नहीं, वल्कि कर्म करनेवाले शरीर को यह नाम दिया गया है; क्योंकि जब मैं कर्म करने योग्य नहीं रहूँगा, तब लोग मेरे शरीर को देखकर कहेंगे कि यह धनकुमार नहीं है यह तो धनकुमार का शब्द है।

यह धनकुमार, जो मैं हूँ, है कौन? मेरा प्रारम्भ सुनी-सुनाई वातों पर ग्राधारित है। उसके हिसाब से पुरपइठान एक पुराना और समृद्ध नगर है। मैं उसी नगर के श्रेष्ठ धनसार का सबसे छोटा पुत्र हूँ। मेरा धनसार से जो संबंध है वह मैंने आंख खुलते ही नहीं जाना, जाना है क्रमशः चेतना आने पर। जब मैं छोटा ही था, तब तीन लड़के उसी घर में और थे। बड़ा धनदत्त कहलाता था, मंझला धनदैव और छोटा धनचन्द्राधिप। वे तीनों मेरे बड़े भाई थे। वे तीनों मुझसे खेला करते थे। मैं उन्हें बड़े भैया, मंझले भैया और छोटे भैया कहा करता था। मुझे बहुत धुंधली-सी याद है कि एक बड़े-से प्रकोष्ठ में बहुमूल्य चिकने पारसीक कालीन पर मैं घुटनों के बल चला करता था और मेरे तीनों भाई मेरे पास ही खेलते थे। जब मुझे कुछ और अबल आई, तब मैंने जाना था कि वे तीनों ही मुझसे बड़े थे, बड़े इतने कि ग्रव जब मैं चारीस वर्ष का हूँ, वड़े भैया धनदत्त बत्तीस वर्ष के हैं। इकतीस के हैं मंझले भैया धनदैव और तीस के हो गए हैं छोटे भैया धनचन्द्राधिप। उन तीनों की पत्तियाँ हैं। सुभामा बटी भाभी है, सुमुखी मंझली हैं और छोटी भाभी हैं अलका। उन तीनों ने मुझे स्नेह दिया है; और स्नेह जीवन में बहुत ही मूल्यवान होता है, इसलिए मुझे लगता है, वे मेरे बहुत ही पास हैं।

किंतु ग्रव जबकि मैं चला आया हूँ, तब घर की यथा हालत होगी? एव रात चांदनी छिट्की हुई थी और मैं उस समय देर तक चंद्रमा को देखता रह-

गया था । पिता सोए थे, सोया था सारा घर । दास, दासियाँ, अनुचर, आए-गए व्यापारी । सो रहे थे अपने सारे पशु । द्वार पर कुत्ता भी ऊंध गया था । केवल कहीं-कहीं मणिदीप जल रहे थे और सुवास से गमकते प्रकोष्ठों में हवा आ रही थी । नगर भी सोया था । सोया था राजमहल; पण्यहाट । और आज प्रातःकाल हलचल मच गई होगी कि नगर-थ्रेष्ठ धनकुमार कहीं नहीं मिल रहा है । क्या उसे चोर उठा ले गए या भूत या प्रेत या विद्याधर ! भाभियाँ सुभासा, सुमुखी और अलका जानती हैं, और संभवतः उन्होंने पिता से कह भी दिया होगा । तो क्या पिता अपने अन्य पुत्रों पर क्रुद्ध हुए होंगे ? क्या यह समाचार छिप सकेगा कि धनकुमार सब कुछ छोड़कर चला गया, क्योंकि उसके भाई उसके प्राण लेने को तैयार हो गए थे ! जब महाराज को ज्ञात होगा, सभा-समाज में विदित होगा, तब क्या उन लोगों से सब घृणा नहीं करेंगे ?

अवश्य करेंगे, किन्तु मेरा इसमें क्या उत्तरदायित्व है ? क्या मुझे उनके हाथों मर जाना अच्छा था ? क्या मैं इसीलिए जन्मा था कि उनकी ईर्ष्या मुझे काटकर फेंक दे । कितना-कितना विक्षोभ मुझे इसे सोचते हुए ही ग्रस लेता है । परन्तु विक्षोभ से लाभ भी क्या ? वे मेरे ग्रीर कोई नहीं, भाई ही तो हैं । मैं उन्हें क्षमा करने को ही तो विवश हूँ । आखिर मुझे बचाया किसने ? उनकी स्त्रियों ही ने तो । क्या उनका प्रतिकार करना मेरे लिए शोभन होगा ? मुझे आवश्यकता ही क्या है ?

वे अपने भले, मैं अपना भला । मैं क्या कमा नहीं सकता ? मेरी ज़रूरतें ही वया हैं ? मनुष्य को भरना है अपना पेट, और पेट भरने के लिए उसे पच्चीस काम हैं । हाथ-पांव सावुत हों, तो आत्मसम्मान को जीवित रखते हुए ईमानदारी से जो कुछ मिल जाए वही मेरे लिए काफी है । ईमानदारी वैभव का मुंह नहीं देखती, वह तो मेहनत के पालने पर किलकारियाँ मारती हैं और संतोष पिता की तरह उसे देखकर तृप्त हुआ करता है । और मैं समझ गया हूँ कि शांति वाल्य तृप्तियों में नहीं है, वह तब होगी जब प्रतिस्पर्धा का सांप ईर्ष्या का विष उगलना बंद कर दे । मुझे क्या है, मेहनत-मजदूरी करके भी कमा लूँगा, परन्तु निरन्तर कलहपूर्ण जीवन की तुलना में वह कहीं अधिक अच्छा होगा । पिता ने मुझे जो शिक्षा दी है, जो कुछ मैंने स्वयं सीखा है, वह सब तो मेरा ही है । ज्ञान ही मेरी जीविका का संवल है, अध्यात्म का वह भी नहीं है ।

मुझे अंभटों से दूर रहना है। यों सब लोगों ने कहा है कि मेरा भाग्य बहु बली है और उसका वलवान होना इससे कितना अधिक प्रकट है कि मैं आ अज्ञात बना हुआ राह पर एक पेड़ के नीचे बैठा हूं। और काली रात धिरतं आ रही है। उस अंधेरे में अब सब कुछ छव जाएगा, लेकिन दीपक की तरा मेरा चितन जलता रहेगा।

सब कहता हूं कि उसी भाग्य के बारे में मैं नहीं सोचना चाहता कि वह मेरा दुर्भाग्य है।

पज्जा धात्रेयिका ने मुझे पाला। मां के दूध को छोड़ने पर उसीने मुझे अपने पास सुलाया। पज्जा की यादें बहुत मीठी हैं। उन दिनों वह मुझे सोने के रत्न-जटित पालने में से मखमलों पर से उठाती थी तो छाती से लगा लेती थी। सुवर्ण और रत्नों से भी अधिक सुख मिलता था मुझे अपनी पज्जा अस्मां की छाती पर सोने में; वह हालांकि सिर्फ एक दासी थी, सांखली-सी। अब मैं देखता हूं कि और धार्यों की तुलना में पज्जा कितनी अधिक अच्छी थी! उसने मुझे कितनी कहानियाँ सुनाई थीं। पज्जा अस्मां की कथाएँ मेरे लिए चेतना का पहला संसार थीं। मैं उनमें रहता हुआ अपने चारों ओर धूमता था, जहां धीरे-धीरे मैंने बहुत कुछ सीखा।

पज्जा ने मुझे बताया था कि जब मैं पैदा हुआ था, तब वह मेरी नाल लेकर भवन के पिछवाड़े की अशोकबाटिका में गाड़ने गई थी। उसने कुदाल से धरती को खोदा और अंधेरे में ही वह एक बार अन्नात भय से कांप उठी। उसकी कुदाल किसी बस्तु से टकराकर खन्न करके बज उठी। यह बया होगा? सोचा उसने। और उसने ही बताया था कि उसका लोहू सहसा जम गया था। उसने देखा था कि ढक्कन हटाते ही देश में सुवर्ण भरा हुआ-सा मुस्कराया था। वह ठहरी दासी! सामने सोने का ढेर! मन किया कि पज्जा, कुद्रेर ने गंदा दी है। ले और संभाल! अपने भाई के साथ चुपचाप भाग चल!

यह मुझे पज्जा ने ही बताया था। अपने मन की बात कहते हुए उसे ढर नहीं लगा था मुझसे। उसने सोचा था—पज्जा! तू तो दासी है। दास है तेरा भाई। धनसार पार्वतनाथ का अनुयायी है, तभी दासों को भरपेट लाना देता है। उसके कारखानों में काम करती थ्रेणियाँ भी धन पाती हैं। धनगार यों विदेशों से सार्थ अपार धन लाकर देते हैं, जिन्हें वह थ्रेणियों में भी वाटना “

फिर भी तू दासी है। इस धन को लेकर भाग जा और पुरपइठान को छोड़ दे। सुदूर, बहुत दूर कहीं अपने भाई के साथ जाकर वस जा। भाई का व्याह कर, अपना भी कर ले। सुख से स्वतंत्र बनकर रह।

परन्तु! पज्जा का मन अब कांप उठा उस समय अंधेरा था, लेकिन पज्जा ने देखा कि आकाश में नक्षत्र चमक रहे थे। भवन के बाहर भीड़ थी; दास, दासियां, श्रेणियां, श्रेष्ठ के भृत्य, सैनिक, पड़ोस के श्रेष्ठ लोग और कुलीन राजन्य मित्र; कुछ मुनि भी थे। थे, पर सब दूर थे।

स्वयं पज्जा ने मुझे बताया था कि फिर भी पज्जा को लगा था कि कोई उसे देख रहा था। पज्जा के मन ने कहा था कि रत्नगर्भा पृथ्वी बहुत बड़ी है। अवंतिका, मगध, वत्स और इतनी ही नहीं, धरती और भी बड़ी है। कहीं भी जाकर वस जा। कौन जान पाएगा? परन्तु सहसा ही वह डर गई थी। उससे किसीने कहा था कि पज्जा! तू दासी है। उसने भी कहा था, “हां, मैं दासी हूं।”

उसीने पूछा था, “पज्जा! तू दासी क्यों है?”

पज्जा उत्तर नहीं दे पाई थी।

उसीने फिर पूछा था, “पज्जा! तू स्वामिनी क्यों नहीं है? इसी संसार में कोई स्वामी क्यों है? कोई दास क्यों है? कोई उच्च जाति क्यों है? कोई निकृष्ट क्यों है? कोई उच्च जाति का सम्मान पाकर भी धनहीन क्यों है? और कोई निकृष्ट जाति का होकर भी धनवान कैसे है? कोई राजकुमार होकर भी रोगी क्यों रहता है? और कोई दास होकर भी, न अच्छा भोजन पाता है, न पूरी नींद सोता है, मगर स्वस्थ और सुन्दर क्यों होता है? पज्जा! यह क्यों होता है?”

तब पज्जा ने सोचा था कि यह सब जो दीख रहा है वह किसीका फल ही है; और वह है कर्म का फल। कर्म—अच्छे-बुरे—का फल। और उसीके अनुसार प्राणी को जन्म मिलता है। उसी फल के अनुसार वह आदमी बनता है और उसीके फलस्वरूप वह गधा भी बनता है, जो जीवन-भर बोझा ढोता है; कोल्ह का बैल भी बनता है, जो आंखों पर पट्टी वंधवाकर निरन्तर धूमा करता है। तो पज्जा! यह धन लेकर तू चली भी गई तो क्या वह चोरी नहीं होगी? जिस धरती में यह धन गड़ा है, वह धरती बहुत पुरानी है। इस धरती

पर तो हम सब लोग आते हैं और चले जाते हैं।

पज्जा ने ही बताया था कि उस समय भवन के सिंहद्वार की ओर मर्देल-सुनाई देने लगा था, जिसे सुनकर पज्जा सोचने लगी थी कि देखो, अब घर श्रेष्ठ-स्वामी पुत्र-जन्म पर आनंद मना रहे हैं। यह धरती जिसमें धन गड़ा धरती का यह टुकड़ा इस समय भाग्य ने उनको दिया है! यद्यपि वे भी इधरती पर सदा नहीं रहेंगे। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि जिसने इधन को किसी प्राचीनकाल में अपना समझकर गाड़ा था, यह धन उसके बनकर नहीं रहा। जिसने गाड़ा था, यह उसका ही नहीं बना। श्रम कर उसने पाया, सहजकर गाड़ा, परन्तु काम यह उसके भी नहीं आया। तो इसबांधर्थ है कि धन कर्मफल का एक भोग है। आत्मा की परीक्षा के लिए प्रकृति। यह भिन्न रूप है—धनी-दरिद्र, ऊँच-नीच। श्रमीर और गरीब में एक ही आत्मा है। जब यह आत्मा गरीबी में लोभ में पड़ता है तो और भी अधिक कष्ट भी है। और जब श्रमीरी में धन का मद इसपर छा जाता है, यह वेईमान और धमंड में छूट जाता है, तब कर्मफल से यही आगे चलकर दासत्व, रोग और दारिद्र्य भोगता है। यही तो इस दारुण चक्र का रहस्य है, अन्यथा यह क्यों बना रहता?

पज्जा के सामने श्रेष्ठ धनसार के पास एक मुनि यही कहते थे और वे नगेरहते थे, क्योंकि उन्होंने सब कुछ छोड़ दिया था। पज्जा उनकी सेवा करती थी। जब पज्जा ने मुझे यह बात सुनाई थी, तब मैं सिर्फ आठ साल का था। उसने मुझसे कहा था, “धन वत्स! तू नहीं समझेगा अभी कि वे मुनि कितने महान् थे। उन्होंने काम को जीत लिया था।” सचमुच उस समय मैं नहीं समझा था और मैंने पूछा था, “पज्जा अम्मां! काम कौन होता है?”

पज्जा अम्मां ने कहा था, “धन वत्स! तू बड़ा होगा तो जानेगा।” और स्नेह से मुझे सहलाकर फिर अपनी उसी रात की काहानी सुनाने लगी थी:

“तो मुझे नया विचार आया। मैंने सोचा कि श्रेष्ठ धनसार को यह धन इतने दिन नहीं मिला, फिर अब कैसे मिला? यहां मैं इस वालक थी नाम गाड़ने आई थी और खोदते मैं मिला यह धन! तो यह धन इसी वालक का हुआ न!”

मैं देखता रहा था। पज्जा के मुख पर कितनी शान्ति थी! पज्जा ने

कहा था, “तब मैं श्रेष्ठ के पास गई और मैंने धीरे से कहा, ‘स्वामी !’

“‘क्या है पज्जे ?’ उन्होंने सम्मानित अतिथियों से बात करना रोककर पूछा था।”

“मैंने कहा, ‘स्वामी ! तनिक एक आवश्यक कार्य है। स्वयं आपको ही चलना होगा।’

“उन्हें विस्मय हुआ था। अतिथियों से भ्रमा मांगकर वे मेरे साथ आए थे और जब वे अर्लिंद में आ गए और मैं अंधकार की ओर बढ़ी थी, तब वे कुछ शंकित हो गए थे। सोचा होगा, दासी कोई कुटिलता तो नहीं कर रही। दास-दासी कभी-कभी इस तरह छल से स्वामियों को डाकुओं के हाथ में जो फंसवा देते थे। रुककर बोले, ‘कहां जाती है ?’

“मैंने कहा, ‘स्वामी ! एक अद्भुत बात हुई है। आप प्रभु हैं, आपकी कमर में खड़ग लटक रहा है। फिर मैं स्त्री ही तो हूं, और आपके भृत्य भी समीप हैं। मेरे साथ अशोकवाटिका में आइए।’

“वे मेरे पीछे आए थे। वे बीर थे। मैंने अशोकवाटिका में उस जगह पहुंचकर कहा था, ‘प्रभु ! अपनी संपत्ति स्वीकार करें।’

“उजला अधिक नहीं था। दूर एक दास दीप लेकर जा रहा था। स्वामी की आज्ञा से पास आ गया और स्वामी ने देखा था—स्वर्ण ! ढेर !

“‘पज्जा !’ वे गदगद-से कह उठे थे, ‘तुझे मिला ?’

“‘हाँ, स्वामी !’

“‘पज्जा ! यह किसका है ?’

“मैंने कहा था, ‘आपका !’

“उन्होंने कहा था, ‘ऐसा नहीं हो सकता पज्जे ! मेरा होता तो तुझे क्यों मिलता ?’

“‘पर स्वामी ! यह मेरा होता तो मैं दासी क्यों होती ?’

“स्वामी ने अत्यन्त कृतज्ञ नेत्रों से मुझे देखा था और कुछ कह नहीं पाए थे। तब मैंने कहा था, ‘स्वामी ! यह आपका तो नहीं है। यह तो उस नये वालक का है, जिसकी नाल गाड़ने को मैंने यह गड्ढा खोदा था।’”

पिता की आंखें भर आई थीं और धीरे-धीरे यह संवाद तब सारे नगर में फैल गया था, जब मेरे जन्म के ग्रानंदोत्सव में उसी धन को खर्च करके पिता ने

चबदंस्त भोज दिया था । उस सुवर्ण से शायद पुरपइठन का कोई एक आदमी भी भूखा नहीं रहा था ।

पज्जा की कथा ने मुझे बताया था कि मैं बड़ा भाग्यवान था और बड़ा धनी होनेवाला था, परन्तु सच कहता हूँ कि पज्जा जैसी निष्पृह स्त्री ने मेरा लालन-पालन किया और उसीसे मैंने सीखा है कि धन आत्मा को छलनेवाली चीज़ है । इसे जितना ही जो वांध-वटोरकर, दूररों को धोखा देकर, निचोड़कर इकट्ठा करता है, वह उतना ही तुरा बनता जाता है ।

तो क्या मैं यह कहूँ कि मैं इसी कारण घर छोड़कर आ गया हूँ ? इस समय क्या मेरे विवेग में पज्जा को अत्यन्त क्लेश नहीं हुआ होगा ?

वचपन की यादें मुझे अधिक विकल ही बनाती हैं । पांच धायें थीं पज्जा के जो मेरी सेवा करती थीं । एक मागधी थी, दूसरी द्राविड़ ; तीसरी, पांचवीं नर्मदा-तीर की थीं । उनके नीचे थीं अठारह दासियां । अब मुझे है कि वे कहाँ-कहाँ की थीं । एक थी पारसीक, एक यवन (ग्रीक), मिस्र, देश, वंग, कर्तिग, कोसल, वर्त्स, कण्टिक, सिहल, लिच्छविगण, शूरसेन देशों । दासियां उनके नीचे थीं । वाकी छः मैं एक कुर्लिद थी, एक विद्याटवी मैं से आई नाग जाति की थी । उनकी याद तो मुझे ही है ; परन्तु जो जहाजों में पकड़कर लाई गई थीं, उनमें एक यहूदिन थी । दासों का व्यापार करनेवाले अनेक दस्तु थे । श्रेष्ठ धनसार ने दया-भाव से इन्हें खरीदा था । वे जानते थे कि अन्यत्र क्षत्रियों में इन्हें बड़ा कष्ट दिया जाएगा । पीण्ड, सिन्धु और मद्र देश की दासियों को भूमि पर चलते सार्थ ले आए थे । वे अपनी-अपनी भाषाएं बोलनी थीं और उन्हींसे मैंने जाना था कि प्रत्येक देश की अपनी भाषा है, हरएक के रीति-रिवाज अलग-अलग थे; वस्त्र-भूपा अलग थी; नियम, पाप, मुण्ड, मव ती विभिन्न थे; विभिन्न देवी-देवता भी, परन्तु एक सत्य था कि सब जगह धनी-दरिद्र थे; भाग्य सब जगह था और यह भी कि जितनी धरती पर मनुष्य रहता था, मंसार उसमें नहीं बड़ा था, क्योंकि मैं ऐसी जगहों का भी नाम गुनता था, जिनके नाम हमारे यहाँ नहीं श्रापते थे ; जैसे कुरु, श्रंग, मांधार, मुवर्णदीप, यवद्वीप (जावा), वर्दिण ढीप (वोनियो), वावेरु (वंबीलोनिया), लाट और न जाने जितने-कितने ! मैं पज्जा गे पूछता था कि पज्जे श्रम्मां ! इतने देश हैं परती पर ! मव जगह मनुष्य रहते हैं ?

“हां वत्स धन !” पज्जा कहती थी। “यह संसार बहुत ही विचित्र है, इसका अन्त कौन जानता है !”

वे बातें अनन्त थीं, अद्वितीय थीं। उन्होंने मुझमें जो एक अकूत जिज्ञासा भरी, वही तो आज मुझमें उमड़ नहीं आई है ? मैं नगर-सेठ था, वह सब वैभव मेरा था। क्या यदि मैं चाहता तो महाराज से कहकर उन भाइयों को दण्ड नहीं दिला सकता था ? नहीं, वह मैं कैसे कर सकता था ? लोग क्या कहते ? पज्जा अम्मां को मैं मुंह कैसे दिखाता ? आज मैं सोचता हूं कि दया और श्रात्म-सम्मान का यह अद्भुत सम्मिश्रण मुझमें कैसे है जो मेरे भाइयों में नहीं है ? यह पिता की विशाल हृदय-वत्सलता और दासी पज्जा की कहुणा का ही तो मुझपर ऐसा प्रभाव पड़ा है ! मेरे भाइयों को कुलीनों ने पाला है और तभी उनमें इतना अहंकार भी है।

स्नेह ही विष के वृक्ष उगा सकता है। इसे भी कोई मान सकेगा ? पिता का मुझपर अतुल अनुराग मुझे एक और ऊपर उठाने लगा। मैंने कलाएं सीखीं, विद्याएं सीखीं, और अनेक शास्त्र पढ़ गया। परन्तु दूसरी ओर, भाई मुझसे घृणा करने लगे। प्रतिस्पर्धा बढ़ चली। मैंने तो कुछ नहीं किया ! पिता उनकी ईर्ष्या देखकर उन्हें डाँटने लगे और इसीने एक दिन उस भयानक नाटक का सूत्रपात किया जिसके पहले अंक का अन्त इस प्रकार हुआ है कि मैं घर छोड़ने को विवश हो गया हूं।

वे तीनों आपस में सलाह करते थे। उनकी पत्नियां भी साथ रहती थीं।

पज्जा धात्रेयिका ने मुझसे कहा, “वत्स धन ! जानते हो घर में क्या हो रहा है या केवल कला-विलास में ही हूँचे रहते हो ? इस तरह संगीत में ही सब भूले रहोगे कि कुछ चारों तरफ का भी ध्यान रखोगे ?”

मैंने पूछा, “क्या हुआ पज्जा अम्मां !” और मैंने चांदी की चौकी खींचकर बैठते हुए कहा, “क्या वात हो गई ?”

“अरे !” पज्जा ने बड़ी-बड़ी आंखें फाड़कर माथे पर बल डालकर भाँहें ऊपर चढ़ाते हुए कहा, “वत्स धन ! तीनों भाई तुमसे ईर्ष्या करते हैं।”

“कैसे जानती हो ?” मैंने पांव से पंखों का जूता सरकाकर कहा। दासी खड़ी थी—एक यवनी।

“दू जा री !” पज्जा ने उसे जाने को कहा।

“तुम्हारा भाग्य तुमसे ऐसा कहला रहा है।” पिता ने सहसा तीक्ष्ण किन्तु सधे हुए स्वर से कहा, “जिस दिन धनकुमार जन्मा था, उसी दिन श्रशोकवाटिका में धन मिला था।”

वे तीनों ही इस बात पर हँस पड़े। पिता ने श्राव्यर्थ से देखा।

“क्यों? हँसते क्यों हो?”

“अपराध क्षमा करें। नागरिक तो कुछ और ही कहते हैं।”

पिता को जैसे झटका लगा। “क्या कहते हैं वे ईब्यालि! धनसार उनकी आंखों में इतना गड़ने लगा है कि उसके बैंधव से दग्ध होकर वे उसके परिवार ही कलह फैलाना चाहते हैं!”

तीनों पुत्र चूप रहे। अन्त में धनचन्द्राधिप ने कहा, “वे कहते हैं कि श्रेष्ठ धनसार अपने चौथे पुत्र के जन्मोत्सव पर उसके भाइयों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यय करना चाहते थे, जो वैसे अनुचित लगता। इसीलिए उन्होंने ही श्रशोकवाटिका में धन गड़वाकर पज्जा दासी के मुख से यह प्रवाद किलवाया था। अन्यथा ऐसी दासी कौन है जो उस धन को लेकर भाग नहीं जाती?”

पिता के नयन शून्य को देखते रहे। परन्तु मुझे लगा, धरती कांप रही थी। यह सत्य था! क्या यही मेरे भाग्य की छलना थी? परन्तु पिता की शोकग्रस्त मुद्रा देखकर यह विश्वास मुझे हो ही नहीं सका। और पज्जा के लिए दासी शब्द सुनकर मुझे बहुत ही क्रूर लगा। मैं जिसे अम्मा कहता था, उसे ऐसे तिरस्कार से दासी कहा गया था! और जिसके प्रति मेरे हृदय में इतना सम्मान था, उसे इन लोगों ने चोर के रूप में प्रदर्शित किया था। परन्तु विद्रोह मैं कर नहीं सकता था। जानता था, पज्जा अम्मा स्वयं ही मुझे बुरा कहेगी, यदि मैं बड़े भाइयों को जवाब दूँगा। वह क्षण मुझे बहुत ही तीपे शूल-सा गड़ने लगा।

और अत्यन्त कठोर स्वर से धनदेव ने कहा, “हमारी समझ में परिवार में से इतना धन नष्ट करवानेवाला भाग्यहीन है!”

पिता ने देखा और कहा, “धनदेव, तू सबसे अधिक जड़ है। तू उद्दण्ड भी है, अविनीत भी। मेरे धन का स्वामी तू अभी से बन जाना चाहता है?”
“स्वामित्व मुझे असम्भव नहीं पिता!” धनदेव ने कहा, “मैं भी उपर्युक्त

कर सकता हूं, परन्तु आपने मुझे अवसर ही कब दिया ? आप तो अपने कनिष्ठ पुत्र को ही योग्य बना रहे हैं !”

पिता जैसे कुछ नहीं समझ सके । उठ खड़े हुए । और वे घायल-से धूमने लगे । वह पल कितने भारी थे ! पज्जा अम्मां चुप खड़ी थी और मैं घुणा कर रहा था—अपने-आपसे, क्योंकि यह कलह क्यों हुआ था आखिर ? मेरे ही कारण न ?

“पिता !” मैंने कहा था, “मुझे कुछ कहने की आज्ञा है ?”

पिता ने रुक्कर कहा था, “तुम भी मुझपर कुछ आक्षेप करना चाहते हो ?”

“मैं,” मैंने कहा था, “आज्ञा चाहता हूं कि अग्रजों के मुख से रहने के लिए मुझे कहीं भेज दिया जाए ।”

“बौलो !” पिता ने मुड़कर चुनौती देते हुए अग्रजों से कहा ।

परन्तु वे मुस्करा पड़े । उसी व्यंग्य से धनदेव ने कहा, “अवश्य भेज दें ! यहां तो हमें पता चल जाता है, किन्तु निदेश में तो आप इसपर चाहे जितना व्यय कर सकते हैं । हमें क्या पता चल सकेगा ?”

“तीच !” पिता का संयम खो गया । उन्होंने कहा, “वैठे-वैठे खाकर तू मस्त हो गया है । बिना हल कंधों पर घरे बैलों को चराने से आखिर वे आपस में एक-दूसरे को सींग मारने लगते हैं । यदि तेरी माता आज सामने न होती, तो तुझे घर से निकाल देता । परन्तु तूने लांछन लगाया है, इसके लिए मैं आज तुम चारों की परीक्षा लूंगा ।”

पिता बढ़े और एक द्वार में धुसकर चले गए । कुछ देर तक हम देखते ही रहे कि वे फिर लौट आए और उन्होंने कहा, “यह मैं तुम चारों को देता हूं । वरावर का स्वर्ण है । इसे ले जाकर व्यापार करो और इस धन को मुझे लौटा दो । इसकी आय से तुम्हें कुदम्ब के समस्त लोगों को भोजन कराना होगा । मैं जानना चाहता हूं कि मेरे घर में कौन योग्य है, कौन मूर्ख है ।”

“यह क्यों पिता ?” धनचन्द्राधिप ने टोककर कहा, “आप हम तीनों को अलग करते हैं ? हम क्या एकसाथ व्यापार नहीं कर सकते ? हम तीन दिन तक इसी द्रव्य की आय से भोजन करा देंगे !”

पिता की श्रांसों में भयानक प्रतिर्हिसा एक क्षण को भलकी, फिर लुप्त हो गई । उन्होंने स्थिर स्वर से कहा, “यही सही । तो धनकुमार ! अभी तू व्यापार

न कर। तीन दिन बाद मुझसे धन लेकर जाना।”

मैंने धन रख दिया।

“तुम सब जा सकते हो।” पिता ने भारी स्वर से कहा।

मैं अपने प्रकोष्ठ में आ गया।

“पज्जा अम्मां! यह क्या हुआ?”

“यहां होने को था।”

“क्यों?”

“उन्हें भय है कि कहीं पिता तुम्हें अधिक संपत्ति नहीं दे जाएं?”

“वे क्या कहीं जा रहे हैं?”

“अरे तू तो भोला ही है। वे उनके बाद की सोचते हैं!”

मुझे लगा, मैं किसी भयानक अंधकार में घूम रहा हूँ। यह सब क्या है?

किन्तु चौथा दिन आया और मेरे लिए वही समस्या खड़ी हो गई। तीनों व्यापार कर चुके थे और उनको लाभ बहुत कम हुआ। लाभ होने के पहले ही

वे सारे कुदुम्बियों को निमन्त्रण दे आए थे।

जब पज्जा प्रकोष्ठ में आई तब दासियां हँस रही थीं। वे नहीं जानती थीं कि पर्दे के पीछे मैं खड़ा था।

“अरी क्यों हँसती हो?” पज्जा ने मुस्कराकर पूछा।

“मैं तो भोज की याद करके हँसती थी।” यवनी ने कहा, “सारे परिवार में श्रेष्ठ धनसार के वैभव की बात चल रही है।”

“वह भोजन था?” पारसीक दासी ने कहा, “छिः! धनसार के घर ऐसा भोजन! ये तीनों तो इतने बुद्धिमान हैं!”

पज्जा ने काटा, “कुछ पूर्वजन्म में किया था जो ऐसे कुल में जन्म मिल गया। शब्द ईर्ष्या से अपने लिए कांटे ही बोएंगे।”

पज्जा के स्वर में एक विचित्र भय था, मानो वह एक भयानक अंधकार में से सबको चलता हुआ देखा करती थी। उसके सामने यह एक जीवन जैसे कुछ था नहीं। जैसे श्रगले और पिछले के बीच की कड़ी बनाकर ही वह इग जन्म के कर्मों का निरूपण किया करती थी।

किन्तु मुझे जब परीक्षा में उत्तरना ही पड़ा तो पज्जा अम्मां के नयनों ने मुझे उभाड़ा और कहा, “वत्स धन! शब्द तू बड़ा हुआ। तुम्हें तो विजय

होने के कारण व्यापार करना ही होगा । श्रद्धा है, श्रभी से प्रारम्भ कर दे ।"

मैंने कहा, "पज्जे अम्मां ! मैं कौन-सा व्यापार करूँ ?"

"पुत्र ! मैं क्या कहूँ ? इतना जानती हूँ कि व्यापार वही व्यापार है जिसमें किसी दीन-दुःखी को सताना नहीं पड़े, अनुचित रूप से किसीको दबाया न जाए । अन्यथा व्यापार चतुर व्यक्ति का कौशल है ।"

पज्जा अम्मां की बात वहीं रह गई । जब मैं हाट में पहुंचा तो मेरा मन धुक्क-धुक्क कर रहा था । मेरे सामने अध्ययन था, पिता का वैभव था ; परन्तु यह मैं नहीं जानता था कि हाट एक ऐसी जगह है, जिसका पज्जा अम्मां की बात से कोई सम्बन्ध नहीं है । और मुझे लगा कि मेरे भाई इसी बाहर की दुनिया की तरह सोचते थे, जबकि मैं इवर की नहीं सोचता था । परन्तु तभी मुझे पिता का ध्यान आया और तब मुझे स्मरण हुआ कि सम्बन्ध का स्नेह इस व्यापार के ऊपर भी हो सकता है, और उसीके लिए मनुष्य जीवित रहता है । तब वह इतना संकुचित क्यों होता है कि लाभ को अपने, अपने संकुचित परिवार तक सीमित रखता है ? मनुष्य की विवशताओं और आवश्यकताओं को स्वर्ण नापता है और सुवर्ण के हृदय नहीं है, इसलिए हमारा पारस्परिक व्यवहार भी हृदयहीन है । लाभ होता है कौशल से । यही तो पज्जा अम्मां ने कहा था । अपनी आवश्यकता और दूसरे की विवशता का अधिकाधिक ज्ञान ही लाभ का आधार है और इसीके कारण संग्रह भी सम्भव हो पाता है । सदा से लोक में यही होता आया है । राजा कर कैसे लेता है ? उसने सेना बना ली है और दूसरे की विवशता यह है कि वह उस सेना को नहीं जीत सकता, इसीसे कर देना पड़ता है । राजा को उसकी आवश्यकता होती है । किन्तु आवश्यकता प्रजा को भी तो पड़ती है कि आपस में एक-दूसरे को लोग लूट न खाएं, इसलिए राजा हो । विवशता ही आवश्यकता को जन्म देती है । श्रद्धा राजा वही है, जो अपनी आवश्यकता के लिए प्रजा की विवशता का अनुचित लाभ उठाकर अत्याचार नहीं करता । यही व्यापार में भी होना चाहिए । उस समय मेरी शवस्या कम थी । उस बात को आज सात बरस हो गए हैं । मेरी आवश्यकता यी परिवार को भोजन कराने की । यह मेरे आत्मसम्मान का विषय था । पहले मैंने सोना कि दासों की हाट में चलूँ और एक सुन्दर दासी खरीद लाऊँ । सम्भवतः वह बाद में ऊँचे मोल विक जाए ! किन्तु न जाने क्यों, मुझे इस विचार

पर लज्जा हो आई। मान लो, नया स्वामी उससे दुर्ब्यवहार करे। फिर पज़ अम्मां सुनेगी तो क्या कहेगी !

इसी समय मेरे कंधे पर किसीने हाथ रखा। मुड़कर देखा—माणवक कलावस्तु (कलावत्तू) का व्यापारी। उसका पिता बड़ा धनाढ़ी था। माणवक स्वयं घिसा हुआ व्यापारी था।

बोला, “चलो मेरे साथ !”

मैंने अचकचाकर पूछा, “कहाँ ?”

“मैं कुछ माल लेना चाहता हूँ। चलो, बातें करते चलेंगे।”

मैंने उसके साथ चलते हुए कहा, “माणवक ! मैं आज व्यस्त हूँ।”

माणवक ने अपने उत्तरीय को पीछे खिसकाकर कंधे पर धरते हुए कहा, “व्यस्त ? और तुम ?”

फिर वह हंसा। हम लुहारों और सुनारों की दुकानें पार करके वीथिका पर आ गए, जहाँ से एक मार्ग तो रत्नहाट की ओर जाता था, जहाँ कुलीन शागरिक और नागरिकाएं प्रायः पालकियों पर बैठे दोनों ओर की दुकानों में रामान देखते हुए आगे बढ़ते, और दूसरा मार्ग धान्य की मण्डी की ओर जाता था। असंख्य हैं धंधे, मैंने सोचा, कोई अंत ही नहीं। लाक्षा की चूड़ियाँ पर से दुकान पर दीख रही थीं। उधर मदिरा की दुकान थी, जहाँ मैंने श्रधनंगी लिसियों को भूतियों को मदिरा ढालकर पिलाते देखा। रंगशाला में शायद इन होने के कारण रात में होनेवाले नाटक का अभ्यास किया जा रहा था। सीके पीछे के मार्ग पर वारवनिताएं रहती थीं।

लोगों की आवा-जाई के कारण वह मुझे एक ओर ले गया, जहाँ से इंस-विक्रेता की दुकान दीख रही थी। भूतियों के मुकुट देचेनेवाले की दुकान धर ही थी। वहीं अस्त्र-शस्त्रवालों की दुकानें थीं। फिर वह बोला, “व्यस्त ? क्या कहीं किसी सुन्दरी……”

किन्तु मैंने बीच में ही काट दिया और सारी कथा कह सुनाई, जिसे मुन् । वह ठाकर हंसा। बोला, “एक ही दिन में इतना लाभ चाहते हो !”

मैंने कहा, “नहीं तो पिता को तीनों दबा डालेंगे।

वह अपनी पैनी आंखों से क्षण-भर सोचता रहा, फिर उसने कहा, “ऐसा लेकिन धन तो तुम्हारे पास बहुत कम है। मैं कुछ दे दूँ ?”

“यह तो पिता से विश्वासघात होगा !”

“तो मित्र ! तुम्हारा कुटुम्ब भी तो कोई छोटा-मोटा नहीं, और फिर सब ही धनी हैं। उनके अनुरूप भोज कोई सस्ता काम भी तो नहीं है ! फिर भी एक काम है। एक तरकीब बताता हूँ।”

मुझे उजाला-सा दिखाई दिया। मैंने उसकी ओर अत्यन्त जिज्ञासा से देखा।

उसने कहा, “धनकुमार ! उधर की हाट में एक ताम्रलिप्ति का व्यापारी आया है। उसके पास बहुत अच्छा कार्पास का अत्यन्त पतला कपड़ा है। उसमें सुवर्ण के तार हैं। वह प्रत्येक के लिए दस सुवर्णखण्ड मांगता है। निश्चय ही एक ले लो।”

“पर मेरे पास तो एक ही खण्ड है।”

“तुम मुझे विठा दो उसके पास। कहना—स्वामी को दिखला आऊं। मैं वंधक रहूँगा। जे जाकर क्षत्रिय-वास में वेच डालो। इसमें तुम्हें दो खण्ड तो वच ही जाएंगे।”

“देखो माणवक !” मैंने कहा, “मैं तुमसे कुछ ऊँची आशाएं रखता था।”

“जी हाँ ! आप एक के दो पा रहे हैं। अपनी पूँजी भी देखते हो !”

“पूँजी देखता हूँ, तभी तो राय लेता हूँ; अन्यथा पूँजी ही राय देती। तुम दो-चार कपड़िका कमवाना चाहते हो। मैं ऐसी टुट्पूंजिया सलाह नहीं चाहता।”

“अच्छा !” माणवक ने कहा, “तो फिर ऐसा करो। मैं एक सिन्धु के कारीगर को जानता हूँ, अभी ही आया है। एक पीतल का ग्रच्छा-सा सिंगार-दान इस सुवर्णखण्ड से खरीदो। उस सिन्धुवासी में सोने का मुलम्मा करने का वह कौशल है कि पूँछो मत। जब तक तपाकर न देखा जाए, तब तक पहचानना असम्भव है। उसे ले जाओ और वेश्याओं की हाट में जा वैठो। वहाँ जब प्रेमी आएं, तो किसीको वेश्या के सामने दिखाकर कहना कि वह तो इनके योग्य है।

अवश्य ही प्रेमी मना करेगा और वेश्या हठ करेगी। विना परख के माल ले लिया जाएगा। तुम्हें काफी लाभ हो जाएगा। वस, इतनी जल्दी और कुछ नहीं हो सकता।

“लेकिन !” मैंने कहा, “यह वैईमानी है। वस्तु का मूल्य अधिक लेना

व्यापार है, न कि नकली वस्तु बेचना।”

“श्रोहो! माणवक ने कहा, “तो इस सारी हाट में इमानदारी है? तोल का फरक नहीं चलता? व्यापारी बाहर से लाते हैं तो महंगा बेचते हैं। उसीको और महंगा नहीं बेचा जाता?”

“वह और बात है,” मैंने कहा, “व्यापारी को खर्चा पड़ता है, एक राज्य से दूसरे राज्य में जाते समय जो बन पड़ते हैं, उनमें डाकू होते हैं। जान पर खेलकर यात्रा करनी पड़ती है। फिर जो जहां नहीं है। उसे वह पहुंचाता है; तभी लाभ उसका अधिकार होता है।”

“तो,” माणवक ने कहा, “तुम व्यापार कर चुके!”

मैं उदास हो गया।

माणवक ने कहा, “अच्छा, मैं और सोचता हूँ। अब चलते चलो। मुझे वणिक ईश्वरदत्त के यहां कुछ काम है। तनिक बातें करता चलूँगा। तुम दो पल बैठना, फिर तथ्य करेंगे।”

हम नाग देवता के मंदिर के पीछे होते हुए, फूलवालों के रास्ते से होकर यक्ष के चैत्य के आगे से निकलकर, फिर ऊनी कपड़ों की हाट में आ गए, जहां से ईश्वरदत्त की दुकान दिखाई दे रही थी। पदिच्चम की तरह छोटी लोगों की श्रेणी कारखाने में काम में लगी थी और एक मोटा-सा वैश्य बैठ ग्रापनी गंजी खोपड़ी को खुजा रहा था और सामने बैठे एक क्रीट के निवासी म्लेच्छ व्यापारी से बातें करता जाता था। उस म्लेच्छ के बस्त्र विचित्र थे।

जब हम ईश्वरदत्त के पास पहुंचे, वह व्यस्त बैठा था। बुद्ध शायद कम देखने लगा था। उसके हाथ में एक लम्बा कपड़ा था। मैंने उसके ऊपर-नीचे काठ के गोल ढंडों से समझ लिया कि यह कोई पत्र पढ़ने में लगा है।

“प्रणाम पितृव्य!” माणवक ने कहा।

बृद्ध को सम्मान के कारण ही पितृव्य कहा था उसने।

मैं उसके सामने पांव नीचे लटकाकर बैठ गया।

“अरे कौन? श्रेष्ठ माणवक!” ईश्वरदत्त ने पत्र को मोड़ते हुए कहा।

“आओ, आओ! कहो कैसे कष्ट किया?”

“आपने कहा था कि क्षोम और गंघद्रव्य हमें देंगे। वह काम श्रभी नहीं हुआ?”

“हो जाएगा !” ईश्वरदत्त ने सिर हिलाकर कहा । उसका सिर ही नहीं, विशाल पेट भी हिल उठा । वह सुनहले तारों से मण्डित उत्तरीय छहने था । उसकी हथीदांत-जड़ी पालकी सामने एक किनारे रखी थी, जिसके पास उसके आठ दास बैठे थे ।

“आपने हमें आश्वासन दिया है । आपका सार्थ कव तक आएगा ?”

ईश्वरदत्त ने कहा, “कल तक ।” और रहस्य-भरी हल्लि चुपचाप पत्र पर डाली ।

मुझे कौतूहल हुआ, परन्तु मैंने कहा कुछ नहीं ।

“अच्छा,” माणवक ने कहा, “मैं यह प्रतिज्ञापत्र तैयार कर लाया हूँ । आप इसे देख लें । मैं जाकर एक लक्ष रजत मुद्रा भेजता हूँ । माल आते ही हमारा है ।”

“अरे माल तो बहुत है ।” ईश्वरदत्त ने सिर हिलाकर कहा ।

“तो जो हम चाहते हैं, उसका ही तो मूल्य देंगे ।”

“हाँ, ठीक है श्रेष्ठ माणवक । प्रतिज्ञापत्र ठीक है । मैं तो कई श्रेष्ठियों से प्रतिज्ञावद्ध हो चुका हूँ ।” और उसने फिर उसी पत्र को देखा ।

“तो मैं आश्वस्त हुआ,” माणवक ने कहा और मुझसे कहा, “तुम ठहरो, मैं श्रभी बल्लभ से जरा और बातें कर लूँ ।”

बल्लभ का नाम सुन ईश्वरदत्त ने कहा, “चले जाओ । दुनकर श्रेणी की ओर है । भीतर है ।”

वह चला गया । तब ईश्वरदत्त फिर पत्र खोलकर देखने लगा । मैं सामने बैठा था । बृद्ध ने कम दिखने के कारण पत्र को धूप में कर लिया था । न जाने क्यों मैं उसकी रहस्यमय मुस्कान का स्मरण करके उसका वह पत्र पढ़ने लगा । मेरी ओर से अध्यर उलटे थे । किन्तु ब्राह्मीलिपि का मैंने काफी अभ्यास किया था । मैंने धीरे-धीरे सब पढ़ लिया—हमारा सार्थ डाकुओं ने लूट ड़ला है, ररन्तु भरुकच्छ का एक सार्थवाह आ रहा है; पत्रवाहक जिस दिन पहुँचेगा उसके तीसरे दिन वह भी पहुँचेगा । उसका धन समाप्त हो चुका है, अतः वह तस्ते ही बेच देगा । उसके पास प्रायः वही वस्तु है जोकि हमारे सार्थ में थी । उसे रारीद लें और ग्रपना बचन हाट में निर्वाह करें, अन्यथा मार्ग नहीं है । मैंने दिन-रात घोड़ों पर यात्रा की है, तभी इतनी शीघ्र आ सका हूँ । वह नगर

के उत्तर द्वार पर पहुँचेगा । भरकच्छ का व्यापारी सौवीर है ।

अभी बृद्ध पढ़ ही रहा था कि माणवक आ गया और बोला, “चलो । अच पितृव्य प्रणाम !”

बृद्ध ईश्वरदत्त ने सिर हिला दिया और उसके होठों पर भूठी मुस्कान : खेल गई ।

मैं जब चला तो मेरा मस्तक खलबला रहा था ।

चतुष्पथ पर आकर माणवक ने कहा, “तो मित्र ! फिर क्या करोगे ?”

मैंने कहा, “अभी तो घर जाता हूँ । फिर तुम्हारी दूकान आऊंगा ।”

माणवक ने अत्यन्त निराशा से मेरी ओर देखा, जैसे तुम क्या व्यापा करोगे !

घर आने पर मुझे दास सुलक ने कहा, “कुमार ! आप कहां गए थे ? भोजन भी नहीं किया ?”

“हाँ”, मैंने अश्वशाला की ओर जाते हुए कहा, “अभी लौटकर करूँगा सब काम । तू जाकर पञ्जा अम्मा से कह दे । उससे कह दे कि वह खा ले ।”

मैंने एक श्वेत धोड़ा खोला और पथ के बाहर आते ही धोड़ा उत्तर द्वार की ओर दौड़ा दिया ।

उस समय मेरे मस्तिष्क में तरह-तरह के विचार टकरा रहे थे । भरकच्छ का सौवीर व्यापारी उत्तर द्वार पर ही आएगा ! ईश्वरदत्त ने कई लोगों को अपने सार्थ के आने की आशा में वायदा कर लिया है । यदि वह समय पर माल न दे सका, तो दिवालिया समझा जाएगा । हाट से उसकी साख उठ जाएगी । उधर उसका सार्थ भी लुट चुका है । उसकी घवराहट इतनी बढ़ गई कि उसने धोड़े पर मारामार अपना आदमी भेजा, जिसने भरकच्छ के व्यापारी को इधर भेज दिया है । सौवीर का भी धन बीत चुका है । ऐसी श्रवस्था में वह नी इधर भेज दिया । सौवीर कभी नहीं सकता । ईश्वरदत्त इसमें लाखों का लाभ उठाएगा और मी माल रोक नहीं सकता । ऐसी परिस्थिति में वह इस सार्थ के माल नी खरीदे बिना कभी नहीं छोड़ेगा ।

जब मैं उत्तर द्वार पर पहुँचा, तब वहां कोई भी सार्थ मुझे नहीं दिखाई दिया । आंखों के सामने अंधेरा छा गया । अचानक मुझे ध्यान आया, कहीं एक दिन बाद तो वह नहीं आनेवाला है ?

अभी मैं इसी सोच-विचार में था कि मुझे दूर एक पताका दिखाई दी ।
मैंने उधर ही घोड़ा दौड़ा दिया ।

सौबीर सार्थवाह को पहचानते मुझे देर नहीं लगी, क्योंकि उसका उण्णीश पश्चिमवासियों का सा ही था । मैंने घोड़ा रोककर कहा, “यह सार्थ किसका है ?”

“मेरा है युवक !”

“कहां से आ रहे हो ? भरुकच्छ से ?”

भरुकच्छ से सुनकर वह चकित रह गया ।

मैं घोड़े से उतर पड़ा । मैंने कहा, “तब तुम ही हो वह सौबीर ?”

मेरी वात सुनकर उसे आश्चर्य भी हुआ और शंका भी । किन्तु नगर-द्वार सामने ही दीख रहा था, वहां रक्षक नियुक्त रहते थे, अतः उसे भय नहीं हुआ ।

उसने पूछा, “तुम कौन हो ?”

“इधर आओ !” मैंने उसे पथ के दूसरी ओर ले जाकर एकांत में कहा, “तुम मुझे नहीं जानते सौबीर के वणिक ! परन्तु मैंने तुम्हें रात ही स्वप्न में देखा था । यक्ष ने कहा है मुझसे कि उत्तरद्वार से श्रागे बढ़ने पर तुम्हें एक भरुकच्छ से आता सौबीर सार्थवाह मिलेगा । उसके पास जो कुछ भी माल है वह तुम खरीद लेना, क्योंकि वह इस समय संकट में है । नगर में व्यापारी उसकी चिवशता का अनुचित लाभ उठाकर उसे हानि पहुंचाएंगे । कहो, यह वात ठीक है ?”

मैं जानता था कि प्रायः सौबीर वैश्य यक्षोपासक होते हैं ।

मेरी वात सुनकर वह गद्गद हो गया । उसने मेरे हाथ दबाकर स्नेह से कहा, “यक्ष ! यक्ष ही के कारण मैं वच गया युवक ! इस बार जिस पथ से हम आए हैं, उधर दो सार्यं लुट चुके हैं । पता नहीं, क्यों इतने छोटे-छोटे राज्य हैं ये ! कुछ भी तो नहीं कर पाते । एक राज्य से दूसरे में आते-जाते समय कर लेने को तो ये गणराज्य और एक तंत्रों के राज्य इतने तैयार रहते हैं, किन्तु सीमावर्ती वनों के डाकुओं का कोई प्रवन्ध नहीं करता । उधर विध्य के दक्षिण में तो कुछ पूर्द्धी ही नहीं । कहते हैं, उत्तरापथ में तो मगध और वरस के राजाओं ने अवंती से भी सम्बन्ध जोड़े हैं; कोसल से भी । कैसे भी हो युवक ध्वेष्ठि ! यदि एक विशाल राज्य बन सके और शांति स्थापित हो सके । चारों ओर

ग्रहिंसा हो । ये क्षत्रिय बड़े हिंसक होते हैं ।”

मैंने मौका न चूककर कहा, “हिंसा का उत्तर तो हम वैश्य ही देते हैं सीधीर बच्चु ! वैश्य वैश्य एक हैं । क्षत्रियों के ये गण क्या टिक सकते हैं दासों पर इतना अत्याचार करके ? असंभव ! आओ, यहाँ पथ के किनारे वृक्षों की छाया में बैठें ।”

जब हम बैठ गए, तब मैंने कहा, “अब कहो, कितना माल है, और क्या लोगे ?”

“तुम देख तो लो ।”

“सज्जन का वचन बड़ा है मित्र ! देखा-दिखाया है । मुझे तो यक्ष की आकृति का पालन करना है । मूल्य कहो ।”

“सबका बता दूँ ?”

“सबका मित्र !”

“अच्छा बीस लाख रजतखण्ड दे दो ।”

“बीस लाख ! मित्र ! मेरी अवस्था तो देखो । मित्रता बड़ी है न ? पन्थ रखो ।”

“तुमने माल तो देखा होता …”

“माल से बड़ा वचन है तुम्हारा । कुछ तुम भुगतना, कुछ मैं भुगत लूँगा … बोलो, स्वीकार है ?”

“मेरे क्षौम देखते तो …”

“मेरे आदमी आ रहे हैं पीछे । वे सब मूल्य यहीं ढुका देंगे । तुम इस समय यह स्वर्णखण्ड लो और वायदा करो । बोलो, सीदा हो गया ?”

“वायदा ही हो गया !” सीधीर ने प्रसन्नता से कहा और अपने दूर साड़े साथी की ओर देखकर मुस्कराया, जिसने उसे मुस्कराते देखकर सारे सार्व को आशा दी, “खोल दो पश्चिमों को ।”

मैंने कहा, “मित्र ! भोजन करो तुम लोग । सन्ध्या तक शकट नेकर रे आ जाएंगे, तब तक मैं यहीं जरा लेट लेता हूँ ।” उत्तरीय विद्याकर मैं नेट गया । अब वह तो निश्चन्त चला गया, पर मैं सोचने लगा कि यदि ईश्वरदत्त के सेवक न आएं तो ! यह सीधीर मेरा स्वर्णखण्ड तो ले ही लेगा और अपमानित करेगा सो अलग । जो हो ! एक बार तीर्थकर पार्श्वनाथ को मन ही मन

स्मरण किया और आंखें मूँदकर लेट रहा। ठण्डी हवा ने मेरी पलकें झपका दीं।

जब मेरी आंखें खुलीं, तो मैंने कुछ धीमा कोलाहल-सा सुना।

सीधीर कह रहा था, “श्रव मैं क्या कर सकता हूँ? माल बिक चुका है और साही मिल चुकी है। घनी वहाँ पेड़ के नीचे बैठा अपने सेवकों की प्रतीक्षा कर रहा है। उसके भूत्य ही वाकी रकम लेकर आएंगे। मैं तो हलका हो गया।”

मैं उठकर बैठ गया और अंगड़ाई ली। एक आंख डालते ही मैं समझ गया कि यह आदमी ईश्वरदत्त के ही हैं। मेरी जान में जान आई।

५१] जब मैं घर पहुँचा, घोड़े से उतरते ही मैंने देखा कि प्रतीक्षा-भरे नयनों से पूँजा अम्मां वाहर ढ्योढ़ी में ही खड़ी थी।

मेरी प्रसन्न मुद्रा देखकर भी वह स्टट ही रही।

प्रकोष्ठ में पहुँच मैं चांदी की चौकी पर बैठ गया और वह मेरे जूते खोलने लगी। परन्तु बोली नहीं। मैंने द्वार बन्द कर दिया और किर बैठ गया। मैंने कहा, “पूँजा अम्मां! तूने खाना खा लिया?”

उसने मुँह फेर लिया।

मैंने कहा, “पूँजे अम्मां! देख! यह मैं क्या लाया हूँ!”

पूँजा ने एक बार कनखियों से रुठे मुँह से देखा, किन्तु जब हजिर पड़ी तो मुँह प्रीर आंखें आश्चर्य से खुली रह गईं। रत्नों पर दीपकों का प्रकाश पड़ते ही आंखों को चौंधियानेवाली ज्योति तड़पने लगी।

“कहना नहीं किसीसे!” मैंने धीरे से कहा।

“कहाँ से लाया वत्त धन!”

मैंने सुनाया और कहा, “जब ईश्वरदत्त के लोग मेरे पास आए, तब मैंने पहा कि माल तो मैं ले चुका हूँ। वैसे मुझे तो बेचना ही है। यहाँ कुछ लाभ मिल जाए, तो इतनी मेहनत ही क्यों करूँ? मैं जानता था कि वे खाली हाथ नहीं लौट सकेंगे। एक लास का मुनाफा तय करके मैंने दाम ले लिए और वह मिता का दिया स्वर्णस्पृष्ठ भी।”

१। पूँजा अम्मां ने उठकर मेरी बलैया ली और मुझे छाती से लगा मेरा माथा नूम लिया और मेरे सिर को आंसुओं से भिंगोने लगी।

मैंने कहा, “अम्मां! क्यों रोती है तू? मैं देर से आया इसलिए? तू भी तो भूमी रही है व्यर्य!”

“ओर तू नहीं रहा ?”

“मैं तो व्यापार में लगा था ।”

वह तृप्ति-सी बोली, “खाना खा लो चलकर। पर यह आभूषण लाए हो ?”

“बता दूँ ?”

“अच्छा, मत बताओ ।”

तब मैंने जो कुछ कहा, सुनकर वह बोली, “वत्स धन ! तू कितना अँ है ! तेरा हृदय कितना विशाल है !”

“अभी किसीसे न कहना !”

“भला क्यों कहूँगी मेरे लाल ।”

पिता को मैंने भोजन के बाद जाकर स्वर्णखण्ड लीटा दिया।

पिता ने भूर्जपत्र की पुस्तक रख दी। वह एक नाटक था—रंभा-रावण शिपालोक में मैंने वह नाम पढ़ लिया।

“वत्स ! यह क्यों लौटाता है ?”

“व्यापार कर चुका हूँ। आज्ञानुसार पूँजी वापस कर रहा हूँ।”

“क्या अर्जन किया ?”

मैंने इधर-उधर देखकर निश्चय कर लिया, कोई नहीं था। तब धीरे बोला, “एक लाख !”

पिता को विश्वास नहीं हुआ। बोले, “क्या कहा ?”

“सच कहता हूँ पिता ! एक लाख !”

“झूठा !”

“सच पिता ! यह भोज के लिए एक हजार रखिए। रजतखण्ड है मुद्रांकित !”

“ओर बाकी दिखा !”

“अभी नहीं दिखाऊंगा !”

“क्यों ?”

“श्राप कह देंगे !”

किन्तु पिता नहीं माने, तब आभूषण भी दिखाने पड़े।

“निनानवे हजार के हैं ये तीन जोड़े कंकण !”

“हाँ पिता !”

“क्यों खरीदे हैं ये भला !”

मैंने जब सिर नीचा करके बताया, तो पिता हिल उठे और मैंने जीवन में उन्हें पहली बार विचलित होकर रोते देखा । पता नहीं मेरी बात में ऐसा था ही क्या ? परन्तु कुछ ही देर में वे स्वस्थ हो गए और जिस दृष्टि से उन्होंने मुझे देखा, उसका मैं आज भी वर्णन नहीं कर सकता ! वे शायद बहुत पास थे या बहुत दूर थे, यह मैं निश्चय नहीं कर सका । उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रख-कर कहा, “धनकुमार ! पुत्र ! चिरंजीव हो ! युगान्तर तक तेरी गीरवगरिमा ”खण्ड और प्रोज्ज्वल रहे !”

उनका स्वर थर्रा गया, जैसे गद्गद हो गया था ।

कुछ देर बाद पूछा, “अब बता, कैसे कमाया ?”

मैंने जब बताया, तो वे खूब हँसे और प्रशंसा-भरे नेत्रों से मुझे देखकर कहा, “और वे तीनों मूर्ख अब क्या कहेंगे ?”

“ऐसा न कहें पिता ! वे विक्षुद्ध होंगे !”

“मैं कहता हूं, मेरे पास क्या नहीं है ! विधाता ने सब दिया है । फिर खाएं-पिएं । ईर्ष्या क्यों करते हैं ? अब तू ही देख, जो भोज उन्होंने दिया था, जैसे खाकर क्या परिवार के लोग फिर आएंगे हमारे यहां ? वह हमारी और उनकी मर्यादा के अनुकूल था ?”

मैंने कहा, “मैं उनको लाऊंगा पिता ! घर-घर जाऊंगा, एक-एक को मना लाऊंगा । आप विश्वास रखिए । अभी किसीसे भी नहीं कहें ।”

दूसरे दिन जब भोज हुआ, तब उस उत्सव-आनन्द को देखकर कुटुम्बी जो डर-डरकर आए थे, प्रसन्न हो गए । पायस, दधि, दुर्घ की सामग्रियां, मिष्टान्न और स्वादिष्ट भोजन से उड़ती सुर्गंधि से घर भर गया । उन लोगों के विवश करने पर मुझे गाना पड़ा, जिससे उन्होंने मेरी बड़ी प्रशंसा की ।

आर्यश्रेष्ठ धनिय व्याघ्रशीर्य पिता के विशेष निमन्त्रित मित्र थे । वोले, “मित्र ! आज क्या बात है ?”

“आज मेरे कनिष्ठ पुत्र ने व्यवसाय प्रारम्भ किया है और पहले ही दिन एक लाख कमा कर लाया है ।”

पिता की द्याती गर्व से फूली हुई थी ।

“एक लाख ! श्रेष्ठ ! इसमें विस्मय क्या !” व्याघ्रशीर्य ने कहा,

“कोट्याधीश के यहां लाख लगते हैं, लाख आते हैं।”

“परन्तु मैंने उसे एक स्वर्णखण्ड दिया था और उसने उतनी ही पूंजी एक लाख कमाए हैं।”

कोलाहल मच उठा।

‘कैसे ? कैसे ?’ की पुकार उठ खड़ी हुई।

मैं लाया गया। मैंने कहा, “व्यवसाय भाग्य से होता है। मैंने एक साथ बाह को देखा। बहुमूल्य वस्तु जानकर सरीद लिया सब माल। जानता था, सविक जाएगा। भाग्य से कुछ व्यापारी वहीं आ गए। सार्थवाह मुझसे क्रूकर चुका था। मैंने व्यापारियों से लाभ लेकर वहीं सब माल बेच डाला।”

बड़े भैया धनदत्त, मंझले भैया धनदेव और छोटे भैया धनचन्द्राधिप स्तव बैठे थे। इलायचियां बांट रही थीं। गंध प्रकोष्ठ में फैल रही थी। माँ प्रसन्न थीं पिता भी। सब लोग जा चुके थे। केवल पज्जा श्रम्मां खाने से बची थी। व श्रव घर के समस्त दास-दासियों को खिला रही थी। पिता की यही आज थी। मैंने देखा, वह हमारे प्रकोष्ठ के द्वार के पास ही खड़ी थी।

बड़ी भाभी सुभामा, मंझली भाभी सुमुखी और छोटी भाभी श्रलका म की बगल में बैठी थीं। वे बहुमूल्य रेखामी वस्त्र पहने थीं। कटि पर रत्न-जटित मेखलाएं थीं। उनका वेश अत्यन्त धन-सम्पन्नता का प्रतीक था।

“पज्जे !” माँ ने कहा, “दीप उठा दे।”

पज्जा श्रम्मां ने शिखाएं उठा दी। प्रकोष्ठ में प्रकाश भर गया।

पिता ने मुझे गर्व से देखा और कहा, “पुत्रो ! अपने कनिष्ठ भ्राता को आशीर्वाद दो। उसने कुल का नाम उज्ज्वल किया है।”

“किन्तु,” धनदेव ने कहा, “पिता ! हमने तो अभी एक ही हजार का हिसाब देखा है। लाख में तो निनानवे हजार और होते हैं ! हमें तो सब विश्वास ही नहीं होता !”

“तो,” पिता ने कठोर स्वर से कहा, “यही वयों नहीं कहते कि तुम्हें मही संदेह हो रहा है कि कहीं इस छोटे देटे के गीरव की स्थापना करने को ऐसे एक लाख न दे दिए हों !”

धनदेव ऐसे चूप हो गए, जैसे उनके मन की बात पकड़ी गई हो।

“पूछना जाकर !” पिता ने कहा, “सौबीर व्यापारी, जो भक्ताध्य रो गायं

लेकर आया था, उससे किसने एक सुवर्णखण्ड देकर माल खरीदा और ईश्वरदत्त के भूत्यों ने सारा माल एक लाख का लाभ देकर किससे खरीद लिया ।”

अलका भाभी के मुख से ग्राश्चर्य की ध्वनि निकल गई । भाभी सुमुखी ने मेरी ओर संदेह से देखा । भाभी सुभासा के नयनों में तो मुझे कुछ ईर्षा भी दिखाई पड़ी ।

“पर निन्नानवे हजार कहां गए ?” धनदत्त भैया ने फिर भी टोक ही दिया ।

“पुत्र ! लाकी धन दिखा !” पिता ने आज्ञा दी ।

मैंने बढ़कर कहा, “धन प्रस्तुत है । मैंने कमाया है, अतः मेरी ही इच्छा से वह योग्य स्थान पर जाएगा ।”

और मैंने तीनों जोड़े कंकड़ तीनों भाभियों के चरणों के आगे रखकर दण्डवत् प्रणाम करके कहा, “भाभी ! तुम मेरी माताओं के समान हो । तुम ही मेरी अकिञ्चन भेट स्वीकार करो ।”

पिता के नेत्र फिर भीग गए । माँ ने मुझे जीवन में शायद पहली बार देखा ।

भाभियों को शायद विश्वास नहीं हुआ । तब पञ्जा अम्मा ने उन्हें वे कंकण पहना दिए । कहा, “स्वामिनी वधू ! तैतीस-तैतीस हजार का एक-एक जोड़ है । देवर को श्राशीर्वाद दो ।”

तब उन तीनों के नयनों में आंसू भर आए और उन्होंने मेरे माथे को सूंपा और कहा, “धनकुमार ! तू सचमुच देवता विद्याधर है । तू सदा ही यशस्वी बने ।”

उसके बाद की यादें श्रव में सोचना नहीं चाहता । नहीं जानता कि वह मेरे जीवन की पहली हार थी या जीत ! मैंने कभी यह नहीं सोचा कि मैंने कभी कुछ प्रशंसनीय कार्य किया है । वह भी मैंने वास्तव में स्वार्थ से प्रेरित कार्य किया था कि भाभियों के प्रति मेरा सेवा-भाव देखकर शायद मेरे अग्रज मुरझे द्वेष करना छोड़ दें ! परन्तु क्या वह स्वप्न पूरा हो सका ! नगर में मैं पिल्लात हो गया । ईश्वरदत्त भी मुझे स्नेह और आदर से बिठाने लगा । श्रव मैं धनकुमार नहीं था । मुझे लोग श्रेष्ठ धनकुमार कहते थे । तब मैंने जाना कि संसार में वैश्य के लिए धन ही मुहूर्य था । और मैं सोचता था कि क्या सचमुच धन इतनी बड़ी चीज़ है ? फिर मुझे यह इतना बड़ा क्यों नहीं लगता ?

कारण मनुष्य कैसे ऊँच-नीच हो जाता है ? धन न रहने पर दिवाने पर किस तरह इसी पुरपइठान में श्रेष्ठ सागरदत्त को मैंने अपमानित होते देखा था, वह मुझे याद आता था और मैंने एक दिन पज्जा अम्मां से कहा था, “पज्जे अम्मां ! सागरदत्त क्या सचमुच नगर छोड़ गया ?”

“और वेचारा करता भी क्या ?” पज्जा ने कहा। उसने बातायन खोल दिया। हवा आने लेगी। मैंने कोमल परोंवाले गहे पर बैठते हुए कहा, “अम्मां ! संसार में लोग धन को सबसे बड़ा समझते हैं।”

“तेरी आयु के लोग धन की बात नहीं करते वत्स धन !”

मैंने कहा, “फिर ? आखेट ?”

“आखेट तो क्षत्रियों का क्रूर कर्म ठहरा। वैश्य न जुआ खेलते हैं, न मदिरा पीते हैं। अच्छे वैश्य न मांस खाते हैं, न वेश्यागमन करते हैं।”

“फिर ?”

“परन्तु विवाह तो करते हैं !”

“विवाह ! मैं नहीं करूंगा अम्मां !”

“पज्जा अम्मां जैसे नाराज हो गई।

“क्यों ?”

“मैं नहीं बोलूंगा !”

“अच्छा, कर लूंगा !”

उसके दांत हास्य से चमक उठे।

मैंने फिर कहा, “पर अभी नहीं अम्मा !”

“क्यों ?”

“जब परिवार में शांति आ जाएगी !”

सोचता हूं आज। उस समय परिवार की शांति की बात में सोच रहा था। आज अपनी शांति की सोच रहा हूं। शांति लोक को भी तो चाहिए! वह है कहां? वासना के उद्देश को परिवार शांति देता है, लोक के दुष को देते हैं तीर्थकर! और मन को? धन! धन! धन का तादात्म्य तो बार से ही है न? नहीं वनकुमार! धन का पेट से सम्बन्ध है और आज तुम्हे वर्ण शांति तो चाहिए!

क्या है तेरा आधार अब? इतना समझ पाया हूं कि इस लोक के मनुष्यों

मैं उन्नति का माध्यम बन गया है प्रतिस्पर्धी और आज धन ही इसका उप-
माध्यम है।

मेरे परिश्रम को भाइयों ने दुस्साहस के रूप में उपस्थित किया और कहा
कि यदि ईश्वरदत्त के आदमी न आते तो कितनी बड़ी हानि होती ! पिता
ने कहा, “व्यापार साहस ही है मेरे पुत्रो ! वणिक का साहस क्षत्रिय के साहस
से कहीं अधिक बड़ा होता है। वणिक चतुर क्यों होता है ? क्यों वह अन्यों
की भाँति रुढ़िग्रस्त नहीं बना रहता ? क्यों वह दया और ममता को प्रश्रय
देता है ? मैं बताता हूं अपने धौवन के अनुभवों के आधार पर। वह अज्ञात
घरती पर धूमता है, नये-नये आकाशों के नीचे निराश्रित-सा सोता है। वह
विभिन्न प्रकार के लोगों को देखता है और समझता है कि मनुष्य का वास्त-
विक आधार स्नेह और ममता ही है, क्योंकि वही उसे नहीं मिलता। धन
स्वार्थ है अवश्य, परन्तु सच्चा वणिक मनुष्यत्व के ऊपर लाभ नहीं रखता।”

मैं जानता हूं ऐसा नहीं होता। ममता को खोजनेवाला व्यापारी वास्तव
में बहुत निर्मम होता है। वह प्रायः धन ही से सत्रको अंकता-कूतता है, फिर
भी पिता ने जो आदेश दिया था, वह क्या दुरा था !

परनिन्दा से प्रारम्भ होती है हीनत्व की भावना की विकृत तुलिट और
बढ़ते रहने वी जाए, तो वह अपने ही मन को श्वारे की तरह काटने लगती है।
और इस बार फिर परीक्षा हुई। पिता ने उन तीनों को पांच-पांच स्वर्ण-
खण्ड देकर भेजा और उनके व्यापार का अन्त परिवार के लिए ऐसा रुखा-
सूखा भोज लाया कि मां रोने लगी और पिता ने लज्जा से बाहर आता
अस्थीकार कर दिया। आई मेरी बारी। मुझे झुभलाहट आ रही थी। सोच
रहा था कि यहां रहने से लाभ ही क्या ? परन्तु पिता के नयन और पज्जा
अम्मां का मन क्या मुझे जाने दे सकते थे ? इस बार मैंने निर्णय किया कि
कुछ ऐसा काम करना चाहिए जिससे लाभ तो दूर, हानि हो जाए तो अच्छा !
यह रोज की परेशानी तो दूर हो।

आज मैं माणवक से भी नहीं मिला। मुझे तो काम विगड़ना था। मैं
सोचने लगा कि धन तो नहीं ही कमाना है। पिता का क्रोध है, शान्त हो ही
जाएगा और फिर मैं एकांत जीवन व्यतीत करूँगा। सारा जग आज प्रशंसा
कर रहा है, कल निन्दा करेगा।

और जब मैं शजपथ से हटकर गलियों में चलने लगा, तब मुझे अपनी जाति की लोलुपता दिखाई देने लगी। गली के मकान बहुत गड़े थे। उनके निवासी भी गन्दे थे। ये ये श्रेणियों के मकान। कहीं बुनकर रहते थे, कहीं कलावत्तू के कारीगर। कहीं रंगरेज। और मैंने जिसे गन्दा और धृणित समझा, वह सचमुच हमारे घरों से कितना अलग था! तब मुझे विचार आया कि यह भेद क्यों है? भाग्य के कारण, पूर्वजन्म के फलाफल के कारण? फिर मुझे ध्यान आया कि ये जो कर्मकर हैं, स्वतन्त्र हैं। मेहनत करते हैं, खाते हैं। ये दास नहीं हैं। ये दुस्साहस नहीं करते। लाभ तो साहस से आता है। कमकर जितना काम करता है, उतना पाता है। वैश्यश्रेष्ठ अपना धन भी तो लगाता है। क्या इसका उसे मूल्य नहीं मिलना चाहिए? यों सोचते हुए मैं पशुओं की हाट में निकल गया। पशुओं की हाट मैंने पहले भी देखी थी, परन्तु तब मेरे साथ सेवक रहते थे। आज मैं अकेला था। दो जगह खड़े होते ही मैंने देखा कि यहां लोग एक-दूसरे को पशु-लक्षण नहीं बताते, और काफी गोलमाल चलता है!

मैंने स्वर्णखण्डों को टटोला और अभी मैं सोच ही रहा था कि क्या कह कि मेरी हृष्टि पड़ गई और मैंने तीनों भाइयों को मेरी और देखते हुए पकड़ लिया। ये यहां क्यों आए हैं? हठात् मुझे धृणा ने धेर लिया। ये अब मुझे देखते आए हैं कि मैं क्या करता हूँ। क्या है मेरी बुद्धि? वह क्षण मुझे याद है। उसने मुझमें एक प्रकार की विनम्र प्रतिहिंसा भर दी। मुझे लगा कि मुझे उनका मुह-तोड़ उत्तर देना चाहिए! परन्तु सहसा ही विचार आया, कि मुझे उनका मुह-तोड़ उत्तर देना चाहिए! परन्तु सहसा ही विचार आया, कि मुझे उनका मुह-तोड़ उत्तर देना चाहिए! लेकिन क्यों? भाग्य अज्ञात है। मैं गर्व भी करूँ तो किसपर? लाभ निश्चित है नहीं। तो यही क्यों न दिखाऊँ कि मैं लाभ चाहता ही नहीं। ऐसा क्यों न करूँ कि लाभ नहीं हो, हानि हो। यह मेरा जीवन नष्ट करना चाहते हैं? और! यह क्या करेंगे मेरा जीवन नष्ट! उसे तो स्वयं मैं विगड़ूँगा। ऐसा कि पुरपड़ान चौंककर देखे।

सामने जो देखा तो एक वलिष्ठ मेड़ा बंधा था। मन तरंगित हो गया। उस समय मेरा मन भी उसीकी भाँति विक्षुद्व छोड़ रहा था। मैंने सोचा, वह करूँ जो किसी वैश्य ने नहीं किया। मेड़ा खरीदूँ, मेड़ा लड़ाऊँ। धनियों और शूद्रों, ब्राह्मणों और म्लेच्छों की भाँति तीतर, बटेर, मुर्गे और मेड़े लटाऊँ।

वैश्यों में अपने-ग्राप भेरे प्रति धृणा हो जाएगी। हा-हा-हा... करके मन के भीतर ही भीतर ठहाका लगाकर हँसा। और तब मैंने जो पचुशास्त्र पढ़ा था, उसकी एक-एक वात याद आने लगी। वड़ा ज्वर्दस्त था वह मेड़ा। भेड़ेवाले से कहा, “जानवर बोदा मालूम होता है।”

“अरे तो रहने दो!” भेड़ेवाले ने मूँछों पर हाथ फेरकर कहा, “पुरपइठान के भेड़े एक पांत में खड़े करके लड़ाके देखो।”

“तो,” मैंने कहा, “लड़ भी लेगा यह?”

“अजी हाँ।” उसने अपने भेड़े पर हाथ धरकर कहा, “यह मेरा छौना पत्थर तोड़ दे एक चोट में।” और वह अजीब-सी भन-भन करती हँस-कर बोला, “तुम्हारे नगर में माल की जांच नहीं। बोलो, क्या देते हो?”

“देना क्या है?” न जाने मुंह से कैसे निकला। “यही जरा लड़ाने का शौक था। मगर किस दम पर लैं! किस मुंह से ले जाकर अखाड़े में खड़ा करें इसे! माल हो तो दाम भी दें। यों दाम धरती फेंके भी और घूल उठाके ले चले तो क्या लाभ! हम तो खिलाड़ी हैं। हमारा धन तो जीत-हार है। गोबर फेंकते हैं तो घूल ले के उठता है। बोलो, है यह किस लायक!”

भेड़ेवाले ने कहा, “युवक हो, पर पूरे गांठ के पूरे हो। अच्छा हटाओ, ले लो। बोलो, क्या दे दोगे?”

“यह भी कुछ देने लायक है,” मैंने कहा, “मेरे साथ चलो। पास ही तो अखाड़ा है। दांव लगाता हूँ। लड़ाओ किसीसे। जीत हुई तो सब तुम ले लेना, और हार हुई तो मैं हरजा भरूंगा। मगर एक शर्त है, मूँछें दे जाना मुझे अपनी।”

“तुम्हें लेना ही नहीं है।”

“ओहो, यह योंही लिए फिरते हैं?”

कहकर मैंने कुछ स्वर्णखण्ड दिखलाए। वह अब दबकर वारें करने लगा। अन्त में मैंने मेड़ा ले लिया और उसे दो खण्ड दे दिए।

वह ऐसा प्रसन्न हुआ कि पूछो नहीं।

जब मैं मेड़ा साय लिए अखाड़े में पहुँचा, तो भीड़ लगी थी। मैंने भेड़ा अन्य पशुओं के साथ पशु-रक्षक के पास खड़ा किया और भीड़ में छुस गया।

भीड़ में छुसते ही मेरा सिर उस कोलाहल से फटने लगा। और कमाल

तो मुझे तब लगा, जब मैंने मनुष्यों को पशुओं से भी श्रद्धिक पागल होते हुए देखा। दो मेड़ लड़ रहे थे और दोनों और से उनके स्वामी और उनके साथ इसी तरह चिल्लाकर, कूद-कूदकर, उछल-उछलकर उन्हें बढ़ावा दे रहे थे कि मैं यह नहीं समझ सका कि असल में लड़ कौन रहे हैं, पशु या मनुष्य

“ओय आगे बढ़कर……”

“जय ! पुत्र ! जय……”

“हिक्का हिक्का……”

भट्ट ! भट्ट !—सींगों के टकराने से आवाज उठती और फिर एक मेड़ दूसरे को पीछे हटाता ले जाता और एक और की सांसें खिच जातीं, दूसर पक्ष चिल्लाता और फिर धण-भर बाद ही पासा पलटता कि निस्तव्य पक्ष रे गननभेदी निनाद फूट निकलता।

वह आदमी, जो बहुमूल्य वस्त्र पहने पागल-सा चिल्ला रहा था, मुझे यह अत्यन्त आश्चर्य हुआ, स्वयं पुरपटान का राजकुमार अरिमद्दन था, जिसके पशु-प्रेम की कहानियां दन्तकथाओं के रूप में प्रचलित थीं। क्षत्रिय को तो आवेश चाहिए। युद्ध नहीं है तो आखेट ! आखेट नहीं है तो सिहयुद्ध, हस्तियुद्ध, और मेषयुद्ध और जरा बुढ़ापा छाया कि बटेर, तीतर, मुर्गा लड़ाने लगा। मैं भीड़ के बाहर आ गया। एक व्यक्ति अत्यन्त उदास खड़ा था। उसकी स्त्री रो-रोकर कह रही थी, “अरे मूर्ख ! तू जूए में पर खो बैठा था तब मैं चुप रही, अब तो तूने सब कुछ खो दिया। उन बच्चों का मैं क्या करूँ ? तू भी नया कोई कुलीन राजन्य था। अरे धनियों के खेल गरीबों के लिए काल होते हैं। किसी श्रेणी में बैठता तो आज कुछ कमाता होता, तेरे बच्चे पथ पर भीय तो नहीं मांगते !”

और वह ऐसा खड़ा था, जैसे कोई मुर्दा हो। मैंने देखा, कोप उत्पाद चढ़ने लगा और तब उसने दोनों हाथों से अपना सिर पीट लिया और बाल नोचता हुआ एक और भाग चला। स्त्री उसके पीछे भागने लगी और फिर आती भीड़ ने सब ढक लिया। अचानक घोर कोलाहल हुया और मैं भीड़ में घुस गया।

अरिमद्दन का मेड़ हार गया था। और एक साथ रजत मुद्राओं कित गण्ड वह हार चुका था। मगर वाह रे क्षत्रिय ! उसके चेहरे पर जरा सिनवट भी

तो पड़ी हो ! थोड़ी देर पहले जौ पागलों का सा उछल-कूद रहा था, अब फिर उसमें राजन्य-गांभीर्य आ गया था और वह अपने मेषपालक भृत्य से कुछ कह रहा था ।

मैंने बढ़कर कहा, “देव ! आपकी पराजय से मुझे बहुत खेद हुआ ।”

“खेद !” राजकुमार ने अपनी जांघ पर हाथ मारकर कहा, “जीत-हार में खेद किसलिए ?” फिर स्वर बदलकर कहा, “क्या बताऊं ! पुरपइठान में मेरे योग्य मेड़ा ही नहीं !”

मैंने कहा, “सो न कहें राजकुमार !”

“क्यों ?”

“मेरा मेड़ा देखके कहिए । वह हार जाए तो शर्त है ।”

“क्या शर्त है ?” राजकुमार ने बिना विचित्रित हुए पूछा । मैंने अचकचा-कर कहा, “शर्त ? आप लड़ाइए । वाजी दो लाख की । देखें किसका मेड़ा आता है । जीते तो धन आपका, हारे तो हार मेरी ; मुगतूंगा ।”

“वाह रे धनकुमार !” भीड़ में से किसीने कहा, “तूने भी श्रंबिधनसार का नाम चमका दिया ।”

कोई देखे न देखे, मैंने धनदेव का स्वर स्पष्ट पहचान लिया ।

परन्तु मैंने ध्यान भी नहीं दिया ।

अब और क्या कहूं ! वे क्षण आए कि मेड़े हूटे, टकराए, और अब मैं भी उछलने-कूदने लगा । न जाने क्यों, मुझे भी आवेश हो आया ।

जब मेरा मेड़ा जीता तो राजकुमार ने मुझे हाथों पर उठा-लिया और ‘धनकुमार की जय’ से सारा मैदान भर गया ।

“ले लो धनकुमार, सब ले लो !” राजकुमार ने पुलककर कहा, “तुम्हारा नाम पहले भी सुन चुका हूं । तुम धन्य हो । आज से तुम मेरे मित्र हुए । दो लाख ले लो, मेड़ा मुझे दे दो ।”

मैंने कहा, “राजकुमार ! मेरी-आपकी मित्रता कैसी ? आप स्वामी हैं, मैं प्रजा हूं । परन्तु आपने जब इतना गौरव दिया है, तो अकिञ्चन होने पर भी प्रयत्न यही करूंगा कि आपकी महानता में बटा नहीं लगने दूं । मेरी हैसियत ही यथा है जो लेने-देने का स्वांग करूं ! आपने जब मित्र ही बना लिया, तो मित्र का सब कुछ मित्र का है । धन भी आप लें, और मेड़ा भी ले लें ।”

तभी धनदेव की शक्ति मुझे भीड़ में दिखाई दी। उसपर तिरस्कार था। स्पष्ट ही जो कुछ मैं कह रहा था, वह वैश्यों के लिए निदित था।

राजकुमार ने मुझे छाती से लगाकर कहा, “धनकुमार! तब हम मिश्र हुए। पर मैं लेता ही रहूँ, दूँ कुछ नहीं—तो मिश्रता बया रही! बोलो, आज सौगात के रूप में कुछ तो ले लो! दोनों लाख तुम्हारे तो निश्चय हैं ही, और भी कुछ मांगो!”

“देंगे राजन्?” मैंने पूछा।

“प्रतिश्रुत तो हो ही चुका!”

“तो फिर दें। प्रजा को अनुकरण। जैसा राजा, वैसी प्रजा। आज से मनोरंजन में जुआ बन्द!”

राजकुमार ने मेरी ओर देखा और घूरते रहे और तब भीड़ की ओर देखा। कई दरिद्र थे। राजन्य के नयन कांपे और फिर उसने कहा, “प्रतिज्ञा करता हूँ।”

मैं चिल्लाया, “राजकुमार अरिमदंन की……”

भीड़ चिल्लाइ, “जय!”

परन्तु सायंकाल मैंने देखा कि भाई नतगीव थे, छटपटाते-से। पिता से मुझे कहने नहीं जाना पड़ा। प्रवाह की तरह बात घर, गवाक्ष, कोने में, नगर-भर में भर चुकी थी। दो हजार का भोज तो परिवारवालों को मिला ही। एक सौ अट्ठानवे हजार का माल—वस्त्र-भूषण पाकर भाभियां तो विद्धल-विद्धल गई ही, और वैश्यों में मेरे गुणगान तो उठे ही, परन्तु पज्जा श्रम्मां ने कहा, “वत्स धन! एक बात पूछँ?”

“पूछ श्रम्मां!”

“यह धन वड़ा अनमोल होता है। भाग्य कभी कभी देता है। इसका संचय करना चाहिए। कभी दुर्भाग्य हो तो काम आता है।”

मैंने कहा, “श्रम्मां! दुर्भाग्य अर्जन पर ही नहीं, संचय पर भी आता है। धरा भी निकल जाता है। तूने ही तो कहा था कि देने के लिए हृदय बहुत विशाल होना चाहिए। उसीसे दूसरा जन्म सुधरता है।”

वह कुछ नहीं कह सकी।

तब मैंने कहा, “श्रम्मां! सबसे द्यिपाता हूँ, पर तुमसे सच बहूंगा।”

अम्मा ने मेरी ओर देखा ।

मैंने कहा, “जानती है, मैं वह धन भाभियों को क्यों देता हूँ ?”

“जानती हूँ कि वे तुम्हारे भाइयों को तुम्हारे प्रति अनुकूल बना सकें ।”

“नहीं, वह नहीं होने की वात है। दूसरा कारण है ।”

“वह क्या ?”

“कि ईर्ष्या में जब मनुष्य की निरंतर पराजय होती है, तब वह विवेक खो देता है । ऐसे किसी क्षण में जो वह भयानक कार्य करने की सोच लेता है, उस समय की सूचना मुझे भाभियों से बढ़कर कौन दे सकता है ? वे मेरी प्रशंसा करती थीं, सो मैंने उन्हें समझाकर रोक दिया है । उनके मुख से मेरी प्रशंसा आग बुझाती नहीं, भड़काती है । अतः वे बुराई करें तो भाई उनसे अपनी गुप्त योजनाएं छिपाएंगे नहीं । वह मेरे लिए अच्छा होगा न अम्मा ! भाभियां मेरी बुराई करें तो बुरा न मानना तुम । वे सब मेरी ओर हैं । परन्तु कुछ भी हो, स्त्री का अंत पति में है अम्मा ! वे इससे अधिक कुछ कर भी नहीं सकतीं ।”

पञ्जा ने सिर हिलाकर कहा, “अलग हो जाओ न वत्स धन ! धन कपाना क्या तुम नहीं जानते ?”

“वह कठिन नहीं, पर पिता को जो दुःख होगा !”

“वे मुझसे कहते थे कि मेरा कनिष्ठ पुत्र अलग रहे, तो उसे यह संकट तो न रहेगा ।”

“फिर लोक क्या कहेगा ? पिता के रहते पुत्र अलग हो गया । मेरे आगे-पीछे ही ही क्या ?”

“तो विवाह नहीं करोगे ?”

“नहीं पञ्जे ! स्त्री आएगी तो मुझे यह सब सचमुच ही संकट-सा लगने लगेगा । अभी तो कोई भार नहीं लगता ।”

पञ्जा ने सिर हिलाकर मुँह बनाया और कहा, “वे तो मूर्ख हैं तीनों । कुटिल भी हैं । उनके पीछे तुम अपना जीवन क्यों नष्ट करो ? घनी तो भाग्यवान् ही होगा ।”

“धन और भाग्य मिले हैं अम्मा ? तो जो तीर्थकर थे घनी कहां थे ! वे तो भाग्यवान् थे न ?”

“प्राह पुत्र ! वे और लोग होते हैं । वे संसारी कहां होते हैं !”

तब मैं सोचने लगा कि संसार का कल्याण करते हैं तीर्थकर, फिर संसारी होने का ग्रथ लगाया जाता है निचले स्तर पर रहना ! ऐसा क्यों है ? क्या संसार में रहने के लिए सफल बनकर रहने के लिए चतुराई के दि काम चल सकता है ? परन्तु यह चतुराई ! आखिर इसका मोल वया है लाभ ! लाभ से मिलते हैं ऐहिक सुख । पर क्या ऐहिक सुख ही सब कुछ है ? : सबको त्यागने से जो शान्ति मिलती है, वही तो श्लाघ्य है । तब मेरे भी ही कुछ बोल उठा—धनकुमार त्याग, किसका ? पहले यह तो हो कि तू सकता है । पाए को त्यागने में यश है । विना पाए ही उद्योगहीन होम छोड़ने में क्या यश ? यश ! यश तो अहं की तृप्ति है । परन्तु त्याग विना का वास्तविकता है ? अपने को पता कैसे चलेगा कि वस्तु के प्रति वासना क्या है जब छोड़ेगा तभी तो जानेगा । छोड़ेगा कहां से, जब होगा ही नहीं ? तब छोड़े के पहले पाना होगा । पाने के लिए कर्म करना होगा । कर्म से प्राप्ति होगी और प्राप्ति को त्यागकर अपना साहस देखना होगा । केसा चक्र है अद्भुत और सच ही तो है । दारिद्र्य से अनेक घर छोड़कर मूँड मुँडाए तरह-तरह की साधनाएं करते ढोलते हैं । उन्हें कौन पूछता है ? सभी ही तो ऐसे नहीं होते । तो क्या मैं भी वैसा ही हो जाऊँ ?

“अम्मां !” मैंने कहा, “मुनि होने के लिए क्या यह सब ठीक है ?”

भय से विजड़ित हो गई पज्जा ।

कहा, “पुत्र ! ऐसा नहीं सोचते । तेरी काया सोने की सी है । तू नहीं जानता, तू कितना सुन्दर है ! इस सोने जैसे हूप में तेरा हृदय सुहागा है । शृहस्थ-धर्म में रह । बुढ़ापे में ही ऐसी वात कर ।”

“जब वासनाएं चुक जाएं ?”

पज्जा हँसी और कहा, “पुत्र ! वासना यौवन में नहीं सताती । वह अगले में बुढ़ापे में सताती है । उसी समय इसे जीतना चाहिए ।”

वह मैंने अजीव-सी जो बात सुनी सो मेरे भीतर धूमती रह गई ।

एक वर्ष बिलकुल शान्ति से बीत गया । मां ने कहा, विवाह की वात भाभियों ने भी उठाई, परन्तु मैंने नहीं स्वीकार किया । पज्जा ने भी कई दिन तक वान नहीं की, किन्तु मुझे आश्चर्य हुआ कि पिता ने इस विषय में मुझसे नहीं कहा ।

माणवक से मुझे पता चला कि एक बार उसके पिता की मेरे पिता से बातचीत हुई ।

माणवक के पिता ने कहा, “पुत्र युवक हो गया है मित्र ! विवाह क्यों नहीं कर देते ?”

पिता ने कहा, “मेरा पुत्र स्वयं विचारवान है । वह कभी कोई अनुचित करेगा, इसका मुझे विश्वास क्या कल्पना भी नहीं होती ।”

“विवेक और है यौवन और बात है मित्र !”

“यही तो उसमें आश्चर्य है कि यौवन में भी उसमें विवेक है ।”

“कहीं बाद में दुःख न हो ।”

“भारत जब चाहता है, तब विवाहित भी दुश्चरित्र बनते हैं । शायद नगर में ही उदाहरण हैं और तुम मुझसे उनके बारे में कुछ न पूछोगे ।”

माणवक के पिता ने सोचा कि वर्ष क्यों बात बढ़ाई जाए ।

किन्तु मैंने अनुभव किया कि पिता की यह आशा मेरे लिए एक नये नियमन का आधार बन गई । अब मेरे साथ राजकुमार की मित्रता के कारण ऐसी स्थाति वंथ गई थी कि मेरा अहं उस सबको करते हिचकने लगा, जो मेरी स्वकलिप्त मर्यादा के विरुद्ध था । पता नहीं इसमें कितनी मेरी हानि हुई, परन्तु एक सीमा तक अनुभव करता हूं कि यौवन के सहज रस को मैंने अहं के पापाणों में बन्द कर दिया और इससे मैं भले ही विनम्र अधिक हो गया, परन्तु एक प्रकार का सूनापन मेरे भीतर समाने लगा, और जीवन के प्रति निराशा अधिक जागने लगी । इसे देखनेवाला पञ्जा अम्मां के अतिरिक्त कोई नहीं था । और तब मैंने यह अनुभव किया, एक के सुख-दुःख से वही सहानुभूति रखता है, जो उसके बहुत पास है । वाकी संग उठ-बैठकर, हंस-खेलकर भी हम असल में एक-दूसरे की वास्तविकता नहीं जानते और इसीलिए उनके जन्म-मरण में भी हमारी सन्निहिति अधिक नहीं रहती । मुझमा भाभी वड़ी थीं । प्रायः अपने हाथ से मेरे लिए कुछ न कुछ बनाकर लाती थीं । मुझे खिलातीं । मेरे मनोभाव जानने की चेष्टा करतीं ।

“तुम्हारे पिता !” वे कहतीं, “कहते थे तुम्हारे भाइयों से कि जीवन-भर मेरे घल पर साग्रो, और फिर छोटा भाई है ही, वह संभाल लेगा ।”

“ऐसा क्यों कहा भाभी ! कौन पुरुष अपने को हेठा मानने को तैयार होगा ?”

“पर देवर ! सच क्या छिपता है ? तुम्हारे भैया पूछते थे मुझसे कि तेरा देवर अच्छा तो है ?—मैंने कहा, ‘मैं क्या जानूँ ? मुझसे सीधे मुँह बात नहीं करता ।’—कहते थे, ‘इतना तो उसने तुम्हें दिया ।’—मैंने कहा, ‘वह तो तुम्हें नीचा दिखाने को किया उसने ।’”

“अच्छा ! अभी गुस्सा ठंडा नहीं हुआ उनका ?”

“सुनते चलो ! अभी क्या है !”

पज्जा अम्मा ने कहा, “वधू ! तुम सौभाग्यवती हो । यह तुम्हारे पुत्र जैसा ही है ।”

“जानती हूँ । पर कहूँ क्या ?” भाभी ने आँखें पोंछ लीं। “झगड़ा फिर शुरू हो गया है ।”

भाभी की बात सच निकली । परन्तु इस बार तीनों भाइयों को परिवार को रुखा-सूखा भोज देने की भी नौवत नहीं आई । उन्होंने पिता से धन लिया और कंपड़ा खरीदकर बेचने वैठे । हाट के कौने पर नट आए थे । एक रोल देखने चला गया, एक दूसरे काम से निकल गया, तीसरा भंग पीकर गठरी के पास बैठा नशे में झूमता रहा । कोई गठरी लेकर चंपत हो गया ।

और तब मेरी बारी आई । वे कहते रहे कि व्यापार मीके की बात है । फिर कभी दांव आएगा ।

रात को पिता ने मुझे बुलाकर दस खण्ड स्वर्ण दिए और कहा, “पुत्र, एक बार और ! और अन्तिम बार ।”

आज्ञा शिरोधार्य कर मैं अपने प्रकोष्ठ में लौट आया । पज्जा अम्मा ने मेरे लिए सूखे खजूर खाने को सामने रखे और कहा, “पुत्र, तूने सुना ?”

“क्या अम्मा ?”

“श्रेष्ठ शक्टदास मर गया ।”

“कौन ? वह कृपण !”

“हाँ, वही कंजूस ।”

“बुड्ढा तो था ही ।”

“बुड्ढा था, मगर मरते समय भी बैश्यों के ऊपर पुकवा गया ।”

“सो क्यों अम्मां ?”

पञ्जा ने पलकें जरा फैला दीं और हाथ की कुहनी मुड़े घुटने पर रखकर कहा, “सारा धन छिपा गया ।”

“क्यों, लड़के को नहीं दे गया ?”

“अरे दिया क्यों नहीं ? पर उसके पास तो बहुत बताया जाता था । अन्त में उसका दिमाग ही फिर गया । भला कोई बात है कि मरते से उसे ऐसा डर चला । यों चिल्लाता रहा, ‘हाय ! यह खाट मुझसे छूट जाएगी । हाय ! यह खाट अब मुझसे छूट जाएगी !’ ”

मैं हँसा । कहा, “खाट छूट जाएगी ?”

“भला बताओ ! खाट का रोना लगाया उसने । सब कुछ जा रहा था, सो कुछ नहीं । विशेषता क्या थी ? खाट पर जीवन-भर सोया था । यी वह बड़ी सुन्दर ! मगर आदमी भी कैसा विचित्र होता है ! खाट लाया था गोदावरी-तीर के किसी नमर से । उससे इतना मोह ? वेटों से नहीं, पत्नी से नहीं ।”

सच ! यह मनुष्य है ही विचित्र । इसकी ममता जाकर कहां अटकेगी, इसे कौन जानता है ?

पञ्जा ने फिर कहा, “मरते बत बोला, ‘खाट मेरे साथ मरघट ले जलना ।’ ले गए लड़के । खाट जलाने को हुए तो चाण्डाल ने कहा, ‘यह नहीं जलाने दूंगा । शव का सामान मेरा सामान है ।’ तब चाण्डाल के पास पहुंची वह खाट । पुत्र भी न सो पाए उसपर ।”

मैंने सुना और भूल गया ।

दूसरे दिन व्यापार पर निकला । अभी मैं लकड़ी के सामानोंवाली हाट से निकल रहा था कि एक ब्राह्मण का स्वर सुनाई दिया, “दूर रह चाण्डाल ! दूर रह !”

मैंने देखा, एक चाण्डाल सिर पर खाट उठाए चला आ रहा था ।

मुझे अचानक ही याद आ गया । ब्राह्मण एक और को बढ़वड़ाता निकल गया, “अरे यह वेश्यों का ही उपद्रव है । क्षत्रिय तो थे ही । अब यह भी बढ़ चले । चाण्डाल ऐसे मुक्त चल रहा है !”

“क्या कहते हैं भूसुर !” एक मसखरे मगर हट्टे-कट्टे व्यापारी मद्र ने कहा,

“हमारी तरफ तो ब्राह्मण विष्णु-मंदिरों में चाण्डालों के कंधे से कंधा भिड़ा प्रवेश करते हैं।”

ब्राह्मण भुनभुनाता मगर धीर पग रखता चला गया, जैसे वह विक्षु प्रलय था।

चाण्डाल ने खाट रख दी।

“खाट लोगे?” उसने कारीगर से पूछा।

शिल्पी हँसा और बोला, “किसकी खाट है? शकटदास की?”
मैं रुक गया।

तभी मैंने देखा कि मेरे भाई मेरा छिपकर पीछा करते हुए आ रहे थे मुझे मसखरापन सूझा। मैंने मन ही मन कहा, ‘देखो, शकटदास की घटा कितनी प्रसिद्ध हो गई।’

चाण्डाल ने कहा, “हां उसीकी है।”

“तो ले जा।” शिल्पी ने कहा, “इसे यहां कौन लेगा? मरघट की खा पर सोएगा कौन?”

मैंने कहा, “क्या है यह? मरघट की खाट है? इसे मैं लूँगा।”

“धनकुमार!” शिल्पी ने कहा, “क्या करोगे इसका?”

मुझे सब जानते थे। भीड़ इकट्ठी हो गई। धनदेव, धनदत्त और धन चन्द्रधिप भी आ गए।

मैंने कहा, “यह खाट मुझे चाहिए चाण्डाल! देगा?”

वह समझा, मैं मजाक कर रहा हूँ।

उसने कहा, “आप श्रेष्ठ! मैं गरीब आदमी हूँ। मुझसे मजाक करते हैं?”

मैंने कहा, “चाण्डाल! तू गरीब नहीं। तू गुरु है, पर लोग तुम्हारे विद्या नहीं लेते। शकटदास के लोभ की इति का इतिहास यह खाट है, जिसके पारण बच्चा-बच्चा आज हँस रहा है। इसे मैं सामने रखूँगा कि मेरा मन इस व्यापार का अन्त जानता रहे, याद करता रहे। मृत्यु ही इस जीवन का अन्त नहीं, नामं किर भी बच रहता है। भाग्य से धन मिलता है। किन्तु धन नव कुद नहीं है।”

न जाने धृणा के किस श्रावेश में थपने सारे स्वर्णखण्ड मैंने उसके ऊपर को दिए, जो उसने ऐसे त्रुन लिए, जैसे भूखा कुत्ता हड्डी उठा लेता है। गव धग्ग

खड़े रहे । चाण्डाल चला गया । मैंने पास खड़े एक कमकर से कहा, “इसे मेरे साथ ले चल ।”

किन्तु उस समय धनदेव ने आगे बढ़कर कहा, “तू पागल हो गया है धनकुमार ! तू इस मुद्दे की खाट को घर ले चलेगा ?”

तू-तू, मैं-मैं सुनकर भीड़ बढ़ चली ।

“नहीं,” धनदेव विक्षुब्ध-सा चिल्लाया, “श्रेष्ठ धनसार के यहां यह खाट नहीं जाएगी !”

भाइयों की लड़ाई सदा ही ऐसी आग रही है, जिसपर पड़ोसी हाथ सेंकते रहे हैं ।

मैं नहीं जानता, मैं इतना दुर्विनीत कैसे बन गया ! मैंने कहा, “हट जाओ बीच से ! यह अवश्य जाएगी । यह मेरी इच्छा है ।” मैंने मजदूर से कहा, “उठा ले तू ।”

किन्तु उसने कहा, “नहीं । यह तो मुर्दा-खाट है । अपवित्र है । मैं इसे नहीं छू सकता । तुम्हारे घन के लिए क्या मैं धर्म छोड़ दूँगा ?”

मैं रोष से विह्वल हो गया ।

आज सोचता हूं, वह कौन-सा आवेश था कि मैं आगे-आगे खाट सिर पर उठाए जा रहा था और पीछे तीनों भाई और भीड़ ब्यांग्य-भरी वातें कहती हंसती चली आ रही थी । अब जो देखता, वही आवाज कसता । भीड़ मेरे पीछे चली आ रही थी । सच, वह बड़ा भयानक था सब । यहां तक कि सामने से घोड़े पर राजकुमार भी आता दिखा । और उस कोलाहल का अंत हुआ, जब मैं अपने भवन के द्वार पर चढ़ा । सोपानों पर चढ़कर देखा, पिता खड़े थे, मां थी, भाभियां थीं । पज्जा पीछे थी । भृत्य, दास, दासी सब एकटक खड़े थे । नीचे पथ पर ठसाठस भीड़ खड़ी थी । घोड़े पर से राजकुमार ने पुकारा, “मित्र ! यह मैं क्या सुन रहा हूं ?”

मैंने खाट उतारकर कहा, “राजकुमार ! मैं कमाई करके लाया हूं ।”

तीनों भाई हंसे । धनदेव ने स्वर उठाकर कहा, “मुद्दे की खाट लाया है ।” पिता ने कहा, “वत्स धन, क्या यह सत्य है ?”

भीड़ स्तब्ध थी । मैंने कहा, “पूज्यपाद पिता ! महामान्य राजकुमार ! पुरपट्ठान के निवासियो ! मैं वैभव की पराकाष्ठा ले आया हूं । धन ममता के

रूप में निरन्तर यहीं बिकता रहता है। इसमें जीव की मुक्ति नहीं है। मनुष्य जो यहां पाता है, यहीं छोड़ जाता है। इसीलिए पिता की आँजा से मैं यह कमाई करके लाया हूं, क्योंकि मैं वह कमाना चाहता था, जिससे परिवार को तृप्ति हो। देखिए राजकुमार ! यहीं है वह शक्टदास का यश। इसकी वास्तविकता क्या है, जानते हैं ? इसका मूल्य जानते हैं आप ? दस स्वर्णखण्डों के धोड़े-से मूल्य में मैं कितनी अमूल्य वस्तु लाया हूं, जानते हैं ?”

“जानते हैं !” धनदत्त ने मेरे मुंह पर धूंसा मारा और बोला, “नीच ! कुल-कलंकी ! ज्ञान की बात करता है ! मैं इस खाट को तोड़कर फेंक दूँगा !”

इससे पहले कि मैं संभलू, तीनों भाइयों ने उसकी पाटियों से पाये खींच-कर उसे तोड़ दिया और मेरे रोकने के पहले ही उन्होंने पाये उठाकर जो पत्थर पर जोर से मारे, एक बार विजली-सी कौंध गई। यहां तक कि मुझे भी चबकर आ गया। पञ्जा ने लपककर मुझे पकड़ लिया। मेरा चबकर खाना तो धूंसे के कारण समझा गया। राजकुमार ने मुझे ढाती से लगा लिया। मां और पिता की आँखों से आँसू बहने लगे। भाभियों के मुख खुल गए। भीड़ हहरा उठी। तीनों भाई स्तब्ध पाण्डाण-से खड़े रह गए।

शक्टदास ने अमूल्य मणियों के रूप में अपना चिरसंचित धन खाट के पोले पायों में भर रखा था और वह अमूल्य रत्नराशि अब पिता के चरणों पर-पड़ी थी।

कुछ देर बाद भीड़ में जय-जयकार सुनाई दिया। मेरी मेघा और कुशाग्र बुद्धि घर-घर की बात बन गई। भाभियों को वह अमूल्य राशि मैंने बांट दी। भोज ऐसा हुआ कि स्वयं महाराज और राजकुमार भी आए। किन्तु इसके बाद मैंने पिता की ओर देखा, तो उन्होंने केवल यही कहा, “पता नहीं, यह कौन है जिसने मेरे घर जन्म ले लिया है !”

पञ्जा ने पूछा, “सच वता वत्स धन ! तुझे पता था कि पायों में रत्न थे ?”

“क्यों पूछती है अम्मा ?” मैंने पूछा।

“ठीक है, ठीक है,” पञ्जा ने कहा, “चबकर तो तुझे इसलिए आया था कि, उस मूर्ख भाई ने तेरे धूंसा मार दिया था। सच, तू बड़ा ही बुद्धिमान है। उस जन्म में न जाने कितना देकर आया था जो इतना पा रहा है। और इतना गश जो दिए जा रहा है, उससे पता नहीं आगे चलकर अभी कितना और पाएगा !”

मुझे याद है, मैंने कहा, “श्रम्मा ! देता कौन है ? वह जिसे ज़रूरत नहीं है। ज़रूरतें बढ़ाकर जो कहता है—यह मुझे चाहिए, यह मुझे चाहिए, उसकी चाहना का अन्त ही कहां है ! परन्तु जो कहते हैं—नहीं चाहिए, वे श्रभाव से कचोट खाते हैं। हो और नहीं चाहिए—इसमें तो गौरव है !”

कहने के साथ ही मैंने अनुभव किया कि गौरव तो सबसे बड़ी चाहना है। तब ! तब मैंने कुछ नहीं दिया, खाने को था, पीने को था, ओढ़ने-विछाने को था, दास थे, दासियां थीं। घर में धनधान्य, सुवर्ण, रत्न, रेशम, कंबल, पशु
कुछ था। इतना रखकर मैंने कहा है—दिया। तब क्या दिया ?

शायद छः महीने बीते थे कि एक दिन एक श्रवारोही आया, जिसने अपने घोड़े की लगाम द्वारपाल को थमा दी और जब दास उसे भेरे पास लाया, तो उसने कहा, “महाराज ने स्मरण किया है !”

मैंने कहा, “अभी !”

“हां श्रेष्ठि अभी !”

“चलो !” मैंने कहा।

हम दोनों घोड़ों पर पहुंचे।

महाराज के भव्य प्रासाद में चुसा, तो वे रत्न-जटित चौकी पर बैठे थे। मुझे एक चांदी की चौकी पर बिठाकर कहा, “श्रेष्ठिपुत्र ! बहुत दिन से देखा नहीं।”

“महाराज की असीम अनुकम्पा हुई कि मुझे याद रखा।” मैंने विनम्रता से कहा, “मेरे योग्य सेवा ?”

“हां, बताता हूं। वात यह है कि हमारे सार्थ जब एक देश से दूसरे देश जाते हैं, तब वन-भाग में दस्यु हमारे यात्रियों को लूटते हैं। ऐसी कोई तरकीब हो कि वह लूट-मार बंद हो जाए !”

“देव !” मैंने कहा, “यह तो राजकाज की वात है। मैं ठहरा वणिकपुत्र। इसपर क्या कह सकता हूं !”

“अरे तुम बुद्धिमान व्यक्ति हो !” महाराज ने कहा, “अवश्य ही वता सकोगे।”

मैंने कहा, “महाराज ! वता सकता हूं, परन्तु मुझे प्राणभय से...”

“प्रभय !” महाराज ने कहा, “निर्द्वन्द्व कहो !”

मैंने कहा, 'महाराज ! श्रेष्ठि शान्ति चाहते हैं, व्यापार के लिए। परन्तु महाराज क्षत्रिय ठहरे ! सीमाभूमि में शान्ति तभी हो सकती है, जब दो महाराज परस्पर अनाक्रमण की सन्धि करके अपनी-अपनी सेना वहां नियुक्त करें। किन्तु क्षत्रिय ऐसा कैसे कर सकते हैं ? क्षत्रिय का तो धर्म है, पराक्रम दिखाकर जय-लाभ करना और उसके लिए आक्रमण आवश्यक है !'

महाराज ने कहा, "चतुर वणिकपुत्र ! साधु ! परन्तु हम आक्रमण नहीं करना चाहते।"

"तो देव ! अपने पड़ोसी महाराजाओं की ओर से भी स्वयं ही मन में आश्वस्त हैं ? उनका भी पूरा भरोसा कर लिया है क्या ?"

"वही तो मुझे शान्ति नहीं देता !"

"देव ! देगा भी कैसे ? पड़ोसी निर्बल रहे तभी श्रेष्ठ है। आप इतनी शक्ति बढ़ाएं कि सब आपके अधीन हों। तब वन-भूमि में शान्ति रह सकती है, अन्यथा अशासित भूमि में सदैव उपद्रवी ही बसे रहेंगे।"

"उन्हें कोई दण्ड देनेवाला वहां नहीं है न ? उन्होंने सोचते हुए कहा। फिर मुड़कर कहा, "मैं शान्ति स्थापित करूं तो तुम्हारे श्रेष्ठ-समुदाय से तो सहायता मिलेगी न ? जानते हो, गणराज्यों के क्षत्रिय कितने अभिमानी होते हैं ?"

"देव ! सहायता तो श्रेष्ठि स्वयं देंगे, वैसे मैं प्रतिनिधि नहीं। बड़े-बड़े हैं, बृद्ध हैं, वे ही बता सकेंगे। गणक्षत्रियों की वया चलेगी देव ! अहिंसा की स्थापना के लिए एक राज्य आवश्यक है, अन्यथा यह निरन्तर युद्ध होंगे जिनमें किंसान के खेत जलते हैं, व्यापारियों को जगह-जगह कर तो देने पड़ते हैं, परन्तु सुरक्षा उनकी कहीं नहीं है। आप श्रेष्ठियों को बुलाकर पूछें।"

महाराज के नेत्रों में एक असीम महत्वाकांक्षा की एक गमना दिग्गार्दी। बोले, "वणिकपुत्र ! कभी ऐसा हो सकेगा ? कभी सारा उत्तराधि और दक्षिणाधि एक चक्रवर्ती के अधीन होगा ?"

"कहते हैं देव ! प्राचीनकाल में ऐसे ही भरत चक्रवर्ती थे।"

"चक्रवर्तित्व !" महाराज ने कहा, "क्षत्रियों में यह बहुत दिन में प्रद चला आ रहा है। उत्तर के शाक्यों और विजयों में भी प्रवर्द्धित है। फिर यही चक्रवर्ती बनेगा कोई। मैंने यात्रियों से मुना है कि यात्र्य गण राजा शुद्धों

का पुत्र सिद्धार्थ और वज्जयगण के ज्ञातुपुत्र सिद्धार्थ का पुत्र महावीर वर्द्धमान दोनों धर छोड़कर चले गए हैं, चक्ररत्न प्राप्त करने।" महाराज ने हंसकर कहा, "ऐसा क्या हो सकता है वणिकपुत्र ? जानते हो, अवन्तिका का चण्डप्रद्योत सेना बढ़ा चुका है—इतनी कि वह महासेन कहलाने लगा है।"

मैं नहीं समझा कि महाराज ने मुझसे ऐसी बातें क्यों कीं ? फिर अंत में वे बोले, "चाहता हूँ सेना मैं भी बढ़ाऊँ । परन्तु श्रेष्ठपुत्र ! उसके लिए धन चाहिए ! धन ! राज्य छोटा है । फिर कर कहाँ लगे ? धन बढ़ाने का उपाय बैता सकते हो ?"

अब मैं समझा । मैंने कहा, "महाराज ! धन तो बढ़ाए से बढ़ता है । आदमी चाहे तो क्या नहीं हो सकता !"

"ऐसा कैसे हो सकता है ?"

"महाराज ! मैंने पुरानी पुस्तकें पढ़ी हैं । कोई खान मिल जाए तो काम चल जाए ।"

"अपने राज्य में है ?"

"यहाँ तो नहीं है ।"

"आसपास ?"

"कहाँ महाराज ?"

"तो खोज सकते हो ? वह भूमि जीती जाए !"

"आशा देंगे तो यत्न करूँगा ।"

इसके बाद मैं चला आया । घोड़े पर धीरे-धीरे जा रहा था कि श्रेष्ठ भौमिकदास के विशाल प्रांगण में भीड़ दिखाई दी । सोचा, क्या बात है ? मैंने पोड़ा मोड़ा ।

यहाँ तो राजकर्मचारी भी खड़े थे ।

भौमिकदास के चंशजों में उसके मरने पर बंटवारा नहीं हो पा रहा था । भौमिकदास को मरे दो पीढ़ी हो चुकी थीं । दो पीढ़ी शांति से रहने के बाद श्रेष्ठ चंशजों में लड़ाई हो गई थी । माल का बंटवारा हो चुका था, परन्तु मुसीबत यह थी कि पूरे भवन की नीचे की मंजिल में बालू भरी थी । सुनते ही मेरे रोंगटे उड़े हो गए ।

एरु राज्यकर्मचारी से मैंने पूछा, "क्या हुआ यहाँ ?"

मुझे वह जानता था । मुस्कराकर बोला, "श्रेष्ठि के वंशजों ने माल तो बांट लिया है, परन्तु सारे भवन में नीचे बालू भरी देखकर राज की मदद मंगाई है कि इसे राज नीलाम कर दे तो मकान बनानेवाले कुम्हार और सुनार इसे उठा ले जाएं, ताकि लदाई बच जाए ।"

मैंने कहा, "पर बालू भौमिकदास के यहां क्यों आई ?"

"श्रेष्ठिपुत्र !" उसने कहा, "कहते हैं, भौमिकदास बड़ा रंगीला था । उसने सोचा था कि एक विशाल सरोवर बनवाएगा । उसके तट पर ढालने को रेत मंगवाई थी उसने, ताकि समुद्र की झलक मिल सके ।"

मैंने कहा, "मैं वह रेत देख सकता हूँ ?"

"तुम भी सरोवर बनवाओगे ?"

"क्या हर्ज है, बनवा देंगे ।"

अचानक भीड़ में से बढ़कर किसीने मेरे घोड़े की लगाम पकड़ ली और कहा, "मूर्ख ! क्या करता है ?"

देखा, वही धनदेव !

मैंने कहा, "छोड़ दो मेरी बल्गा । दूर हट जाओ । राजकाज में वाधा भत डालो ।"

राजकर्मचारी ने मेरी ओर देखा । मैंने धीरे से उसके हाथ में एक स्वर्णखण्ड सिक्का दिया । फिर क्या था ! उसने दण्ड बढ़ाकर कहा, "हट जाओ, हट जाओ ।" मैंने उसे घोड़ा पकड़ा दिया ।

मार्ग साफ हो गया ।

भौमिकदास का परनाती गंधवंदास मुझे देखकर बोला, "ग्रेरे धनकुमार तुम ! कैसे आए ?"

"देखता या बहुत कोताहल हो रहा है । वताओ तो, गुद्य भागड़ा-यगड़ा है क्या ?"

उसके दोनों भाई, चचेरे भाई, कुल मिलाकर छः-सात व्यक्ति, फिर उन्नर्ध पत्नियां, उनके बच्चे.....

मैंने फिर उसे देखा तो वह झेंपकर बोला, "नहीं भाई । ऐसा नहीं है श्रीरतों में नहीं बनती ।"

"मर्दों में तो बन जाती है ?"

“अब छोड़ो । तुम क्यों चिन्ता करते हो ?”

“तो !” मैंने कहा, “प्रपितामह का वैभव लुटा दोगे ?”

“वैभव !” वह बोला, “हाँ ! यह रेत !” और वह हँस पड़ा ।

मैंने कहा, “सरोवर क्यों नहीं बनवाते ? नगर में गौरव फैलेगा ।”

“इतना धन कहां है भाई !” उसने कहा । फिर व्यंग्य किया, “तुम ही न बनवा दो ।”

मैंने कहा, “रेत कहां है ?”

“यह है तो, ले जाओ सब !”

“मूल्य क्या लोगे ?”

“तुम उठवा ले जाओ, वही काफी है ।”

“अजी यों नहीं । कुछ हिसाब करो । कहीं से लाते तो कितनी मंहगी पड़ती भला, सोचो !”

“अच्छा एक रजत मुद्रांकित खण्ड की एक हजार मन !”

“लिखवाओ !”

जब प्रतिज्ञापत्र तैयार हो गया, साक्षी हो गए, मैंने मजूर लगा दिए और शाट भरवाने लगा ।

इतनी देर तक मैं बिलकुल हास्यवदन लिए रहा । यहां तक कि लोग मुझ पर व्यंग्य कसते लगे । शीघ्र ही संवाद नगर में फिर फैल गया । भीड़ आने लगी । अब तो यह हालत हो गई थी कि धनकुमार का नाम सुनकर लोगों को कीरूहल होता था । परन्तु खाट के पाये में तो रत्न हो सकते थे, वालू में इसका व्या जोर बैठेगा, यही उनकी समस्या थी ।

मैंने धोड़ा संभाला और जब प्रासाद पहुंचा, तब महाराज चकित हुए ।

“वत्स धन ! कैसे लौट आए ?”

“आपसे आज्ञा लेने आया हूँ ।”

“कैसी ?”

“प्रासाद के सामने एक सरोवर बनाना चाहता हूँ । उसके चारों ओर विद्याने के लिए वालू चाहिए । तीन पीढ़ी पहले श्रेष्ठ भौमिकदास ने यही विचार किया था । वह निःसंदेह बड़ा ही महान व्यक्ति था । उसके प्रपोत्र उसकी लाई

बालू बेच रहे थे। मैंने खरीद ली है। अब देव ! आज्ञा दें तो कार्य प्रारम्भ हो। बालू इधर भिजवा दूँ।”

“तुम क्या कह रहे हो ?” महाराज ने चौंककर कहा, “मैं समझा नहीं। आखिर कितनी बालू है ?”

“यही महाराज पचीस सहस्र सैनिकों के भोजन-वस्त्र के तीन वर्षे के प्रवत्त्य लायक सोना जितनी होगी।”

“तुम पागल हो गए हो ?” उन्होंने श्रचकचाकर कहा।

पर मैं घर नहीं गया। बालू से भरे शकट ला-लाकर प्रासाद के सामने उडेल दिए गए। महाराज समझे नहीं। परन्तु सरोवर बनवाने में उन्हें बाधा ही क्या थी ! सामने विशाल भूखण्ड पड़ा था।

सांझ हो गई तो मैं घर आ गया। पिता तक संवाद पहुंच चुका था। वे प्रासाद गए थे महाराज से मिलने। पज्जा अम्मां ने जूते खोलने को हाथ रखा ही था कि भृत्य ने आकर कहा, “महाराज ने आपको इसी समय बुलाया है। श्रेष्ठ भी वहीं हैं।”

मैं नीचे उत्तरा तो भाभियां, मां, सब मुझे देख रही थीं। परन्तु मैं कुछ नहीं बोला। नीचे उत्तर गया।

महाराज ने मुझे देखा तो कहा, “वत्स, धन आ गया !”

चांदनी छिटक रही थी। बाहर पड़ी रेत अब चांदनी में बहुत ही मुनहली-सी चमक रही थी। उसका स्तर चमक से बहुत ही लुभावना दीख रहा था।

मैंने दोनों को प्रणाम किया।

“वत्स धन !” पिता ने कहा, “यह तूने क्या किया ? बालू खरीद आती !”

मैंने कहा, “पिता ! राजा यदि प्रजापालक हो, तो क्या उसके लिए यह कुछ नहीं करना चाहिए ?”

पिता नहीं समझे। न महाराज ही समझ पाए।

“इससे क्या संबंध है इस बालू का ?” पिता ने पूछा।

मैंने कहा, “महाराज ! आज मैं चाहता तो इस बालू को अपने पर भी ले जा सकता था, परन्तु आपने कहा था कि बनभूमि में शांति स्थापना की बेट्ठा करेंगे, इसीसे यह मैं आपको देता हूँ।”

“बालू ! और मुझे देते हो ?”

“हों देव ! देखते हैं बालू का रंग ? इसमें भूरिशः सुवर्ण है । पिघलाते ही सोना बन जाएगा । यह साधारण बालू नहीं, तेजुतरी रेत है । मैंने पुरानी पुस्तकों में इसके बारे में पढ़ा है । भौमिकदास साधारण श्रेष्ठ नहीं था । उसके साथ दिगंतों में धूमते थे । उसने सोचा होगा कि इनसे स्वर्ण निकालेगा, किन्तु वह अपनी बात पूरी किए विता ही भर गया और उसका रहस्य भी उसके साथ ही चला गया ।”

पिता श्राविचर्य से स्तव्य खड़े रहे । महाराज ने कांपते स्वर से कहा, **‘श्रावण !’**

मैंने कहा, “भट्टी लगवाइए ।”

जिस समय सुनारों ने रेत को तपाकर सोना निकाला, पिता मुझे छाती से लगाकर ऐसे रोने लगे, जैसे कोई बच्चा मां से मिलकर रोता है । महाराज ने गलपित कंठ से कहा, “घनसार ! तेरा यह पृत्र मनुष्य नहीं, निस्संदेह कोई यक्ष-विदावर है ।”

मैं क्या समझूँ वे ऐसा क्यों कह रहे ! इसमें क्या विद्याधरत्व था ?

और तब महाराज ने कहा, “कल सना होगी और श्रेष्ठ धनसार ! तेरे घनकुमार ही को मैं नगर-श्रेष्ठिकों पदबी दूँगा ।”

पिता ने झुककर महाराज के चरण ढूँकिए ।

फिर सचमुच मैं नगर-श्रेष्ठिकों बना दिया गया । मुझे समस्त श्रेष्ठियों ने भेंटें दीं । मैंने उस धन को देखकर कहा, “युचमुच धन आ गया महाराज ! सरोवर अब बन जाएगा ।”

उज्ज्ञा श्रम्माने मेरे धर धाते ही नमक-मिचूं उतारी और मां ने छाती से लगाकर माथा चूमा । भाभियां सामने आईं मंगल आरती उतारने ; किन्तु मैंने कहा, “तुम्हारे हाथ से नहीं भाभी ! तुम्हारे हाथ से नहीं ।”

सुभासा भाभी का मुँह काला पड़ गया । दगड़ में लड़ी सुहागिनों ने आरती का धाल ले लिया ।

प्रचुर भोज में परिवार सम्मिलित हुआ ।

धनदत्त, घनदेव और घनचन्द्रादिप मेरे पास ही बैठे ।

रात हो गई । मैं अपने प्रकोप में दीपालिए बैठा था । परजा द्वार पर सोई थी । भाभी सुभासा नीतर आई । उनके हाथ में एक गढ़री थी । कैंचे

पगचाप सुनकर देखा और उठ बैठा । वीणा सरका दी ।

“भाभी तुम !”

“हां देवर ! मैं ही हूँ ।”

और बोली नहीं । गठरी मेरी शय्या पर धर दी । जाने लगीं ।

“भाभी ! यह क्या है ?”

“जो तुम्हारा है, दिए जाते हूँ ।”

मैंने बढ़कर उनके पांव पकड़कर कहा, “ग्रब समझा मैं । आरती करने से रोका था । यह उसीका रोष है ।”

“तुम अपमान कर सकते हो । हम नहीं । क्योंकि तुम यह आभूषण हमें देते रहे हो ।”

मैंने सुना । क्षण-भर उन्होंने मुझे देखा और कहा, “पांव छोड़ दो ! जाने दो मुझे । जानते हो पड़ोसिनों ने हमारे बारे में क्या सोचा होगा ?”

“सब जानता हूँ ।”

“फिर भी अपमानित किया ?”

“हां भाभी !”

“तो जान-बूझकर किया ?”

“हां भाभी !”

भाभी सुभामा विक्षुब्ध-सी देखती रहीं ।

“पूछो भाभी ! कारण तो पूछो ।”

भाभी ग्रब चौंकीं ।

पज्जा जाग गई थी । भाभी को देखकर चौंक उठी । उठकर खड़ी हो

मैंने कहा, “तुम्हारे हृदय में अपार स्नेह था जानता हूँ, तभी तुम मा ॥
साथ वहां आई थीं । परन्तु जानती हो, उससे क्या होता ? भाई यही समझते
कि इतने दिनों से तुम मेरी भूठी दुराई करती थीं । फिर वे कभी ग्रपने मन
की बात तुमसे नहीं कहते । उस जगह तुम्हें रोककर मैंने प्रमाणित किया कि
तुम्हारा वह काम दुनिया की आँखों में धूल भोकने के लिए था । भाभी ! मा ॥
हो तुम ! पुत्र की रक्षा के लिए क्या इतना भी अपमान नहीं सह सकोगी ?”

वे चुप खड़ी रहीं । एक बार मेरे सिर पर श्राशीप देता-सा हाथ किराया ।

“यह गठरी ले जाओ भाभी ! मैं वहुत श्रकोला हूँ । इतना गाय है, पर किरा

भी मेरे लिए कुछ भी नहीं है। जिसके भाई ही जिसे नहीं चाहते, उसका जीवन ही व्यर्थ है। मुझे मर जाना चाहिए भाभी! पर मरना कठिन होता है, बहुत कठिन होता है। मैं नहीं मर सकता।”

पञ्जा ने फुसफुसाकर कहा, “मरें तेरे शत्रु! तू क्यों मरेगा! कोई कुछ कहता था?”

मैंने कहा, “पञ्जा अम्मां! तुम्हारा और भाभियों का काम बढ़ गया है। जानती हो न? अब मैं धनकुमार-मात्र नहीं, मैं नगर-श्रेष्ठ हूं। नगर-श्रेष्ठ!”

और इतीलिए मैं आज यहां निर्जन में रात्रि के समय इस वृक्ष के नीचे लेटा हूं। क्यों? क्योंकि मेरा वह भय सत्य निकला।

वर्षों को बीतते देर नहीं लगती। वे तो बीत गए, परन्तु घुणा तो नहीं गई! और परसों रात ही की तो बात है!

पञ्जा अम्मां ने आकर कहा, “तूने सुना?”

मैं तब मिठाइयां खाकर दूध पी रहा था।

“स्वामी बहुत कुद्द हो रहे हैं।”

“क्यों भला?”

“सुना तूने! तेरे भाई क्या कहते फिर रहे हैं नगर में?”

“क्या कहते हैं?”

रोष से जैसे वह बोल नहीं पा रही थी।

“कुछ कहे भी तो!”

उसकी आंखें लाल थीं, कुछ फूल आई थीं, जैसे सेमल की कलियां हीं।

“नगर के कुछ वृद्ध तुम्हारे तारुण्य को देखकर वैसे ही ईघ्यग्रिस्त थे। अब यह भी सुर मिला रहे हैं कि पुरपड़ान की तो नाव ही हूब जाएगी। जिसमें फल के लड़के वडे-वूडों के सिर पर पांव रखकर नगर-श्रेष्ठ बन गए हैं। हम तो पहले समझ गए थे कि जुप्रारी मित्र राजकुमार की मित्रता कुछ नया ही १ रंग लाएगी।”

“ऐसा कहते हैं!” मैंने कहा। दूध का पात्र रख दिया।

“यह नहीं कहते कलमुंहे कि राजकुमार का जुआ किसने छुड़ाया?” पञ्जा कहती रही।

तभी द्वार पर मां आ गई । मैं खड़ा हो गया । जीवन में शायद पहली बाँसे ह का मुझे अनुभव हुआ । मेरे पास आकर खड़ी रहीं । फिर कहा ! तेरे भाई तेरा अनिष्ट चाहते हैं ।”

‘किस तरह कहती हो मां !’ मैंने श्रचकचाकर पूछा ।

‘मुझमा, सुखुमी और अलका ने कहा है ।’

‘क्या मां ?’

“वे तेरे रक्त के प्यासे हैं । किसी भी दिन छल से तेरी हत्या कर सकते हैं ।” कहते हुए उनकी आङूत्रिति कठोर हो गई । “तू मेरा पुत्र है । तुझे मैंने गर्भ में धारण किया था वत्स धन ! जो तेरा पसीना गिराएगा, मैं उसका लहू पी जाऊंगी । तू यह न समझ कि मैं इतने दिन से जानती नहीं थी । जानती थी । सब जानती थी । किन्तु तेरे पिता से डरती थी, क्योंकि उनका क्षोध तेरे भाईयों को दर-दर का भिसारी बना देता । और यह जो मैंने पाप किया है कि उन्हें जन्म दिया है, इसी पाप की ममता ने मुझसे इतने दिन छाती पर पत्थर रखा चाया है, क्योंकि मैं तुझे स्नेह नहीं दे सकी । पर मैंने तुझे ग्रकेला नहीं द्योढ़ा पुत्र ! पज्जा को तेरे पास छोड़ा था और मैं जानती थी कि पज्जा तेरे लिए जीवन भी दे देगी ।”

पज्जा ने आँखोंचकर कहा, “स्वामिनी ! दासी को इतना सम्मान दिया है तुमने ! तुम्हारे चरणों की वूलि मेरे सिर पर रहे ।”

उसने चरण-धूलि सिर पर लगा ली । मां ने पीछे हटकर कहा, “तेरी भाभियाँ घृणा से विह्वल हो रही हैं । तू नहीं जानता पुत्र ! स्त्री के लिए कौन भी हो, पति ही सर्वस्व है । और अपने पति से स्त्री जब छल करती है, तब वह कितना बड़ा खेल खेलती है ! उन्हींने उनके पेट से बात निकलवाकर मुझे बताया है । सावधान रहना !”

और तब उनके जाने के बाद मैंने सोचा था । क्यों रहूँ मैं यहाँ ? मेरे चारों ओर जीवन्त प्रेम है । भाभियों की पवित्र आँखें मुझसे मानो अपने पतियों के जीवन और अपने सुहाग मांगने लगीं । पिता का वह कुद्द किन्तु व्याकुल पृथग् कानों पुत्रों का दान मांगने लगा । और मां का हृदय ! नव जानते हैं । पौर मुझपर ऋण है सबका । मुझमें शक्ति है । मैं तीनों को मार सकता हूँ, तीनों को राजाज्ञा से पकड़वा सकता हूँ ? परन्तु वया मैं मर्यादा लांघ सकूँगा ? यदि

श्रेष्ठ धनसार के कुल पर लोक हँसेगा ? इन तीन ईर्ष्यालू मूर्खों के कारण पिता का गौरव खंड-खंड हो जाएगा और यदि पकड़वाता हूँ, तो मेरी गवाही कीन देगा ? पिता का हृदय या माता की ममता, या पत्नी का सुहाग ? तब मैं क्या करूँ ?

क्यों न मैं सब कुछ छोड़कर चला जाऊँ ? क्या है मेरा यहाँ ? क्यों रहूँ मैं इस जगह ? इस घृणा में प्रेम एक संवल अवश्य है, किन्तु मेरे रहने के कारण यहाँ कितने लोग हैं, जो दृढ़ों में भर गए हैं। उनका हृदय कैसे चैत पाता क्षेणा ? मेरे न रहने से यहाँ पति-पत्नी, सास-ससुर, सांचाप, सबमें स्त्रेह रहेगा। मेरा अभाव भी शीघ्र ही विस्मृत हो जाएगा। पत्नी का अंत पति है, माता-पिता का पुत्र।

काल के विशाल चक्र को निरन्तर धूमते हुए कितनी श्रवसर्पिणी व्यतीत हो गई।

और इसीलिए कल रात-भर सोचते के बाद मैं आज चांदनी निकलने के पहले ही अधेरे में घर छोड़ आया हूँ। अपनी दीणा को भी छोड़ आया हूँ। अब वे सब मुझे ढूँढ़ रहे होंगे। अब मेरे सामने चित्र-से जागते हैं। जिनको पास थे देखकर कभी व्यान नहीं दिया था, वे जब दूर हो गए हैं, तब मुझे कितने प्रश्न के लगते हैं ! सचमुच मैं कितना भाग्यवान हूँ ! धन ही मेरे जीवन का मानदण्ड बना है। जन्म के समय को वह धटना व्यान सचमुच किसी प्रकार से मेरे समस्त जीवन का प्रतीक है ? क्या वास्तव में अब भी जीवन में मैं बड़-भागी हूँ ?

हँसने का मन करता है। यही है भाग्य ? सब कुछ पा जाने के बाद भी कुछ नहीं। लेकिन मैं अपने जीवन को ले आया हूँ। वही सबसे अधिक मूल्यवान है। वह सब कुछ, कुछ नहीं था। वे मुझे मार डालना चाहते थे। इतनी घृणा ! इतना विष ! असंख्य प्राणी नित्य जन्म लेते हैं, नित्य मर जाते हैं। क्या मैं भी उन्हीं जैसा नहीं हूँ ? क्या एक दिन मुझे मरना नहीं है ?

भयानक ! कितना विचित्र है यह विचार ! लेकिन जीवित रहते हुए मनुष्य उस विराम की कल्पना कर करता है ! वह तो श्रविराम चलता चला जाता है।

पञ्जे अम्मां ! तू अब उस प्रकोष्ठ ने सूनी-सी बैठी होगी ! व्यान तू मेरे वियोग को भेल सकेगी ? अम्मां ! क्या वे मेरे माई तुझसे दासी जैसा द्यवहार

करेंगे ? जानता हूँ पिता नहीं बोलेंगे । मां भी पुत्रों के स्नेह में चुप ही रहेंगी । तो क्या वे तुझे कष्ट देंगे ? लेकिन पज्जे श्रम्मां ! मैं ही यदि नहीं रहा तो क्या होगा ? वह बेदना क्या तेरे लिए सहज होगी जब तू आएगी और शय्या पर मुझे देखेगी, मेरे वक्ष में मूठ तक छुरा धुस गया दिखाई देगा ? यह भी न सही । श्राते-जाते कहीं एकांत में ही... और मेरा शव पथ पर ही पड़ा रहेगा ! पज्जे श्रम्मां ! मृत्यु कितनी विकराल है ! मैं उसकी कल्पना भी नहीं करना चाहता । जब मैं घर से निकला था, तब चारों ओर सन्नाटा था । द्वार मैंने चुपके से खोला । सुलक के पास से निकल गया । वह सो रहा था । कैसे बताऊं कि मुझे नगर की एक-एक ईंट और, एक-एक वस्तु किस प्रकार रोकने लगी थी । प्रासाद के सामने के मेरे हाथों नींव ढाले गए ताल में चांदनी खेल रही होगी इस समय । उस समय केवल दीपों का झिलमिल प्रकाश उसमें नीचे तक उत्तर रहा था । नगर सो गया था । सचमुच जब मनुष्य जागता रहता है, तब पत्थर भी बोलते रहते हैं; और जब वह सो जाता है, तब वह पत्थर भी सुपनों के बोझिल टुकड़े-भर जैसे रह जाते हैं ।

वह संसार मेरे लिए नहीं था । वह सब कुछ मेरे साथ श्रपना तादात्म्य नहीं कर सका । श्राज मैं एक नये जीवन के इस छोर पर हूँ । शायद श्रव मैं किसी ऐसे रास्ते पर चल सकूँगा, जहां मुझे बेदना नहीं होगी । जानता हूँ कि यह भी शायद मेरी कल्पना है । मुनि स्वयंप्रभ कहते थे कि मनुष्य का संस्कार उसके साथ जुड़ा रहता है । वह बार-बार लौटकर आता है । परन्तु वे यह भी कहते थे कि अहिंसा से बुरे से बुरा व्यक्ति भी सुधर सकता है ।

मैं इसे नहीं जानता । सचमुच ही क्या मनुष्य में इतनी शक्ति है कि बुरा भी बदल सकता है वह ! और माणवक भी कहता था कि अच्छे से अच्छे में भी कहीं बुराई होती है और बुरे से बुरे में भी कहीं न कहीं कोई अच्छाई सदैव वनी रहती है । जो भी हो, इतना जो सब देखा है, वह मेरा नहीं है । सम्भवतः मैंग कभी भी कुछ नहीं होगा, जैसा किसीका भी कभी कुछ नहीं हुआ ।

जिस भविष्य में, जिस वर्तमान में रहने की मेरी इतनी उत्कट नालगा है, वही बहुतों को नहीं भाता । जो मुझे नया लगता है, उसे वे यहूत पुराना-पुराना कहते हैं । मेरे क्रम की आस्था उनके लिए विगत का भार बन चुकी है और वे इसे छोड़ जाना चाहते हैं । ऐसा होता है यह बुद्धापा । और मृत्यु पर हमारा यह नहीं है ।

रात अब और धनी हो गई है और चांदनी अब पत्तों के ऊपर सो गई है। तह के अधेरे में मैं लेटा हूँ। हवा धीमी है। श्रेष्ठिवास में जाग रहे होंगे मेरे पिता, पास में जागी होंगी मां। विनत शीश द्वार से सिर लगाए बैठी होगी मेरे कक्ष में पज्जा अम्मां। यही सोचती होगी, आ जाए शायद, एक बार वह आ ही जाए... मेरा वत्स धन... मेरा वत्स धन...

नहीं, अब मैं नहीं लौटूँगा।

सच भाभियो ! तुम मेरे पीछे पतियों से कलह न करना। मैं तुम्हारे लिए भी कुछ नहीं कर सका। मेरे अग्रजो ! तुमने मुझसे घुणा की। परन्तु श्राकारण ही तो। मैं तो तुम्हारा प्रतिस्पर्धी था ही कब ? लो ! अब रहो। सुख पाओ।

धरती बहुत बड़ी है। यह सब मेरी है। मैं इसपर धूमूँगा। सब कुछ देखूँगा। अब जवाकि मेरा कुछ नहीं है, तब मैं बंधा क्यों रहूँ ?

प्रणाम ! मेरे अतीत ! मेरा प्रणाम ले। मनुष्य आते हैं, चले जाते हैं। वे जाते समय सबको हाथ जोड़कर जाते हैं। वह उनकी अन्तिम यात्रा होती है। लोग उनके लिए आँसू भर लाते हैं। पर वे भागकर नहीं जाते। वे जीवन का उत्सर्ग करते हैं। और मैं कायर हूँ। मैं इस जीवन को बचाने के लिए भाग रहा हूँ।

फिर भी मेरा प्रणाम स्वीकार करो।

ओ आकाश ! नीले विस्तार ! मैं तेरे नीचे आ गया हूँ। ओ धरती, देख, मैं यहां हूँ ! मेरी साक्षी रहना तुम। मैं तुममें से आया हूँ। तुममें ही लीन हो जाऊँगा।

प्रणाम... मेरे प्रारम्भक, प्रणाम... स्वीकार कर लो... मुझे अभी चलना है... और आगे जाना है... आज जीवन के लिए मैंने क्या सचमुच पलायन किया है, या मेरा गमन दूसरों के लिए मार्ग का सोचन है... यात्रा सदैव गति है, स्थिरता ही पथ का रोधक है... मैं रुक नहीं रहा... चल रहा हूँ... चल रहा हूँ...

कल तक सब कुछ था, और आज कुछ भी नहीं है। किन्तु क्या मुझे इसके लिए खेद करना चाहिए? खेद तो अभाव का पर्याय है। मनुष्य कुछ चाहता है और पा नहीं सकता, तब उसे एक ग्रान्ति होने लगती है। यह ग्रान्ति होती है उसे, क्योंकि वह अपने समग्र रूप को तुलनात्मक बनाकर देखता है। इस संसार में मनुष्य सदैव दूसरों को देखकर अपना आदर्श बनाता है। उन्हींको देखकर कहता है कि मैं अच्छा हूँ, या बुरा हूँ। जो व्यक्ति इस तुलनात्मक कच्छोट से ऊपर उठकर संतोष पा जाता है, वह कभी भटकता नहीं। हो सकता है कि कोई मुझे पलायनवादी समझे, परन्तु सोचकर देखने पर स्पष्ट हो जाएगा। यह ज्ञान-विज्ञान, कला-साहित्य और सब कुछ का विकास मानवों की ही पारस्परिक प्रतियोगिता का रूप है। इससे मनुष्य के अतिरिक्त किसीका कुछ भी नहीं बनता-विगड़ता। ध्यान से सोचकर देखता हूँ तो पाता हूँ कि यह प्रतियोगिता ही यश के मूल में है और इसलिए इसे अधम ही कहूँ, तो क्या इसमें मैं दोषी हूँ?

होता है। वह सम्बन्धों की ऊँचा है जो अपने-आप पैदा हो जाती है। तो क्या मैं ऐसी ही ऊँचा को छोड़कर चला आया हूँ? उस दिन घर छोड़ा था, सोच-कर कि अब मैं शान्ति पा गया हूँ। किन्तु नहीं, शान्ति कहाँ थी उस जीवन में? यह त्याग का बहाना एक छल ही तो है! नहीं धनकुमार! संसार यात्रा ही नहीं है, वह 'रहना' है। फिर कहाँ? क्या 'रहना' भी यात्रा है? और अब वह सब मुझे याद क्यों आ रहा है?

भीर हो गई थी। तब पेड़ के नीचे मैंने आँखें खोली थीं। तब मुझे आचर्य हुआ था कि मैं कितनी गहरी नींद सोया था। थक गया था न चलते-चलते। तो यह असल में देह का ही खेल है। आत्मा तो सबमें एक जैसी ही है। जब माटी पुरुष का रूप धारण करती है, तब उसका आचरण और हो जाता है, और जब वह माटी स्त्री का रूप धारण कर लेती है, तब उसका आचरण कुछ और हो जाता है। तभी मुझि कहते थे कि मनुष्य इस पृथ्वी पर नंगा आता है, तभी वह उस समय निरावरण होता है। कहते हैं, नंगा आदमी बड़ा ऊँचा होता है। पहले सब नगे थे, तब पाप नहीं था। जब कपड़े पहने, तब से मनुष्य अपने को छिपाने लगा। और उससे पैदा हुआ पाप। फिर से नंगा होने का अर्थ है, अपने ऊपर से हजारों बरसों के पाप को उतार फेंकना। यह क्या सहज है?

और तब मुझे सूर्य की ओर देखना अच्छा लगा था। तब मैंने देखा कि इस सृष्टि में मनुष्य को छोड़कर सब कुछ नंगा था। केवल मनुष्य ने अपना नंगापन छिपाकर अपने को पाप में डाल लिया था। मैं उठ खड़ा हुआ था।

मुझे याद है, वह सातवें दिन की बात थी। चलते रहने का गौरव मनुष्य ही जानता है। लेकिन चलते रहकर थकने पर ही मनुष्य बस गया है। उसे रुकने पर चलना अच्छा लगता है, और चलते रहने पर रुकना। पहली बार मैंने घर छोड़ा था, तब चलने की लालसा थी। वह लालसा समाप्त हुई जाकर रुकने में और आज उस रुकने का अन्त हुआ है फिर चल निकलने में।

रुककर मुझे लगा था, मैंने भूल की। अपना ही नहीं, मुझे दूसरों का भी दुःख लाने लगा था और आज की ही भाँति जब मैं उस दिन चला था, तब भी मुझे दूसरों के दुःख ने बताया था कि रोना शाश्वत है। यह सदैव रहा है और सायद सदैव चलता चला जाएगा।

किसीकी श्रांख न पड़ जाए, इसलिए मैं प्रायः ऐसे रास्ते पकड़ता था जो विलकुल निर्जन होते थे। उधर भय नहीं लगता था मुझे। थककर मैं पेड़ के नीचे लेट गया था। और तब मैंने सोचा था और अपने-शापसे कहा था कि घनकुभार ! क्या तू हिंस पशुओं से नहीं डरता ?

और सचमुच मुझे दूर एक गीदड़ दिखाई दिया, और तब मुझे लगा कि कहीं सिह भी पास ही, न हो, क्योंकि कहानियाँ बचपन में सुनाई गई थीं मुझे, जिनमें सिह और सियार मित्र होते थे। और यह कल्पना बड़ी कर्कश थी, एक कठोर ध्वनि जैसी। मैं विजन में एक हिंस सिह का भोजन बनूँ ? और यहें गीदड़ तब दांत निपोरकर छूठन के रूप में मुझे लाए !

भूख कितनी भयानक वस्तु है, मह मुझे तभी जात हुआ था। इतने दिन से जंगली कंद-मूल-फल खाते निकले थे। उससे पेट नहीं भरता। बचपन से श्रव्य हमारे जीवन का आधार बनता है। और वही अन्त तक बना रहता है। श्रव्य में भी विशेषता है कि जिस तरह से पका हुआ खाने की आदत शुरू में हमें ढाली जाती है, वही खाने से आगे भी तृतीय मिलती है। उसे न खानेवालों को हम अपना नहीं मानते, उन्हें सुसंस्कृत नहीं मानते। यह भी कैसी विचित्रता है ! अपने इतने दिनों के अनुभव में मैंने यह सोचा है। मैं अब बहुत तरह के लोगों को जानता हूँ। अब मैंने वैष्णव भी देखे हैं। यह हम जिन-मतानुयायियों का ही प्रभाव है कि मैंने वैदिक मार्ग माननेवाले द्राहूणों को भी मांस छोड़ने की ओर प्रवृत्त देखा है। हम मनुष्य को सुसंस्कृत बना रहे हैं। परन्तु यह दम्भ ही है। बिना मांस खाए क्या मनुष्य हिंस नहीं होता ? और क्योंकि मुझे अभी भूख तेजी से नहीं लग रही है, मुझे उस दिन की भूख की तीव्रता भी उतनी याद नहीं रही है; क्योंकि भूख के बारे में सोचा नहीं जा सकता, उसका अनुभव ही हो सकता है। वह अनुभव, जिसमें मनुष्य की आंतें सारी गृष्णि को देखकर कहती हैं कि आ हमसे समा जा। केवल याद रहता है अपनापत। सिफ़ेँ भैं। और तब मैंने खाई थीं जंगली झाड़ियों के मीठे-खट्टे फलों की दो मुट्ठियाँ। चैन पड़ गया था।

चलते-चलते मैं एक खेत की मेंड पर पहुंचकर एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। भोर की शीतल बेला अब अपने पंख खोलने लगी थी। मैं देखते लगा। मैंने देखा था कि नगर का प्रमात और होता है पीर

निर्जन मैदान में आकाश में दूसरी ही तरह का प्रभात होता है। नगर में सूर्य खांखता है, विजन विस्तार में प्रभात ऐसे खुलता है जैसे रेशमी कपड़े का कोई थान। और मैं सोचने लगा कि यह जंगली फल अगर मैं इस समय नहीं पाता तो ? अचानक मुझमें एक कौंव-सी व्याप गई। तो भूख के कारण मनुष्य समाज बनाता है। जीव, जीव को खाता है। अन्यथा इस सृष्टि में कुछ है ही नहीं। निष्प्राण से प्राण का पोषण नहीं होता। स्थावर और जंगल दो हैं। हम जंगल को नहीं खाते, स्थावर को खाते हैं। खाते हैं प्राण को ही। यह ऐसी विचिक्षा अनुभूति थी कि मुझे अपने मानव-जीवन की एक नई विवशता का अनुभव हुआ, जो पहले कभी नहीं हुआ था। तो क्या स्थावर प्राण को खाना जीव हत्या नहीं है ? मैं जितना सोचता था, उतना ही घबराता जाता था।

दुपहर हो गई। धूप ऊपर चढ़ने लगी थी। मेरे पीछे आहट-सी सुनाई दी। मैंने मुड़कर देखा तो पता चला कि कोई किसान था। शायद वह सुवह ही से जुताई कर रहा था। लेकिन मैं अपने ध्यान में ऐसा हवा रहा कि उसकी उपस्थिति भी नहीं जान सका। फिर इधर ही मेरी पीठ भी थी। तभी ऐसा हुआ, सोचकर मैंने अपने मन को आश्वासन दिया।

किसान ने बैल एक और रोक दिए। खोले नहीं। फिर नीचे से उठाकर उण्णीश अपने सिर पर रखा और बैलों को पुचकारा।

उस समय मैं ढोरी से उतरकर नीचे बैठ गया और मैंने अपनी पीठ उससे टेक दी। पेड़ की छाया उस धूप में कितनी सुहावनी लग रही थी !

किसान कुछ सोच रहा था शायद। परन्तु निर्णय नहीं कर पा रहा था। फिर उसने मुझे दूर ही से प्रणाम किया। मैंने सिर हिलाकर स्वीकार किया और मुस्कराया।

मुस्कराहट एक बहुत बड़ी चीज होती है। वह भी मुस्कराया। परन्तु उसकी मुस्कराहट नगर की मुस्कराहट से भिन्न थी। व्यापारियों की पैनी मुस्कराहट की कुशिमता मैं जानता था। उसे देखकर मुझे धृणा होती थी, क्योंकि वह कुटिल होती थी।

वह मेरे पास आ गया। उसका उण्णीश मैला-न्सा था, कभी वह सफेद रहा होगा। धुटने तक धोती थी। देह नंगी थी। धूप ने उसे काला कर दिया था। पांगों पर मिट्टी चढ़ी हुई थी और एड़ियां फटी-फटी-सी थीं।

उसकी ग्रांखें पतली और लम्बी थीं। होगा कोई पचास एक वर्ष का, क्योंकि उसकी मूँछों के बालों में सफेद डोरियां थीं और देखकर वह अनपढ़ लगता था। मैंने मन ही मन उसकी, अपने घर के दासों से तुलना की, तो वहुत बड़ा भेदपाया। उतना ही भेद जो जंगल और उपवन के पेड़ में होता है।

“कौन हो तुम ?” उसने मुझे धूरते हुए कहा। उसके मूँख पर विस्मय भी था और कौतूहल भी।

मैंने उसकी हजिट में सरलता भी पाई और यह भी अनुभव किया कि वह अपने को चतुर समझता था।

“पथिक हूँ !” मैंने कहा, “धूमता हुआ निकल पड़ा, इधर आ गया।”

क्योंकि कई ऊंचे घराने के लोग घर छोड़कर मुनि हो जाते थे, उसके लिए यह ऐसी आश्वर्य की बात नहीं थी।

“किसी ऊंचे घर के हो !” उसने कहा, “कपड़े मैले हो जाने पर भी बात तो नहीं छिपती।” फिर स्वर बदलकर कहा, “सुखी कोई नहीं है ! और भी मैंने देखे हैं। मुनि हो जाते हैं युवक ! ऊंचे घरानों के। धनधान्य छोड़कर। क्या कारण है जो ऐसा वैराग्य हो जाता है ? मेरी तो समझ में नहीं आता।”

मैंने कहा, ‘मैं मुनि होने नहीं निकला हूँ।’

“तो क्या केवल धूमने निकले हो ?”

“हाँ !”

“दास-सेवक कोई नहीं ?”

“मैं तो गरीब आदमी हूँ।”

वह हँसा। कहा, “इतनी उमर गई है तो क्या यह भी नहीं समझ गएना।”

वह फिर हँसा जैसे श्रव की बार उसने विधाता से कुछ बात कर डानी हो।

तब खाने की पोटली ले आया और मेरे सामने बैठ गया। उसने कहा, “मैं जब खाता हूँ, तब साथ कोई हो तो उसे भी खिला देता हूँ। वह नहीं आया तो मैं भी नहीं खाता। जानते हो, उससे क्या होता है ?” उसने शार्न फालक कहा, “ग्रामदेवता प्रसन्न होता है और वेत में अधिक अन्न उगने लगता है, पहले से बढ़कर। श्रेरे, पानी तो ले आऊँ !” उसने अपनी बात को भटकने लोड़ दिया। कैसी नई बात थी ! खिलाते रहने से ही धरती अन्न देनी है। गवर

और संग्रह से धरती अन्न कम उगलती है। और यह अनुभव भी मुझसे पुराना था।

वह उठ खड़ा हुआ और चला गया। मैं वहाँ बैठा था। उसकी रोटियां मेरे सामने खुली रखी थीं। वह उन्हें मेरे सामने रख गया था, मेरी हिफाजत में छोड़ गया था। खेत में काम करता है। रोटी खाता है। फिर अन्न उगाता है और फिर रोटी आती है। योंही निरन्तर क्रम चलता है। हम नगरों में रहते हैं। धनधान्य कोठरों में भरते हैं। यह भी भरता है। यहाँ से ही संस्कृति का प्रारम्भ होता है, परन्तु यह तो इसे नहीं जातता।

जब वह लौटा, उसके हाथ में एक मिट्टी का पात्र था, पानी से भरा हुआ।

“यह कहाँ से ले आए ?”

“उस छोकरे के पेड़ के नीचे रखा रहता है।”

“कोई ले नहीं जाता ?”

वह हँस पड़ा। उसने खाना खोला। पत्तों पर रोटी बांटकर कहा, “पर्यिक, प्राणी।”

“नहीं, तुम ही खाओ !”

“क्यों ?”

“ठीक है।” मैंने सिर हिलाकर कहा, “तुम यक गए होगे। रोटियां भी कम हैं।”

“कम !” वह लोला, “खा लोगे एक पूरी ?”

मैं आश्चर्य में रहा।

दारिद्र्य में भी उसमें एक गर्व था। अपने अनपढ़ और मोटे-फोटेपन का भी शादमी को एक घमंड होता है।

इसमें भी अतिथि-सत्कार की भावना है। सुना था कि किसी समय यह किसान तिर्क रोटी खाते थे और हल चलाते थे। परन्तु अब वे दास नहीं थे। उनके अनने पर होते थे। उनके पास गायें-भैंसें होती थीं। छोटे घरों में वर्तन भी होते थे। उनके यहाँ मुनि जाते थे, भिक्षा पाते थे। कुछ लोग कहते थे कि गांव के लोग छल-कपट नहीं जानते, सीधे-सादे होते थे। परन्तु कुछ कहते थे कि वे चालाक होते थे। संस्कार की वातें मैं यहाँ नहीं सोच पाया। मुझे लगा, यह किनान संतुष्ट था। उसने मेरी ओर देखा और कहा, “तुम नहीं खाग्रोगे तो

यह धरती फिर अन्न नहीं देगी। कहते हैं, जब धरती का अन्न सबको नहीं मिलता, तब वह रुठकर बंजर हो जाया करती है और आकाश भी पानी नहीं वरसाता।”

हमारी मान्यता ही हमारे सत्य का आधार है, यह तभी मैं जान सका। उसने फिर कहा, “पहले मेरे बाबा कहा करते थे कि राजा मनमानी नाज लेते थे, धरती के मालिक सब छीन लेते थे, किसान भूखा मरता था, दासों की तरह विक्री था, तब धरती रुठ गई थी। लोग खेती करते थे। तब हर क्षणिय शासन करता था। फिर एक क्षणिय उठा। उसने धर्म की स्थापना की और, शांति छा गई।” मैं सोचने लगा, वह कहता था, “तब धरती माता ने अन्न दिया। भटकता जोता ठहर गया। और तब से अन्न सब बांटकर खाते हैं। राजा छाड़ा भाग लेता है। भूस्वामी भी अधिक नहीं लेता। तब हमारे पूर्वज उस बचे माल को पशुओं को खिलाने लगे। वे पुष्ट हुए। उन्होंने हल उठाए। तब अन्न पैदा होने लगा। यह दरिद्र माटी हरी होने लगी। तब पक्षी आने लगे। हमने उन्हें भी भाग दिया। तब मुनि आए और हमने उन्हें कटाई के बाद गिरे अन्न को समेट लेने दिया। यह धरती हँसती है, जब पेट भरता है। हमारा पेट भरा है, तभी दूसरों का भी पेट भरा है। जानते हो। धर्म से अन्न उगता है, ऐसा नहीं है। भाग्य से उगता है। बादल कोई अपने-ग्राप नहीं नम्र सकता। पाप बढ़ जाते हैं तब सूखा पड़ता है, पुण्य रहता है तब समय पर जन वरसता है। राजा जैसा होता है, वैसी ही प्रजा होती है। और सबसे बनवान होता है समय! फिर मैं क्यों पाप का बीज ढालूँ! मेरे द्वार पर पर्याप्त आया है। वह अतिथि है। किसान आते-जाते को देता रहे, तो लोग उससे मुष रहते हैं। नहीं तो वे क्रुद्ध हो जाते हैं। और क्रोध से वडे लोग नाश कर देते हैं। अतः तुम जो बड़े धराने के हो, मुझे निराश न करो।”

मैंने कहा, “नहीं, मैं नहीं खाऊंगा।”

“क्यों?”

“क्योंकि मुझे खाने का अधिकार नहीं है।”

“खाने का अधिकार? क्यों नहीं है?”

मैंने कहा, “देखो भाई! मनुष्य को पशु-पक्षियों का सा आराम नहीं है। उनको भी पुस्तार्य करना पड़ता है, तब भोजन मिलता है; किन्तु प्रमुण्य को

उनकी तुलना में कहीं अधिक उद्योग करता पड़ता है।”

वह मेरी और आश्चर्य से देखकर बोला, “पथिक, तुम अजीब हो।”

मैंने कहा, “मेरी बात तो सुनो ! उद्योग से ही पेट भरता है। जब एक व्यक्ति उद्योग करता है और वाकी लोग खाते हैं, तब ईर्ष्या जन्म लेती है।”

“मेड़ पर ऊन कोई नहीं छोड़ता।” उसने हँसकर कहा, “वह स्वर्ग इस धरती पर कहाँ ? कोई कम लेता है, कोई ज्यादा !”

“ऐसा न कहो,” मैंने कहा, “जो तुमसे लेता है, वह तुम्हें कुछ देता भी है।”

मेरे लिए ग्रामीण का वह नया अनुभव था, श्रतः मैंने बात को सरल करके कहा, “तुम्हारे पूर्वजों ने राजा को कर दिया, क्योंकि वह तुम्हें शत्रु से बचाता था।” परन्तु मुझे ईर्ष्यावाली बात याद आ रही थी—न जाने क्यों, मुझे अपने भाइयों का स्मरण आ रहा था। मैं उस बात को कह नहीं सका। किसान मेरी ओर देख रहा था।

“अच्छा गरीब जानकर नहीं खाते भट्टक की रोटी !” उसने कहा। तब मैंने जाना कि उसका नाम भट्टक था। फिर उसने कहा, “देखो अतिथि ! रोटी न गरीब है, न धनी। यह मनुष्य के लिए एक-सी है। चोरी की रोटी बुरी है, यह मेरा वाप मुझसे कहता था। मैंने चोरी नहीं की, फिर इसे बुरा क्यों मानते हो ?”

यह सुनकर मैं लाचार हो गया। मैंने कहा, “तुम मेरा मतलब नहीं समझ रहे हो।”

उसने मुझे ग्रामीण उठाकर देखा। उस अनजान जगह भाइयों के मुफ्त खाते रहने की आदत, फिर उससे पैदा होनेवाली ईर्ष्या, घृणा, हिंसा का अचानक मुझे एक जवाब-सा सूझ गया।

“खा लूंगा, परन्तु,” मैंने कहा, “मुझे कुछ काम दो।”

“काम ?”

“हां काम !”

“मेहनत !”

“हां, हां !”

“इन्द्र !” वह आश्चर्य से बोला, “तुम काम करोगे ?”

मैंने कहा, “ज़फर करूंगा।”

क्षण-भर वह सोचता रहा, जैसे मेरी शक्ति और सामर्थ्य का अनुमान लगा रहा था।

“हल चला लोगे ?” उसने व्यंग्य से हँसकर कहा।

“चला लंगा !”

“कभी चलाया है ?”

“हाँ, हमारा उपवन बहुत बड़ा था। कर्मात् भी थे। शौकिया सीखा था।”

“हल चला सकते हो ?” उसने फिर पूछा।

मैंने कहा, “ज़रूर !”

तब उसने मुझे सिड़ी समझा और वह मुझे समझाने लगा, “हाँ, हाँ, ठीक है, पर मुनि हमसे भिक्षा लेते हैं। वे भी तो खाते हैं। तुम इन कोमल हाथों से हल चलाओगे ! इतने बड़े आदमी होकर ! जन्म भाग्य से मिलता है। उसका सम्मान करो !”

मैंने कहा, “मुनि आत्मा को पवित्र करते हुए लोक को उपदेश देते हैं। वे कभी शरीर के सुख की याचना नहीं करते। आँधी, पानी और कड़ी धूप में वे घृणते हैं, लोक को जगाते हुए। वे हल चलाने से भी बड़ा काम करते हैं।”

“तुम मुझे उपदेश दो ! यह क्या कम काम है ?”

“नहीं, नहीं, मेरी आत्मा में भी इतना बल नहीं है।” कहते हुए मैंने उठाने कर हल पकड़ लिया।

हल मैंने चलाया था अवश्य, परन्तु यह एक दूसरा अनुभव था। उस समय शौकिया बात थी। हर क्षण साथ में दास रहते थे। दवाव कम होने पर वे तुरन्त संभाल लेते थे। धूप तेज थी। मैं भूखा भी था। परन्तु ग्रव पीछे लोटने का रास्ता नहीं था। यह अपने मुफ्तखोर भाइयों के प्रति मेरी प्रतिरक्षा ही तो थी, किन्तु मेरे कार्य को वे देख ही कहां रहे थे? और वह किसान देशता रहा। भट्टक ! उसे जीवन में एक नई बात दीख रही थी।

जब उधर देखा, तो मैंने उसके मुख पर आश्चर्य तो देखा ही, मनोग और विनय भी देखा, मानो मैं उसकी हृषिक में बहुत महान था।

“वस रहने दो। बदला दे दिया तुमने ! वह कोन पत्यर-दिन मान्याग हैं, जेहोने तुम जैसे कोमल श्रौर सुन्दर युवक को इस तरह द्योढ़ दिया है? तृष्णार्ग त्वी होगी ! वडे लाड़ों तुम पाले गए होगे ! इन कोमल पांवों ने गंगे मठिन

रास्तों से चल पड़े हो । रहने दो, तुम्हें सौगन्ध है । जिस दिन ऐसे लोग धरती पर हल चलाने लगेंगे, यह धरती क्या हमें शाप न दे देगी ! भाग्य ने हरिश्वन्द्र को चाण्डाल बनाया था ।” यह कहते हुए उसने आंखें पोछ लीं ।

अचानक हल अटक गया ।

“अब रहने दो ।” उसने फिर कहा, “यह काम हमारा है, हमारा विनाश न करो । बहुत हुआ । तुम थक गए होगे ।”

हल का अटकना मुझे बुरा लगा । बैल आगे नहीं बढ़ पा रहे थे । मैंने उन्हें ललकारा । बैलों ने हल को खींचा । मैंने जोर लगाया ।

मुझे पसीना आ गया था । मैं तरबतर हो गया था । भद्रक के नयनों में श्रभी तक आंसू थे । वह कहने लगा, “स्वामी ! रहने दो ! और परीक्षा मत लो ।” मैंने फिर जोर लगाया ।

किसान बढ़कर पास आ गया, उसी समय आवाज़ आई—खन्न ! खन्न ! भद्रक आगे बढ़ा ।

बैलों ने एक बार पूरा जोर लगाया और हल निकल गया । कोई काली-सी वस्तु उछलकर बाहर गिर गई और उसमें से खननन करके कुछ चमकदार-सी मैंली वस्तु विखर गई । उसने देखा तो आश्वर्य से आंखें फट गईं और वह चिल्नाया, “सोना !”

उसने उछलकर उसको छुआ और अपने हाथों में लेकर देखा । उसके नेत्रों को जैसे विश्वास नहीं हो रहा था । इतना सोना कभी नहीं देखा था उसने ! अंगूठे से दबा-दबाकर देखा । मैंने अनुभव किया कि हर्ष से उसका गला रुंध गया था । मैं स्तव्य खड़ा सोचता रहा । उसने मुद्रा को दांत से काटकर देखा ।

मुद्राएं मेरे सामने पड़ी थीं । “देखते हो,” उसने कहा, “इनपर किसी नाग की शक्ल बनी है । किसी नाग का धन है ।”

नाग का धन ! मैंने सोचा । कभी शायद यहां नाग रहते होंगे । कहां गए ? ये नाग ! कहां गया वह व्यक्ति, जिसने यह धन गाढ़ा था ! कहते हैं, किसी नमय इधर कुत्तबीर्य राज्य करता था, जिसने कक्षीक नाग को पराजित किया था । सैकड़ों-हजारों वर्ष पहले । कौन जानता है कव ! तब से यह सोना यहां पड़ा है । मुद्राएं हैं । परन्तु अनगढ़ । इनपर कुछ लिखा नहीं है । मुझे लगा, सब

कुछ दूम रहा था । भूख के मारे कलेजा मुँह को आ रहा था । मैंने कहा, "भूख लग रही है ।" उसने मुझे देखा । फिर मैंने कहा, "चलो, भोजन करें ।" हम दोनों खाने वैठ गए ।

किसान के सामने रोटी थी । मेरे भी । अलग-अलग पत्तों पर । एक-एक मिर्च । खेत का मामला था । यहां छाछ नहीं थी, न लौनी । उसीने बताया कि उसकी स्त्री बीमार थी । बड़ी लड़की छोटे बच्चों की देखभाल करती थी, इसीसे रोटी लेकर आ नहीं पाती थी । फिर ऐसा भी कहते थे लोग कि एक लकड़-बगड़ा आ गया था । तभी वह स्वयं रोटी से आता था । उसके बगल में एक कंपड़ा था । कौन-सा कंपड़ा ? उसका उज्जीश, जिसमें वह सोना बंधा था ।

वह मुझे बार-बार देखता था । उसके नयनों में कभी उल्लास की चमक आती, कभी गंभीर कालिमा बनकर भय और आतंक छा जाता है, जैसे वह जल्दी-जल्दी कुछ सोच रहा था । और मैंने देखा कि सोना क्या होता है । एक क्षण मुझे लगा कि मेरे जीवन की समस्या सुलभ गई थी । अब मुझे किसकी चिन्ता है ! मेरे पास सुर्खं है । अब मेरे पास शक्ति है । तभी मेरा ध्यान टूट गया । भद्वक बड़वड़ाने लगा । हाथ में रोटी लिए वह कहने लगा, "जानते हो ? यह खेत मेरे बाप के पास था । मेरे बाप के बाप के पास था । उसके भी बांने इसे जोता था । उसका बाप यहां दास था । फिर यह खेत हमारा ही गया । अब भेरा बेटा इसे जोतेगा । फिर बेटे का बेटा जोतेगा । लेकिन कभी भी इसमें हल की नोंक लगने से सोना नहीं निकला । हमारे हन से इसमें से अब उपता आ । उसे बदल में देकर हम चांदी पाते थे । लेकिन कभी सोना नहीं निकला । तुम्हारे हल चलाने के पहले ही तो मैंने उसी जगह से हल चलाया था । तब भी सोना नहीं निकला । और इतना सोना, जिससे पवका घर बना सकता है । बैलों की दस जोड़ी ले सकता है । आमूषण बना सकता है । इतना गोना ! सोना धरती में इतना भी है अतिथि ! सच बताओ !" उसका स्वर बदल गया, "तुम कौन हो ? तुम विद्याधर हो कि देवता ? तुम मनुष्य का हृषि धारण करते मुझे यह सब देने आए थे ?"

मैंने उसका आवेश और आतंक देखा । तब धीरे से कहा, "मैं न विद्याधर हूं, न देवता । जैसे तुम मनुष्य हो, वैसा ही मैं भी मनुष्य हूं । भूग्र और व्यामुझे भी लगती है । मैं भी तुम जैसा ही हूं ।" वह गुनता रहा । और तब

द्वाकर मैंने कहा, “तुम्हारी ही तरह सोना मुझे भी चाहिए, मैं भी इस समय व्याकुल हूँ।”

और तब मैं फिर खाने लगा।

कितना स्वदिष्ट भोजन था वह! मैंने अनुभव किया कि श्रम भूख लगाता है और अपने श्रम की रोटी का स्वाद कुछ और ही होता है। तभी मैंने सोचा कि बंदर रोटी इतना अधिक क्यों चाहता है। क्योंकि मनुष्य के जाल में से वह रोटी निकाल पाता है।

तब भट्टक के मुख पर निराशा खेलने लगी, “तो तुम भी मनुष्य हो! मनुष्य! भूख-प्यास! मुझे जैसे! धन तुम्हें भी चाहिए! व्याकुल हो!” हठात् उसने स्वर उठाकर कहा, “तो क्या तुम यह सब ले लोगे? कुछ मुझे भी नहीं दोगे?”

एक क्षण असंख्य विजलियां कौंध गई मेरे सामने। मैं ले लूंगा! क्या यह सब मेरा है! और तब मुझे याद आई मेरी पज्जा श्रम्मां! उसे भी ऐसे ही धन मिला था। मैं चिल्ला उठा, “नहीं, नहीं! मैं नहीं लूंगा, यह तुम्हारा है भट्टक! यह तुम्हारी धरती से निकला है!”

मैं उठने लगा तो उसने कहा, “मेरी धरती!”

और मैंने उसके स्वर में नई तरलता पाई। वह रोने लगा।

“तुम मनुष्य नहीं हो। तुम मेरी परीक्षा लेते हो।”

मैं देखने लगा। यह रोता क्यों है! शायद वह इतने अधिक भाववेश में या कि अपने को संभाल नहीं सका था। मैंने रोका, “भट्टक! यह सब तेरा है।”

“मेरा है?”

“हाँ, यह तेरी धरती है।”

“मेरी धरती!!! मेरी धरती तो यह चार पीढ़ी से है अतिथि! पर तब तो कभी नहीं मिला कुछ। यह सब तेरा है अतिथि! तूने इसे पाया है।”

मुझे अपने पिता की याद हो आई। मैंने कहा, “भट्टक! यह किसीका नहीं। जिसने गाड़ा था, यह उसीका नहीं हुम्हा। फिर मेरा यह क्यों होने लगा!”

उस क्षण भट्टक के नयनों में एक विचित्र सी घृणा दिखाई दी।

जीवन का विश्वास भी कितना गहरा होता है ! उसने कहा, “हां ! उसी का नहीं हआ, तो यह किसीका नहीं होगा ।”

“और,” मैंने कहा, “न जाने इसपर किसके मोह का संस्कार अभी तक अटका होगा । किसका हाहाकार होगा इसपर, जो मुझपर आएगा, मेरे कर्मों पर, मेरे जन्मान्तर तक, और तब मैं इसका दास बन जाऊंगा । मैं धर्म से अपना लूँगा । पुरुषार्थ से भाग्य के प्रलोभनों से लड़ूँगा ।”

मैं आगे बढ़ चला । मैं उस सबको छोड़ देना चाहता था । वह कितना कठिन काम था ! एक मन कहता था—ले ले, विदेश में काम देगा ; परन्तु, मैंने देखा था कि मेरे मनुष्य होने का नाम सुनकर ही भद्रक में स्वार्थ और हिंसा जागी थी कि कहीं मैं न ले लूँ । परन्तु जब मैंने नहीं लिया, तो वह स्वयं एक चलचल में पड़ गया था । मैं दूर हो चला । पीछे से आवाज आई । दौड़कर ती आकृति को मैंने पहचाना । वही भद्रक !

उसने आकर मेरे चरण पकड़ लिए । वह रो रहा था ।

“क्या है भद्रक !”

“स्वामी ! मुझे छोड़कर जा रहे हो ?” उसने भर्राए स्वर से कहा, “अपना सब अपने साथ ले जाओ । वह धन लेने से मेरे चच्चों का अनिष्ट हो जाएगा स्वामी ! सच कहता हूँ न ? नहीं, नहीं, यह सब मेरा नहीं है । मेरा होता तो मैं कभी का मिल गया होता । मुझे तो खेती करनी है । हल चलाना है । देखो ! हल पकड़ने से मेरी हाथ की रेखाएं ही मिट गई हैं । तीन हैं बाकी । ज्योतिषी कहते थे, “इतने दिन रहेगा, इतने दिन खाएगा, इतने दिन जिएगा, हृदय साफ रख ! वस ।—मेरे जीवन में और कुछ है ही नहीं । पीढ़ी दर पीढ़ी हम येत में काम करते आए हैं । मुझे इस विपत्ति में छोड़कर मत जाओ । मुझे पाप में मत छोड़ो । स्वामी ! उसे ले जाओ । उसमें से ऐसी गर्भी निकलती है कि मैं सह नहीं पाता । इतना धन सहने को कुल चाहिए, यर्यादा चाहिए, मामर्य चाहिए । मुझमें यह सब कहाँ है ? उसे देखता हूँ, तो मेरा सिर पूर्ण न गता है । मुझे लगता है, मैं पागल हो जाऊंगा । मैं तुम्हारे पांव पढ़ता हूँ । स्वामी ! मुझे बचा लो । मेरे अन्त का ऋण चुका दो, इसे ले जाओ । मैं ऋण मर्ही मानता, पर भाग्य देवता तो मानता ही हूँ...”

मैंने उसे देखा और देखता रहा । उसके नेश्वरों में कंसी पवित्रता थी, उसे

वह मुझसे पुण्य मांग रहा था, ऐसी विवशता में था कि यदि मैं उसे नहीं बचाऊंगा तो वह निश्चय पाप में फंस जाएगा। लोभ से लड़ते हुए आदमी को मैंने देखा था और अनुभव किया कि सोने में कितनी बड़ी ताकत होती है। अनुभव किया, वयोंकि मैं स्वयं लड़ रहा था उस लोभ से। एक क्षण जब मेरे पास कुछ नहीं था, तब उसने मुझसे सामने आकर कहा था, "मुझे देखो। मुझे ले लो।"

—मैं चला जाता, परन्तु उसने मुझे रोककर कहा था—मुझे पहचानो, भूल मत करो।—और वहाँ मैंने देखा था, मनुष्यों के बीच की शक्ति का माध्यम! (सुवर्ण) इसमें जान नहीं। बोलता नहीं। लेकिन मैं हूँ मनुष्य! आकाश और पृथ्वी के बीच चेतना का पूँज़। और मैं इसे देखकर कांप रहा हूँ। ऐसी है इस सोने की शक्ति। मैं आँखों से देखता हूँ, पर यह मुझे अन्धा किए दे रहा है। और इसकी ताकत का नमूना मैंने देखा है कि भद्रक ने जब जाना कि मैं मनुष्य हूँ, मैं भी सोने को चाह सकता हूँ, तब उसको आँखों में एक भयानक हिसा चमक उठी। मुझे नहीं मालूम किर क्या हुआ होता यदि मैं अडिग रहता। नहीं। मैं मृत्यु के भय से नहीं डरा। मैं डरा उस चौंक की भयानक ताकत से, जिसने भद्रक को पशु बना दिया होता! सोना! इतना घृणित! भविष्य का निर्माण इस सुवर्ण से होगा कि आत्मा से! कहाँ है वह नाम? (जिसने इसे गाड़ा) आत्मा कहाँ ले जा सकी इसे अपने साथ। ले गई आत्मा केवल कर्म! और भद्रक है यहाँ। गांवों में मैंने देखा है दारिद्र्य। परन्तु सन्तोष, वयोंकि जीवन एक नहीं है, एक परम्परा है।

"भद्रक!" मैंने कहा, "धन पाप है!"

"पाप!" वह चिल्ला उठा। और मैंने देखा कि मैं ही नहीं लड़ रहा था, मेरा पुढ़ देखकर भद्रक भी लड़ रहा था। सोच रहा था—वह कौन सा महान श्रन्त है जिसके लिए यह अतिथि इस सुख को छोड़ रहा है। निस्सन्देह वह और बड़ा होगा। उसने कहा, "तू मुझे धोखा नहीं दे सकता अतिथि! तू उस बड़े गुप्त को लेने के लिए यह सुख भी छोड़ रहा है! तो वह सुख कितना बड़ा होगा! वह सुख तू मुझे वयों नहीं बताता। आप जा रहा है उसे लेने! और मैं ऐसा हूँ कि मुझे इसमें कंसाए जा रहा है। तू भी इससे हिल उठा था। मगर जहर तू कुछ और जनता है जो देखकर भी हट गया। मुझे भी वही दे! वही दे दे मुझे, नहीं तो मैं पागल हो जाऊंगा। मैं पागल हो जाऊंगा!"

और भी बड़ी प्राप्ति ! भद्रक समझ रहा है, मैं अब भी स्वार्थी हूँ। मैंने कहा, "भद्रक ! वह प्राप्ति मैं तुझे दे नहीं सकता। वह तुझे आप पानी होगी।"

"मुझे बता श्रतिथि ! मैं उसे पाने का यत्न करूँगा।"

"तो अपने कर्म अच्छे कर। देख, यह कितनी भयानक चीज़ है ! जिस धरण तक तू समझता था कि इसे मैं लूँगा, तो ऐसा हो उठा था जैसे मुझे मार डालेगा, पर जब मैं छोड़ चला तो तू भी धवरा उठा। तूने समझा कि इससे भी ऊपर कुछ और है। भद्रक ! जब मैंने इसे छोड़ा तब तू मुझे प्यार करने लगा। जब मैं इसे लेना चाहता था, तू मुझे पशु समझता था और पशु बनने लगा था, पर जब मैं इसे नहीं चाहता, तू मुझे देवता समझता है, तू मुझे प्यार करता है। समझा भद्रक ! मनुष्य को मनुष्य से घृणा करनेवाला यह भयानक पिंशाच है। यह 'मार' है। यह मनुष्य के देवत्व का शम्रु है। समझ रहा है भद्रक ?"

भद्रक ने मेरा पांव छोड़ दिया और वह घुटनों पर सिर रखकर बैठ गया।

और सोचने लगा। घृप-पढ़ रही थी।

"तो," वह बोला, "मैं क्या करूँ श्रतिथि !"

और तब जैसे उसने निर्णय कर लिया। वह उठा और दोनों हाथ मुँह पर लगाकर चिल्लाया, "सुवीर ! माधव ! राम ! सिन्धु !!"

उसकी आवाज ऐसी धहरती हुई उठी कि हो-हो-हो-हो की ध्वनि मुगाई दी। मैं स्मझ भी नहीं पाया कि खेतों से लाठियाँ ले-लेकर भागते लोग आने लगे। मुझे लगा कि यह भद्रक की चाल थी। मामले को धर्म करने की ओर इसने गांववालों को बुलाया है, जो मुझे मार डालेंगे। मैं भागा, पर उसने मुझे पकड़ लिया। देखते ही देखते गांववाले था गए।

"क्या हुआ भद्रक !"

"बताता हूँ ! इसे पकड़ो !"

उन्होंने मुझे पकड़ लिया। मैं चिल्लाया, "छोड़ दो मुझे। मैंने कुछ नहीं किया।"

भद्रक ने हँसकर कहा, “तूने कुछ नहीं किया ? रोटी तुझे खिलाई तो यह बदला दिया ? देवता ? तू मुझे ठग रहा है ! ले जा अपना बन ! ले जा !”

सोना ! देखकर गांववालों के नेत्र फट गए । वे मेरे चरणों पर लेट गए और मेरे देखते ही देखते भीड़ इकट्ठी हो गई । स्त्रियों ने सोना देखा तो हृष्ट मन गई । एक बच्चे ने उठा लिया एक मुद्रा को तो भद्रक चिल्लाया, “पटक दे ! पटक दे !”

बच्चे ने भयभीत होकर ऐसे पटक दिया जैसे अंगारा हूँ गया हो । स्त्रियों ने मुझे दण्डवत् प्रणाम किया । एक वृद्धा ने कहा, “कितना सुन्दर है ! विलकूल हिरन की सी आँखें हैं ।” मुझे पसीना आ गया । वे धर्मरियां पहने थीं । स्तनों पर मोटे कपड़े के पट्टे थे । सिर पर ओढ़नी थी, पीछे लटकी । माथों पर बोरले चमक रहे थे । और केश ऊपर गूंथकर बंधे थे । कुहनियों तक चूड़े थे । पुरुष, एक धोती, एक उण्णीश । बच्चे, एक छोटी धोती, जांघों तक की । वही लड़के, वही लड़कियां पहने थीं ।

भद्रक ने कहा, “देखते हो ! कभी सुना है कि बड़े कुल का लड़का कहे कि मैं मेहनत करके खाऊंगा ? इसने हल चलाया । यह निकला । कभी निकला था ऐसे धन मेरे सेत से ? तुम्हारे खेतों में निकलता है ? बताओ किसका है यह ? ये सीका न ? पर कहता है, मैं नहीं लेता । मैं ले लूँ ? खुद तो कहता है, मेहनत करके खाऊंगा । मुझे कहता है, तू ले ले । खुद क्यों नहीं लेता ? कहता है अगला जन्म विगड़ेगा । मेरा नहीं है जन्म ? यह मेरी आत्मा पूर्व-जन्म के फल से तो किसान की देह में है; अब पाप किया तो मैं सूखर बनूंगा, मल के बीच का कीड़ा बनूंगा ।”

उसके ये शब्द सुनकर सबपर, मुझपर एक आतंक छा गया । नरक ! यातना ! भयानक !

एक वृद्धा आगे आई ।

“आजी !” उस समय भद्रक ने कहा, “तू कहती थी कि लोक का पाप एक भेतता है ।”

“हां बेटा !” वृद्धा ने कहा, “एक ही भेतता है । राजा ! राजा को एक घार नरक जाना ही पड़ता है । राजा ही इसे भेलेगा । राजा या लोक, इन दोनों में से एक भेतता है । यह धन राजा का है, क्योंकि दरती का मालिक तो

‘राजा है ! हम तो उसकी धरती के ऊपरी भाग के मालिक हैं, और भेहन्त से जो उगाते हैं, उसका वह हमसे भाग लेता है । भीतर की धरती हमारी नहीं, ऊपर की है, जैसे पेड़ हमारे हैं, राजा के नहीं । राजा की सीताभूमि¹ अपनी है, जैसे हमारी जोती भी अपनी है । धरती सबकी है, अकेले राजा की नहीं । वह सबको बेच नहीं सकता; कर लेने का अधिकार दूसरे को दे सकता है, पर हमें नहीं हटा सकता, क्योंकि हमारा खेत हमारा । उसी तरह धरती का स्वामित्व उसका है, परन्तु हम तो केवल ऊपरी सतह के मालिक हैं । धरती के भीतर की खान राजा की है, जैसे ही धन भी उसका ही है । राजा के पुण्य से प्रजा पलती है । पुत्र ! पहले जब गणराज्य थे, जैसे उत्तर में हैं—तब हमारे पूर्वज दास थे, हमारी कोई भूमि नहीं थी । हम विकते थे । किर अच्छा राजा आया । उसने कहा, ‘हम तुम्हें न्याय देंगे । धर्म की स्थापना करेंगे ।’ हमारे पूर्वजों ने उसने कहा, ‘हम तुम्हारे लिए अपने प्राण देंगे ।’ उसने कहा, ‘उठो और लड़ो ।’ वह आगे बढ़ा, हम पीछे; और तब उन अत्याचारी गणराजाओं को मार डाना और हमें धर्म दिया । तब हम दास नहीं रहे । पहले राजा की सारी धरती थी । अब राजा केवल कर का मालिक है । यह धन राजा को दे दो ।”

मैंने सुना ।

सबपर से बोझ उत्तर गया । वे मुझे ले गए । गांव में शाम को नाच-गान्‌मृदु हुआ । स्त्री-पुरुष खूब नाचे । एक वृद्ध ब्राह्मण मुझसे मिले । वोले, “वैश्य-पुत्र हो ?”

मैंने प्रणाम किया ।

वोले, “बैठो, बैठो !”

बातचीत में पता चला कि उनके तीन पुत्र थे । तीनों नगर चले गए । परन्तु वे नहीं गए थे । मुस्कराकर वोले, “थेठिपुत्र ! ब्राह्मण जब नगर में चला गया तब उसका मीरव घट गया । नगर वैश्य और धर्मिय तो जगह है । ब्राह्मण कौन है ? जो शील का आचरण करे । वह पृथ्वी का देवता है । वैश्य में धर्म स्थित है, परन्तु वह उसे भुला गया है ।” और भी बहुत कुछ कहा । फिर वोले, “एक ब्राह्मण आए है । उनपर

पर रात को वे कथा सुनाएंगे । आना तुम भी । उसमें सब जातियों के लिए स्थान है ।”

मैं भी गया । आगे ब्राह्मण-युवक थे । क्षत्रिय-वैश्य भी थे । शूद्र भी । केवल अन्त्यज नहीं थे ।

बृद्ध ब्राह्मण जितारि भी थे । कर्मकाण्डी ब्राह्मण अवश्य वहां नहीं थे, जो इस प्रकार सबसे नहीं मिलते थे । मैं जिन-मतानुयायी था, परन्तु कौतूहल से बैठा रहा । व्यासपीठ पर एक बृद्ध आ बैठे । वे ब्राह्मण थे । उन्होंने जय काव्य सुनाना प्रारम्भ किया । स्वर कितना मीठा था ! उपरिचरवसु की कथा थी, जिसमें उसने श्रहिंसा से यज्ञ का प्रतिपादन किया था ।

दूसरे दिन भद्रक और अन्य ग्रामीण खेत में प्राप्त हुए धन के साथ राजा के पास चले । मैं उनके साथ तैयार नहीं हुआ, न गया । उन्होंने बहुत कहा । फिर वे बोले, “तुम ठहरो ! हम हो आते हैं ।” मैं समझ गया कि राजा से वे मेरे बारे में अवश्य कहेंगे । मैंने कहा, “वे मुझे बुलाएंगे । और मैं नहीं चाहता कि मेरे घरवाले भेरा पता जान पाएं । राजा को मुझे बताना ही पड़ेगा ।” तब वे मुझे छोड़ गए, पर आश्वासन ले गए कि उनके लौटने तक मैं गांव में ही रहूँगा । यह मैंने स्वीकार कर लिया । वे चले गए । ग्रामणी भी उनके साथ था । वह तो भद्रक का चेला ही हो गया था । भद्रक छोटा देवता था, मैं बड़ा देवता था । उनके जाने पर आजी से मेरी खूब बनी । आजी ने अपने कई किसी मुझे मुनाए । मोटी रोटी और मट्टा खिलाती । दूध पिलाती स्त्रियां, जो भागी हो गई थीं मेरी । आजी के गीतों से मुझे पज्जा अम्भां की याद हो आती और मेरी आंखें गीली हो जातीं । मैं भी आजी का काम करता । शायद मैं उसी गांव में रह जाता, पर सभी नगर से लौटे, भद्रक ने बताया कि राजा ने वह धन नहीं लिया । कहने लगे—जो धन कोई न ले, उसे मैं क्यों लूँ ? क्षत्रिय का धर्म है जीतकर लेना । दान लेना तो ब्राह्मण का काम है । तुम इसे गांव में लगा दो ! लोक में बन्टने पर धन का पाप-पुण्य नहीं रहता ।

भद्रक को गांव के पुराने ग्रामणी ने ग्रामणी बनवाया था, स्वयं पद से हटकर । तब राजा ने उसका त्याग देखकर उसे सीमा पर बन-प्रान्त के अहेत्यों और अन्य जातियों से कर लेनेवाला नियुक्त कर दिया और राजा स्वयं उस वैरप-पुण्य को देसने आनेवाले थे ।

यही मैं नहीं चाहता था । अब जब रात घनी हो गई, मैं बिना किसी कुछ कहे चुपचाप वन में घुस गया । मैं एक ऐसा संसार छोड़े जा रहा हूँ जिसमें मुझे एक अंजीव वात दिखाई दी थी कि सब देते को देते थे ।

वन भयानक था और भय भी हुआ, पर पकड़कर घर पहुँचा दिए जाने के कल्पना मुझे डरा रही थी । सारे गांव के लोग कहते थे कि देने से पुण्य होते हैं । राजा को दिया तो उसने भढ़क को पद दिया । ग्रामणी ने पद छोड़ा और सहर्ष छोड़ा तो उसका भी पद बढ़ गया । अवश्य वह सोना बुरा था, तभी तो उसे छोड़ने के फल से इतनी शीघ्रता से इतना अच्छा परिणाम निकला । यों बहुत दूर निकले गया और तब थककर एक जगह बैठ गया । अवश्य ही मेरे जाने से गांववाले परेशान हुए होंगे । पर मैं और करता भी क्या ! वहाँ रहने से तो मैं पकड़ा जाता और तब किर वही भाई मिलते, जिन्होंने मुझे गृहीन बना दिया था ।

सांझ का समय हो गया । मुझे पशुओं के गलों की धंटियों की आवाज सुनाई दी । समझ गया मैं कि कोई सार्थ आ रहा है ।

स्थूलकाय सार्थवाह ताप्रलिप्ति का निवासी था । मैंने उसके साथ चलने की अनुमति मांगी । एक बार संदेह से उसने मुझे देखा और कहा, “आगे आगे चलो । तुम्हारे पास कुछ नहीं है ? डाकुओं के कोई गुप्तचर तो नहीं हो ?”

‘मैंने हंसकर कहा, “होता तो आपके पास आता ?”

मैं सार्थ के साथ हो लिया, उसने भी चिन्ता नहीं की । उसके साथ धनेक शस्त्रधारी भूत्य थे । मैं बेचारा अकेला बया करता ! परन्तु इन नागरियों की बातों ने मुझे फिर चालवाजियों की यादें दिला दीं । तो बया ग्रामीण चानाम नहीं होते ! होते हैं अवश्य । उस ग्राम की स्मृति एक श्रावेश के क्षण का इतिहास था । श्रावेश के क्षण में मनुष्य उठ जाता है, फिर गिर जाता है, जैसे मैं स्वयं उस समय उठ गया था । तब मेरा मन कितना हल्का था ? नया यह प्रब पहले की तुलना में भारी नहीं हो गया था ?

नर्मदा आगई । सार्थ रुक गया । सब दोनों उतारकर खाने-पाने की ओर नामे, मैं तीर पर खड़ा होकर देखने लगा । प्रशस्त धारा फैली हुई थी । जाते ही की अन्तिम किरणें पड़ रही थीं और जल की छपरी पतं पर चमत्कारी ही थीं । क्षितिज लगल हो गया था, अंगारेन्सा । मैं मंत्रमुग्ध-गा देरता रहा ।

प्रकृति कितनी सुन्दर थी ! कितनी प्रशस्त ! आकाश में पक्षी लौट रहे थे ।

उत्कल का एक सैनिक भेरे पास आ खड़ा हुआ और मुझसे टूटी-फूटी संस्कृत में बोला, "यात्री ! कहां जाओगे ?"

मैंने कहा, "नर्मदा के पार ।"

"कहां ?"

मैं शीघ्र नहीं बता सका ।

उसने कहा, "हमारे साथ ही चलना ।"

इस समय उसे किसीने बुला लिया । नर्मदा की धारा पर बहती हुई नावें बहुत ही सुन्दर लगती थीं । किसी-किसीमें दीपक जल रहा था । उत्तरा अंधकार, आकाश में तिरोहित होती ललाई, उड़कर हज्ब से लोप हुए पक्षी और स्निग्ध चमकीली शिखावाले दीप, फिर माझियों का गीत…

ओ माझी, पतवार चला…

तेरे जीवन का यंत्र वहां तक है जहां तक सागर करबट लेकर आकाश बन जाता है…

वहां पूर्वजों की आत्माएं रहती हैं, जो तेरे लिए ऊपर आकाश में चढ़कर दीप बन जाती हैं, नक्षत्रों की भाँति चमकती हैं…

वह पुण्डवानों का नाम है जो चमकता है…

मांझी ! सुवर्णभूमि, वहिणदीप और बावेह तक की लहरों पर तूने अपनी पतवार से धर्म की गाया लिखी है । भाग्य देवता तेरे हर लेख-जोखे को रखता है, तेरी पत्नी, तेरे बच्चे तेरे लिए सूर्य देवता के फेरे गिनते हैं…

अनन्त आकाश में भरती हुई वह ध्वनि… फिर कभी-कभी वृक्षों की सुर-सुराहट, एक और अस्पृश्यामता बनभूमि…

मैं एक और चल पड़ा… पता नहीं क्यों ? वह बन कितना घना था ! मैं ऊपरे में ऊपर वयों चला ? वहां कुछ दीख रहा था मुझे । देखा जाकर पास । एक पेड़ के नीचे दोनों ओर पत्थर रखकर चूल्हा बना था, किसीने यहां कभी आग ललाई थी, शायद यहां जाना पकाया होगा । यही था मनुष्य के बास का चिह्न । पास ही एक चैत्य (चौतरा) था, जिसपर शिवलिंग धरा था, निर्जन

बन में। कभी मनुष्य यहां भी रहा होगा। किसीने यहां खाना भी बनाया होगा। तो मैं यहां पहला आदमी नहीं हूं, उसने भी ऐसे ही सूर्य को इबते देखा होगा!

यह कितनी विचित्र अनुभूति थी कि मुझसे पहले भी धरती के इस दुर्कृपा पर मनुष्य रह चुका था। आया था, चला गया था। जैसे मैं आया हूं और चला जाऊँगा।

तभी जन की आवाज आई।

मैं समझा नहीं। तभी विचार कौंधा कि शायद यह बाणों की वर्षा है। फिर भयानक द्वितीकर सुनाई दिया। लगा, उनका प्रहार सफल हो गया। फिर शस्त्रों की छड़खड़ाहट।

उफ! अब सार्थ के लोग सन्देह हुए होंगे।

अब मैं समझा। यह तो जान का खेल था।

फिर भगदड़ और धोड़ों की हिनहिनाहट। मैं और पीछे खिसकने लगा।

डाका पड़ा था। सार्थ पर आक्रमण हुआ था डाकुओं का। मैं भाग नहीं।

उस क्षण मुझे ऐसा भय हुआ कि मैं नहीं कह सकता।

बहुत दूर निकलने पर मैंने देखा कि मैं नमंदा के दूसरे स्थान पर किनारे पर ही निकल आया हूं। उस समय चन्द्रमा उठने लगा था और उजाला लंगूल चला था। निजें सांय-सांय से वह स्थान सनसना रहा था। मैं श्रेष्ठ नेतृत्व प्राणी था। शायद मेरे अतिरिक्त भी कुछ और थे, वयोंकि मेरी उपस्थिति से एक पक्षी उड़कर दूसरे दृश्य पर चला गया। शायद ही और भी पक्षी रहे होंगे। यहां इस जगह जहां मनुष्य नहीं रहते, पशु-पक्षी रहते हैं; प्रीति भय की सत्ता से जैसे उहाँ कोई मतलब ही नहीं। वे मनुष्य के दिना भी रहते हैं। हठत् प्रश्न हुआ: क्यों रहते हैं? मैं तो डाके में से भी बच गया था! ये बच गया था? दोनों ही बातों में बड़ी उलझन थी।

मैंने सोचा, मैं बच गया था, वयोंकि मुझे ग्रामी जीवित रहना गा। यह भाग्य नहीं था तो था ही वया? वया इसे केवल आकस्मिक पटना पढ़ा और सकता है? बन के डाकू कितने भयानक होते हैं! परन्तु वे भी मनुष्य रहते हैं। यन्मृति में राजा राज्य करते हैं। अपनी सीमा में दण्ड से शान्ति रखते हैं। यन्मृति में लोग मरते हैं। कौन? अधिकतर चेश्य और व्यापारी। पर्यो? वयोंकि उन्हें

पास माल होता है। वे ही क्यों जाते हैं ऐसे? लाभ के लिए। लाभ क्यों चाहते हैं वे? क्योंकि वैश्य का धर्म है व्यापार करना। व्यापार का अर्थ ही लाभ है। परन्तु यह संसार भी कैसा विचित्र है! क्षत्रिय का कर्म ही कूर है और वैश्य का कार्य ही लाभ पैदा करना है। लाभ क्या है? वस्तु के मूल्य में दूसरे की आवश्यकता को जोड़ देना और उसकी विवशता को बीच में डालकर अधिक वसूल करना। परन्तु यह न हो तो कारीगर कुछ बनाए ही क्यों? वस्तुओं के आदान-प्रदान का क्रम तो चलेगा ही। तो व्यापार होगा ही। और होगा तो जान पर खेलना भी पड़ेगा ही। यह तो एक चक्र हो गया।

थककर मैं किनारे की धास पर लेट गया और सोचने लगा—अब मैं कहीं नहीं जाऊंगा। यहीं रहूंगा। एकांत में। पक्षियों से मैं मित्रता करूंगा। फिर कन्द-मूल खाऊंगा। यह एक परिवार हो जाएगा!

फिर परिवार! यह कैसी भूख है? परिवार! फिर यदि इष्ट्या हुई तो? तब भाभी सुभासा याद आई। उन्होंने कहा था तब, 'देवर! तुम बहुत अच्छे हो! तुम्हारे भैया तुम्हें नहीं चाहते।' यह कहते हुए भाभी कैसी ग्लानि से भर गई थीं! जैसे पति का पाप उनका अपना पाप था। वे अर्धांगिनी ठहरीं। जीवन-मरण में उनका साथ जो है। स्त्री को तो पति के साथ सब कुछ भोगना होगा। लेकिन कहते हैं कि पतित्रता के पुण्य से सब पाप दूर हो सकता है।

आकाश में चन्द्रमा अब पूर्ण तेजस के साथ विराजमान हो गया था। पूर्णचन्द्र का भी बड़ा वैभव होता है। दूध-सी चांदनी लोक की विश्रांति को जैसे पी जाती है।

अचानक मुझे लगा, कुछ बहता हुआ नदी पर आ रहा था। यह क्या होगा? होगा कोई लकड़ी का टुकड़ा। मैं उधर ही देखने लगा। फिर लगा, उसने हिलना शुरू किया। तो शायद कोई तैर रहा होगा। पर मेरी आंखें उधर ही लगी रहीं। कैसी भी चांदनी हो, वह बदली में घिरे सूरज की छिपी किरणों की भाँई के बराबर भी उजाला नहीं कर सकती। सौंदर्य की यह निर्वलता मुझे दुरी लगी। अच्छी होती है वह कुरुपता ही जो सत्य को सत्य के रूप में दिसाती है।

तभी मानो मैं सनसना उठा। वह बहती हुई चीज बीच धार में थीं! वह तो मनुष्य-सा लगता था। विना कुछ और सोचे हुए धारा में मैं कूद पड़ा और

उस ओर तैरने लगा । मुझे यह सोचने में देर नहीं लगी कि वहां कोई हूँव रहा था, या हूँव चुका था जो अब वहां जा रहा था ।

तब जीवन में पहली बार मैंने श्रनुभव किया कि तैरना जानेवाला आदमी कभी भी हूँवते को बचाए बिना नहीं रह सकता ; चाहे उसे कैसा ही संकट भेलना चाहे न पड़े । ऐसे ही जैसे कोई महापुरुष लोक के उद्धार के लिए कष्ट उठाता है । और आखिर मैंने उसे पकड़ ही लिया । परन्तु जब घार छोड़कर किनारा देखा तो पता चला कि मैं तो मंझधार तक आ गया था ।

अब मेरे हाथ-पांव फूल रहे थे । लगता था अब हूँवा, श्रव हूँवा । तो क्यों इसे छोड़ दूँ ? मन ने कहा, 'मरने दे इसे, अपने को बचा पहले ।' फिर भीतर से आवाज़-सी आई, इस समय तुझे देखकर कोई यहीं कहे तो ! बचा उसे, बचा अपने को धनकुमार । मैंने आंख बन्द करके तीर्थंकर पाद्वर्णाश का स्मरण किया और घारा पर अपने को छोड़ दिया ।

जब मैं किनारे पर पहुँचा, निःशक्त-सा पड़ गया । जिसने दूसरे को बचाने के लिए मंझधार पर अपने को छोड़कर बीतराग की शरण ले ली, उसे बीतराग के पुण्यों के प्रभाव ने नदी मोड़कर किनारा दे दिया । नदी मुँड गई थी । मैं तीर पर आ गया था । बीतराग का पुण्य अक्षय होता है और लोक के निए ही होता है । कब तक मैं पड़ा रहा, वह मुझे याद नहीं है श्रव । आंख पुकार पर मैंने देखा, मेरा साथी है या नहीं । तब पता चला कि जिसे मैं बचाने गया था, वही मुझे बचा लाया था । आत्मरक्षा के किसी अज्ञात क्षण में मैं उसी देह से चिपट गया था और उसने वहुत हुए मुझे बचाया । वह तो शब्द था । गर्भ अधिक नहीं फूला था । अभी प्रति विकृत भी नहीं हुआ था ।

इस स्थान पर चांदनी आ रही थी । मैं निःशक्त-सा पड़ा रहा । हवा भी सांय-संय बढ़ रही थी । कौन था यह जो मर गया ?

निजंन बन में शब्द को देखा । कितना ठारवना था सब ! शब्द के यसी फट गए थे । प्रायः नंगा था वह । था कोई तरुण ही । मैंने सोचा श्रीर रहा : हाल ही में मरा है कोई यात्री । शायद नदी में प्राण बचाने को कूदा है ।

कितनी विभीषिका थी ! चट्टमा की ज्योत्सना मात्रों बन में दरती हुई पूर्ण रही थी । और अचानक ही मेरी आँखें उस शब्द की जांघ पर पढ़ी । जांग पट गई थी और उसमें कुछ चमक रहा था । मैंने कौतूहल से निकाला उसी ।

नहीं था । अब पानी था शव में । निकले बहुमूल्य रत्न, जिसपर चांदनी चमक उठी । कैसी तड़प थी उन रत्नों में ! मैं देखता ही रह गया । एक आवेश-सा भर गया मुझमें । शव में से रत्न ! निर्जन वन में रत्न । जहां वृक्षों पर यक्ष कोई यात्री है जिसने दूसरों से बचाने को रत्न अपनी जांघ में सी लिए थे, तभी जब प्राणभय से पानी में कूदा, पीड़ा से तैर भी नहीं पाया और मर गया, और तब रत्नवाला धाव भी मेरी टकराहट से फट गया और निकल आया मेरे सामने उसके जीवन का चिरसंचित कोष ! बहुमूल्य हैं ये रत्न ! क्या यह अपने जीवनकाल में इन रत्नों को मुझे दे देता ? लहू पी लेता मेरा ! इन्हींको बचाने कूदा था यह जल में । अब, अब यह कहां है ? ओ यात्री ! देख, मैं बैठ हूं । देख, मैं डाकू हूं । तुझे बचाने गया था और अब तुम्हे लूट रहा हूं । रोक ले मुझे !

तब उस निर्जन कान्तार में मैं हँसा । पता नहीं मेरा हास्य विकराल था या नहीं, परन्तु पक्षी डर से चिल्ला-से उठे । मैंने फिर कहा : अब तू मुझे नहीं रोक सकता ! मनुष्य के भीतर भी धन समा गया है । किन्तु यह उसका नहीं है । वह व्यर्थ ही उसके पीछे पागल हो उठा है । अपनी जांघ चीरकर सीते हुए भी इसे दर्द न हुआ ! ऐसा है यह धन !

रत्नों पर चांदनी चमक रही थी । मैंने उन्हें वहीं पटक दिया और तब मैं रोने लगा । मैं चिल्लाने लगा, “पज्जे अम्मां ! कहीं किसी दिन तेरा धन वत्स भी तो ऐसे ही नहीं मर जाएगा ? क्या वह भी धन के लिए ऐसे ही तो पागल नहीं हो जाएगा ? धन ! धन ने संसार को पागल कर रखा है । पज्जे अम्मां ! संसार का यात्री मनुष्य क्या कभी इस लोक की किसी संपदा को अपने साथ ले जा सकेगा ? मैं इस धन से घृणा करता हूं । मैं इससे घृणा करता हूं ।

फिर वही धन ! मुझे उस शव से अत्यन्त स्नेह हो आया और मैंने उसे उठाकर फिर नदी में वहा दिया और पानी में उतरकर मैंने अपने को सिर तक दुशा दिया । यह मेरा स्नान था या मैं उस गर्भ को छोड़ना चाहता था । जब मैं तीर पर आया, मन ने कहा : धनकुमार ! धन ले ले !

मैं ले लूं ? शव का धन ! यही क्या कर गया इससे जो मैं ले लूं ?

“तुझे किसने दिया है यह धन !” किसी ने कहा, “मूर्ख ! धन तो जीवन

के लिए है। संकट-तो है ही। ले ले।”

“नहीं, मुझे नहीं चाहिए।”

“अच्छा, किसीको दे दीजिए इसे।”

कौन बोला यह? क्या तू मुझे धोखा देता है? यह जो पड़ा था यहां! वह यात्री!

वह तो तत्त्वों में मिल गया।

लेकिन मैं रोया था न?

उसे किसने सुना?

क्यों नहीं सुना? काल साक्षी है। यह जो निर्जन के वृक्ष हैं, पक्षी हैं, यह सब क्या आत्मा नहीं रखते?

तो क्या तू बनस्पति खाता नहीं? अरे प्राणी से प्राणी जीवित रहता है।

पता नहीं कब नदी-तीर के सिवारों के पीछे चंदा झूब गया और कब उजाला छाया? जब मेरी आँख खुली, मैंने देखा कि मैं नरकुलों के पास पड़ा था और पक्षी कुदक रहे थे। मैं उठ वैठा। तब देखा, मेरे सामने ही रत्न पड़े थे। अब देखा! कितने बहुमूल्य रत्न थे वे!

धनकुमार! तो क्या यह धन तेरे पास आया है? हां। तो मैं ले लूँ? ले ले। यहां पड़े रहेंगे तो इनका लाभ ही क्या है? हां सच! पत्थर के टुकड़े हैं। पशु और पक्षी तो इन्हें छुएंगे भी नहीं। इसके बराबर उसे इस बन के पीछे के फल की जितनी कीमत है, क्या पक्षी के लिए इन रत्नों की भी है? इस छोटे फूल पर तितली उड़कर आ चैठी है। वह एक बार भी तो इन रत्नों को नहीं दूती। तो क्या मनुष्य ही पत्थरों का प्रेमी है? क्योंकि ऐसे पत्थर कम मिलते हैं। क्योंकि इन पत्थरों में; बदले में कुछ भी सरीद नहीं पड़ता कृत है। किन्तु क्या यह कभी निःस्वार्य प्रेम भी खरीद सकेंगे? नहीं। वह असम्भव है।

मुझे भूख लगने लगी। मैं कितना दयनीय हो गया! कंद-मूत्र गोजने लगा। उन बहुमूल्य रत्नों में से एक भी ऐसा नहीं था, जो मेरे जीवन का आधार बन पाता। और तब मैंने सोचा कि उन्हें द्योढ़ जाऊं। हाथ ने उद्योग कर एक फेंका। नर्मदा की घृतल धारा में सिंक एक कंकड़ी गिरने पाए गई। आवाज आई।

फिर ध्यान आया। अब यहां से चलूँ कैसे? वह सन्नाटा मुझे डराने लगा। मुझे लगा, जब तक मेरी आत्मा वृक्ष में नहीं वसती, तब तक ऐसे निजंन में मैं नहीं रह सकता। सारे बन की सांय-सांय मुझे डराने लगी और मैं उठ खड़ा हुआ।

वह दुःख की कथा है कि मैं वहां से रत्न लेकर ही निकल आया, और विद्याटवी आ गई जब मैंने एक नाव पर नर्मदा को पार करके नई धरती पर पांव रखा।

सधन बन। विद्या का मैं क्या वर्णन करूँ! कहते हैं, हिमालय का भी सौंदर्य है, पर विद्या का और ही है। वह छवि-वर्णना मुझे इस समय इतनी योद्धा नहीं आती, जितनी यह कि मैं उस सौंदर्य से आतंकित हो गया था और मैंने सोचा था कि यहां एक दिन नल-दमयन्ती की प्रेम-गाथा की वेदना का स्थल था। उस दिन क्या मनुष्य के हृदय में आज की ही सी कचोट नहीं उठती थी। तब मैंने सोचा था कि यह विद्याचल क्या सदैव ही मनुष्य को इसी प्रकार अपने से डराता रहेगा! सौंदर्य में एक आतंक होता है यदि वह महान हो। विशालता की गरिमा सदैव ही मनुष्य को लघुता को जगाकर उसकी महत्वाकांक्षा को जगाती है। और याद आया कि यहां एक दिन दण्ड ने अपनी सेनासहित पड़ाव डाला था, जब ब्राह्मणों से उसका युद्ध हुआ था। युद्ध और हत्या की न जाने कितनी कथाएँ यहां बन चुकी हैं। यक्ष, गंधर्व, राक्षस, अमुर, विद्याधर और न जाने कितनी जातियां यहां आईं और संसार से सदा के लिए लुप्त हो गईं। यह दुर्दमनीय गिरिमाला कब से पड़ी है यहां! यहां से एक दिन अगस्त्य ने लोपामुद्रा के साथ उत्तर से दक्षिण की यात्रा की थी, जिसके बारे में अब तक प्रसिद्ध है कि उसने एक दिन इस उन्नत गिरि के मस्तक को भी भुका दिया था। क्या मनुष्य के साहस में इतना बल है? इतना महान है यह मनुष्य! और यही भूमि है, हां यहां अनेक जंगली जातियां आईं और न जाने कहां-कहां फैल गईं। किरात और न जाने कौन-कौन? कभी कोई कवि होगा तो अवश्य इस बन के सौंदर्य का भी वर्णन करेगा। प्रथम ही राम ने भी लक्षण के साथ सीता को लेकर इसे पार किया होगा और विद्याधर रावण और सुग्रीव से वे मिले होंगे। मैं कितनी प्राचीन भूमि पर चल रहा था! सामने से एक व्यक्ति आया।

यह एक शिकारी था। कमर में खाल बांधे था। सिर पर पंख लगे थे।

कक्षेश मुखाकृति । रंग का काला ।

मुझे देखा तो बोला, “यात्री ! कौन हो ?”

मैंने उत्तर दिया, “यात्री हूँ ।”

उस समय कमर में लगे वे बहुमूल्य रत्न कसमसा उठे और मुझसे जैसे बोल उठे—धनकुमार ! तेरी कमर में हम बंधे हैं । इसे न भूल जाना ।—मैंने अपने मन से कहा : याद है । और मौका पड़ा तो इन्हें फैंक भी दूंगा । इन पत्थरों के लिए जान तो नहीं दूंगा ।

शिकारी मुझे अपने नगले में ले गया । वह किरात नहीं निकला, शवर या ।

मेरे लिए उसने एक कम्बल डाल दिया । मैं बैठ गया । शायद उनके यहाँ कभी-कभी यात्री आते रहते थे ।

एक वृद्ध पास आया । आँखों में उसके ढीढ़ थी । काला, मंता । देह से बदबू आ रही थी ।

“बाह्यण हो ?”

“नहीं ।” मैंने कहा ।

“तो बैश्य होगे ?”

“हाँ, बैश्य ही हूँ ।”

“हाँ, यही दो हैं जो इवर-उधर यात्रा करते रहते हैं ।”

एक युवती एक बच्चे को दूध पिलाती हुई वहीं आ खड़ी हुई । उसके दांत उसके काले मुख पर चमक रहे थे ।

युवती ने कहा, “अभी कुछ ही दिन हुए, एक ब्राह्मणों का दल दक्षिण गया था ।”

बहुत-सी बातें हुईं । तब मैं उठकर उनके नगले को देखने लगा । घर वे दूर-दूर बनाते थे और बीच-बीच में उनकी बाड़ी होती थी । मैंने उनमें तरह-तरह के साग देखे । एक जगह एक घण्टा लटका था, और वह पण्टा नोहे था । जब वजता था, तब उनके कुत्ते भीकते थे, मुर्गियां भागती थीं । शवर वृद्धों ने बताया कि वे सृष्टि के प्रारम्भ में हिमालय में रहते थे, पिर पार यार यहाँ विद्युती में आ वसे थे । वे सब एक तूंबी से पंदा हुए थे । तूंबी पर्याप्त तो बीज निकले । तब शिव ने उन्हें शवर बना दिया ।

“हम वनों में रहते हैं,” बृद्ध ने कहा, “नगर में केवल पशुचर्म और ऐसी ही चीजें बेचते हैं। परन्तु तुम लोगों में बहुत पाप है। हम घास का दाना बीन-कर रोटी बनाते हैं, फिर भी कभी चोरी नहीं करते। हमारे वाण न हों, तो तुम्हारे डाकू हमें लूट खाएं।”

रात घिर आई। अधेरा हो गया। अग्नियां जलने लगीं। आदिम और प्राचीन भूमि में वे अग्नियां मुझे सांत्वना देने लगीं। वन में हित्र जन्तुओं की गर्जनाएं सुनाई देने लगीं। परन्तु किसीने भी मुझे लूटने की चिन्ता नहीं की।

“खाओ!” युवती ने मांस मेरे सामने रखा। मुर्गा था।
“मैंने देखा। सोचा—ये लोग साथों को लूटते तो हैं। शब बनते हैं। हो सकता है वे और हों, ये नहीं हों। युवती की आँखें गड़ी थीं।

“नहीं,” मैंने कहा, “मैं यह नहीं खाता। यह मांस है।”
वे हसने लगे। तब एक से घास के दाने की रोटी मेरे सामने रखी। भूख तेज़ थी। मैं उसे खाने लगा। सच! वह मुझे स्वादिष्ट लगी। मेरी मर्यादा कहाँ गई? वह पवित्रता किधर चली गई? पर सोचा—व्यापारी सब खाते हैं। सब जगह जाते हैं। वे तो म्लेच्छ भूमियों में भी जाते हैं।

परन्तु उस याद में शब ही क्या? वह तो याद थी। आपद्धर्म या वह! किन्तु जीवन क्या यादा नहीं है? तो क्या सारे जीवन हमें आपद्धर्म विताना है? सच! और सत्य ही ही क्या? जीव, जीव को खाए और अहिंसा की बात करे! क्यों खाते हैं भजा? जीवित रहने के लिए ही तो! तो यह भी क्या

मैं बहु चला । मन में अत्यन्त उत्साह था ।

नगर के बाहर धनिकों के विशाल सुन्दर उपवन बने हुए थे, जिनमें आपानक भूमि भी थी । कहीं-कहीं चैत्य दिखाई देते थे । उनको अस्वत्य वृक्षों की छाया ने सुहावना बना दिया था । नगर में मदिरा की दूकानों पर सुन्दरियां बैठी गाहकों का मन मोह रही थीं । पुरपटान इस उज्जयिनी का छोटा रूप था । उज्जयिनी विशाल थी । जिधर देखता था उधर ही सुन्दरता थी । मेरे दस्त्र साफ नहीं थे । रत्न देचना संदेह का काम था । मैंने अपनी सोने की अंगूठी देच दी और जाकर सुन्दर दस्त्र खरीदकर पहने । जब मैं महाकाल के मन्दिर के पास पहुंचा, मैंने देखा—ब्राह्मण मन्त्रोच्चार कर रहे थे । वे शैव ब्राह्मण थे, जो बीच-बीच में वेदमन्त्र भी बोलते जाते थे । पुरपटान में अभी तक कर्मकाण्डी ब्राह्मण शिव मन्दिर में नहीं जाते थे, यद्यपि वे शिव को प्रणाम अवश्य करने लगे थे । उत्तर के ब्राह्मण दक्षिण के ब्राह्मणों से अधिक भले थे । शिव के नागभक्त भी इनके मित्र थे । बल्कि बहुत-से नाग भी ब्राह्मण हो चुके थे और देव को उन्होंने भी बैसा ही अपना लिया था । वे भी अब अपने को आर्य कहते थे ।

मैं भोजन के प्रवन्ध में लगा । अन्त में मैं जिन-मतानुयायियों की धर्मशाला में पहुंच गया, जहां मैंने बहुत दिन बाद भरपेट भोजन किया । आगे के लिए मैंने दूसरे दिन सबेरे ही धर्मशाला से निकलकर अपने कर्णकुण्डल बेच दिए । स्वर्ण के उस आभूषण के मूल्य से मैंने बहुमूल्य वस्त्र पहने और तब मैंने सबसे धोटी मणि ले जाकर हाट में बेच दिया । उससे मुझे काफी सुवर्ण मिला । मैंने जाकर एक प्रतिष्ठित वेश्य के यहां उसे जमा किया और ध्यापार में भाग पा लिया । यह पुरपटान का सा ही हुआ ।

दुपहर हो गई थी । तब मैं नगर में घूमने निकला । वेश्याओं की विदान अट्टालिकाओं के पास से निकलकर मैंने मुख्य पथ देखा और तब पता चला कि आज पश्चिम के तालाब पर राजा परीक्षा लेनेवाला था । कौतूहल ने मुझे

दूर पर था । मैं बैठ गया ।

मैंने देखा कि तालाब गोल था । काफी बड़ा था । जल के दीचोबीच में एक स्तम्भ गड़ा था । वह काफी लम्बा था । उज्जयिनी के महाराज चण्डप्रद्योत के बारे में मैं सुन चुका था कि वे बड़े क्रोधी थे । उनके पास बहुत बड़ी सेना थी । परन्तु देखने का अवसर आज ही आया था । नगर के गण्यमान्य कुलीन, और पराक्रमी लोग प्रतीक्षा में उपस्थित थे । तभी एक फुसफुसाहट व्याप गई ।

महाराज ! महाराज ! सुनकर मैं भी खड़ा हो गया । जय-जयकार के बीच एक पैतीस वर्ष का भव्य व्यक्ति स्वर्ण-रत्नजड़ित किरीट पहने आया और सिंह-सन पर सिर उठाए बैठ गया । आते ही उसने इंगित किया । सेनापति ने सिर झुकाया और आज्ञा पाकर बोलने को खड़ा हुआ ।

मैं देखता रहा । उसने कहा, “जो भी इस तालाब में उतरे विना इस स्तम्भ को बांध देगा, उसे महाराज अपना प्रधान अमात्य बनाएंगे, ऐसी महापराक्रमी महाराज की आज्ञा है । आप लोगों में से जो कोई ऐसा कर देगा, वही इस गोरव को प्राप्त कर सकेगा ।”

अब प्रयत्न होने लगे । मैं किसीको नहीं जानता था, यद्यपि बाद में जान गूँण था, परन्तु उस समय इतना ही समझ सका कि उन प्रयत्न करनेवालों में वट्टुत-से नगर के महामान्य व्यक्ति थे । दर्शकों में कुलीन और साधारण परिवारों की, सब ही तरह की स्त्रियां भी थीं, जिनके पतले हास्य भीड़ के हास्य से उस समय मिलकर गूँज उठते, जब कोई असफल होकर हट जाता ।

जब कई लोग हट गए, तब सेनापति ने निराशा से देखा । प्रायः लोगों ने रस्तियां फेंककर स्तम्भ को बांधने का यत्न किया था ।

ग्रन्थ में सब हट गए ।

“कोई और !” सेनापति ने कोटपाल की ओर देखकर कहा । उसकी समझ में गुद्य भी नहीं आ रहा था । वह योद्धा था और समझ रहा था कि यह महाराज भी मूर्खता-मात्र थी, ऐसा कार्य जो कभी भी पूरा नहीं हो सकता था ।

मैं हंस पड़ा कि इतने बड़े नगर में किसीमें भी इस साधारण कार्य को कर दियाने वी युद्ध नहीं थी । यह तो कोई बच्चा भी कर सकता था ।

मेरे हास्य ने महाराज का ध्यान मेरी ओर केन्द्रित किया । उन्होंने सेनापति

से कुछ इंगित किया । उसने अपने पास खड़े वृद्ध पुरोहित की ओर इशारा किया ।

वृद्ध पुरोहित ने मुझे देखा और कहा, “युवक ! क्यों हंसा तू !”

“आर्य ! हंसा इसलिए कि सारे नगर में इतने बुद्धिमानों के रहते कोई भी इस कार्य को नहीं कर सका ।”

महाराज ने मुझे घूरकर देखा । फिर कहा, “युवक ! तुम विदेशी हो ?”

अब बहुत-से लोग मुझे देखने लगे ।

मैंने विनत प्रणाम करके कहा, “हाँ देव !”

“तुम यह काम कर सकते हो ?”

“हाँ देव ! परन्तु मुझे सामग्री चाहिए ।”

“क्या चाहते हो ? वही मांगो, और तुम्हें वही मिल जाएगा ।” महाराज ने आज्ञा दी, “ऐसा ही करो ।”

एक निगाह ने ही राजभूत्यों को भेरे पास भेज दिया । मैंने कहा, “मुझे रससी दो । बहुत लम्बी, बहुत लम्बी । और एक न हो तो कई ले आओ ।”

उन्होंने महाराज की ओर देखा । उन्होंने इंगित किया, मानो जो कहे दे दो । वे ऐसे बैठे देखने लगे जैसे कोई गिर्द अपने शिकार पर आकाश से ही आंखें गड़ाए हवा में तुल गया हो । नागरिक एक विदेशी का चातुर्य देखने के लिए व्याकुल हो गए थे ।

मैंने हटकर एक पेड़ से रससी बांध दी । एक जोर का ठहका लगा । लोग चिल्लाए, “पेड़ नहीं, ताल का स्तम्भ !”

सब हंस पड़े, किन्तु महाराज नहीं हंसे । वे स्तव्य ही वंठे रहे । उनकी आंखों में कौतूहल छा गया था । मैं चलने लगा । मैंने तालाव का एक चश्मा लगाया और रससी खींच ली, फिर दूसरा चक्कर लगाया और इस तरह स्तम्भ को बांध दिया ।

उस समय घोर कोलाहल मचने लगा । कोई कहने लगा, “यह तो हम भी कर सकते थे ।” कोई कहता, “यह भी कोई बात हुई !” कोई कह उठता था, “यह तो बड़ा सरल था ।” बहुतों को बड़ी झेप लग रही थी । धीरे-धीरे नाप चख बढ़ने लगी ।

उनको चिढ़ते देख महाराज ने कहा, “तुमसे केवल यही कहा गया था ।”

विना ताल में उतरे स्तम्भ बांध दो । तुम नहीं बांध सके । इस युवक ने बांध दिया ! तुमसे हमने यह नहीं कहा कि किस तरह बांधो । चाहे जैसे बांध सकते थे । तुम्हें यही काम करने से हमने कब रोका था ?" वे उठ खड़े हुए और मेरी ओर देखकर कहा, "मेरे साथ आओ !" मैं संग चल पड़ा ।

महाराज जब सुवर्ण-मंडित रथ पर चढ़े, तो मुझे उन्होंने अपने साथ ही चढ़ा लिया । क्षण-भर पहले मैं महानगर में अपरिचित था और अब ? महानगर मुझे देख रहा था !!

देखा था वैभव मैंने, परन्तु महासेन चण्डप्रयोत का वैभव मैंने देखा जब उनके प्रासाद में प्रवेश किया । ग्यारह द्वारों में होकर मैं भीतर पहुंचा । परन्तु वैभव की कथा मैं याद नहीं करना चाहता ।

महाराज सिंहासन पर बैठ गए । मुझे एक चौकी पर विठाकर कहा, "युवक, तुम्हारा कुलगोत्र ? नाम ?"

"मैं पुरपट्टान के श्रेष्ठ धनसार का कनिष्ठ पुत्र हूं—धनकुमार । किन्तु मेरा परिचय गुप्त रहे यही प्रार्थना है, क्योंकि मैं पारिवारिक कलह के कारण ही घर छोड़कर आया हूं।"

महाराज मेरी ओर देखते रहे, फिर कहा, "कुमार हो ?"
"हाँ देव !"

"तुम्हारा परिचय गुप्त ही रहेगा कुमार !" सहसा महाराज ने स्वर बदलकर कहा, "तुम जानते हो, मैंने यह परीक्षा क्यों ली ?"

मैंने कहा, "अल्प है मेरा ज्ञान देव ! किन्तु ताल और स्तम्भ-बन्धन की बात से इतना समझ सका हूं कि प्रधान श्रमात्य का पद श्रमी योग्य व्यक्ति से नहीं भरा । केन्द्रीय शक्ति का जो स्तम्भ श्रापने खड़ा किया है, श्रमी उसके चारों ओर का राज्य दृढ़ व्यवस्था में नहीं है । उसे चारों तरफ से ऐसा बांधना है कि वह समस्त का केन्द्र हो जाए, किन्तु राज्य में परिवर्तन को कोई लक्ष्य भी नहीं कर पाए ।"

"श्रेष्ठपुत्र !" महाराज ने प्रसन्न होकर सिंहासन के हत्ये पर हाथ मारकर कहा, "श्रद्धित चातुर्य है तुम्हें ! तुमने तो मेरे मन की सारी बातें जान लीं । निरचय ही तुम प्रधान श्रमात्य-पद के योग्य हो । किन्तु तुम्हारी स्वामिभक्ति का प्रमाण क्या होगा ?"

"देव !" मैंने कहा, "वह नमक, जो आप देंगे, मैं खाऊंगा।"

राजकुमारी वासवदत्ता, तीन वर्ष की बालिका, उसी समय अपनी धार्मिकाओं के साथ आई। महाराज ने उसे गोद में लेकर चूम लिया और फिर शीघ्र ही धार्मिकाओं के साथ विदा कर दिया। फिर मेरी ओर देखकर बोले, "धनकुमार ! मेरे पास बहुत सेना है, परन्तु अभी उसका प्रयोग नहीं हुआ है। जानते हो, सेना का व्यय कहाँ से आता है ? प्रजा से ! प्रजा की सहिष्णुता प्रसिद्ध है। किन्तु भार किसी सीमा के भीतर रहना चाहिए। वस्त का शान्तीक, समर्थ का श्रेणिक विम्बसार और कोसल का प्रसेनजित सब चौकस वज्जि, मल्ल, विदेह, यौधेय, शाक्य, सब तैयार रहते हैं। इस सेना का प्रयोग अब किधर हो ! मैंने आत्मरक्षा के लिए जिसे खड़ा किया था, उसको काम भी तो चाहिए ? कर कीन देगा इतना ?"

मैंने सुना और महाराज की ओर देखा। वे उत्सुक हो रहे थे। मेरा नया जीवन प्रारम्भ हुआ और कितना शक्तमात् ! मैंने कहा, "महाराज ! कर थेलि देंगे !"

उन्हें विश्वास नहीं हुआ।

"तुम थेलि होकर अपनी ही जाति पर कैसे भार डालने की कहते हो ? धनकुमार ! विश्वसनीय बात करो। ऐसा न हो कि मुझ तुम्हारी वातों में छोड़ की गत्व आने लगे।"

दासी गत्व जला गई।

मैंने कहा, "महाराज ! अपनी जाति का हित सोचना धर्म है, तभी तो मैंने ऐसा कहा। राज्य-व्यवस्था यदि अपनी ओर हो तो इससे धर्मिक मुविषा क्या होगी !"

"वह कैसे ?" वे समझे नहीं।

"महाराज ! थेलियों पर कर वडाने से वे विरोध करेंगे। किन्तु तब, यदि उन्हें हानि होगी। और लाभ होगा तो ! वेश्व को लाभ होगा तो वह वया नहीं करेगा ! आपके पास विशाल सेना है। उसे निरन्तर मुद्द फरने का प्रयत्न ! भी चाहिए, ताकि वह श्रालसी न हो जाए। स्तम्भ बनकर बीच में बैठिए। सेना को रस्सी की भाँति राज्य के चारों ओर केला दीजिए। जब चाहे फार सींच सकते हैं, क्योंकि सब ओर से वह पास रहेंगी। और सेना का कार्य होगा।

वनप्रान्त की रक्षा, जहां डाकू घूमते हैं। इससे श्रेष्ठि साथों को लूट का भय नहीं रहेगा। आप अनुकरणीय यशस्वी कहलाएंगे और श्रेष्ठि इसके लिए आपको सहयोग कर देंगे। साथों से उपहारस्वरूप जो रिश्वत सैनिक ले लेंगे वह अलग। उससे आपको क्या! श्रेष्ठि उन्हें भी प्रसन्न रखेंगे और तब आपकी सेना को यह कार्य और भी प्रिय लगेगा। प्रमुख श्रेष्ठियों के भूत्यों को जाकर देखभाल करने का अधिकार दें कि वे सेना के बारे में आपको जांच करके खबर दें। इसमें सैनिकों को भी भय बना रहेगा और श्रेष्ठियों को भी बड़ा आश्वासन रहेगा कि राजा अपने हैं; हमें शासन में भी मिला रखा है। और महाराज! ब्राह्मणों को चौकियों पर प्रधान बना दें, ताकि वे दोनों पर आंख रखें, श्रेष्ठियों पर भी और वैद्यों पर भी। ब्राह्मणों को तीर्थयात्रा की सुविधा होगी तो वे बहुत गुणगान करेंगे। और रहे शूद्र! सो श्रेष्ठियां हैं ही। सेना में अन्यजीं को छोड़कर बधको भर्ती होने का अधिकार दें। अब कहें देव कि यह उचित ही होगा या नहीं!"

और मैंने तीक्ष्ण टृष्णि से देखा। महाराज अवाक्-से सुनते रहे। मैंने फिर कहा, "और देव! वनभूमि की पूरी देखभाल से आपका राज्य सदैव सुरक्षित रहेगा। आपको सब पड़ोसी राज्यों की खबर रहेगी। वन में से सड़कों बनाते ही आपका मार्ग साफ हो जाएगा। विदेशी यात्री सहज ही आएंगे और उन सड़कों की रक्षा के नाते वन में आपके दुर्ग जगह-जगह खड़े हो जाएंगे!"

गहाराज हृषि से उछल पड़े। पात्र में मदिरा ढालकर पीते हुए बोले, "अरे श्रेष्ठि-पुत्र! तुम तो विचक्षण हो। इस तरह दुर्ग वन जाएंगे तो पड़ोसी राज्य मेरे हाथ में आते दिन ही कितने लगेंगे! साथों के रूप में मेरी सेना धुस जाएगी!" मैंने जो कहा वह धूल हो गया। क्षत्रिय की तृष्णा जाग उठी। परन्तु वह उसका धर्म था। और उसमें उचित बात थी। मैंने कहा, 'महाराज! राज्य भी अपने होंगे, परन्तु ग्रभी नहीं। स्वयं ही अन्य राज्यों के श्रेष्ठि चाहेंगे कि अवंति जैसी शाति सर्वत्र हो और तब एक राज्य बनेगा, हिमालय से समुद्र तक, स्वर्ण भूमि में पारस्पीक देश तक। चक्रवर्ती सम्राट होंगे प्राप!"

शीघ्र ही मैं जनप्रिय हो गया, क्योंकि महाराज मुझपर मोहित हो गए। मेरा दादा राज्य में सर्वोपरि हो गया। एक महीने मैं मैंने कर बड़ा दिया। तीन महीनों में सेना फैल गई। सान-भर में वनभूमि में दुर्ग खड़े हो गए। प्रजा को

एकदम इतना काम मिला कि समृद्धि बड़ी और अवन्ति का यश दूर-दूर तक फैल गया। तब मैं प्रासाद में गया।

महाराज ने कहा, “बैठो अमात्य ! पहला स्वप्न तो पूरा हो गया !”

मैंने बैठकर कहा, “देव ! अब दूसरा स्वप्न प्रारम्भ होगा। जैसा मैंने कहा था, वही हुआ है !”

महाराज ने गद्गद होकर कहा, “अमात्य ! तुम इतने योग्य होगे, इसकी मुझे आशा नहीं थी। क्या कर्ण, मेरे कुल में इस समय कोई कन्या नहीं है, अन्यथा तुमसे सम्बन्ध जोड़कर तुम्हें सदा के लिए अपना बना लेता !”

“तो क्या अब मैं नहीं हूं आपका देव !”

“मगध की नीति सदैव ही यह रही है !” महाराज ने कहा, “सम्बन्ध और वात है। परन्तु तुम्हारे लिए सम्बन्ध क्या है ? कुछ नहीं। जिस दिन तुम्हारा मन उचटेगा, चले जाओगे। पिता को छोड़ आए। कोसल का प्रसेनजित है न ? सम्बन्धों के लिए सदैव आतुर रहता है। उसका भी मगध से इसी वर्ष सम्बन्ध हो गया है। पर तुम्हारा क्या ठीक है ! अविवाहित मनुष्य का वया है ? है, नहीं है। मन नहीं रमता उसका। तुम विवाह क्यों नहीं कर लेते ? अब क्या आयु है तुम्हारी ?”

“देव ! पचीस वर्ष हो गए, छव्वीसवां हैं !”

“वह मूर्ख ! अम्बपाली के पीछे,” महाराज ने कहा, “अभी तक डोल रहा है, बुढ़िया हो गई ! जानते हो कौन ? विवासार ! वैशाली से सम्बन्ध जोड़ने नगर-वधु से टकराया था !” महाराज हँसे और कहा, “हां तो ! फिर क्या सोचते हो ? नगर के अनेक श्रेष्ठि मेरे पास आते हैं। सारा नगर तुम्हारे कौमायं पर आंखें गड़ाए बैठा है। बड़भागी हो ! कुमारियां सांसें भरती हैं। सच !!” महामेन हँसे फिर मदिरा का चपक भरकर पीते हुए कहा, “अब काम-पूजा या समय आनेवाला है। अशोक दोहद के समय। क्या कहते हो ? समझ में नहीं आता कि जो खाते हो उसका तुम्हारे शरीर में होता क्या है ?” वे फिर हँसे और तब मुझे उनकी अन्तःपुर की असंख्य रमणियां याद हो आईं।

मैंने इस विचार को पसन्द नहीं किया, परन्तु बोला नहीं। क्या यही मेरे

जीवन का अन्त था !

जब मैं चिन्तित-सा दीख पड़ने लगा, महाराज ने कहा, “कुमार ! स्त्री ने

डरो नहीं । कहीं, मुझे लगता है, तुम संन्यासी न हो जाओ !”

पता नहीं मुझमें उन्होंने ऐसा क्या देखा जो उन्हें मैं विरक्त जैसा दिखाई दिया । शायद इससे कि अकेला था ।

वाहर विद्वपक एक कूबर से भजाक कर रहा था और एक नपुंसक उन्हें नखरे दिखाता स्त्री बनकर बातें कर रहा था । ये अन्तःपुर के लोग थे, जो राजा और राजवंश की स्त्रियों को हंसाने के लिए रखे जाते थे । मानवों में यही चिचित्र पशु थे, जैसे पहाड़ी तोते होते हैं, जो आदमी की बोली की नकल -झूरते हैं ।

महाराज से आज्ञा लेकर मैं रथ पर आ बैठा और सारथी ने रथ हाँक दिया । अवन्ति राज्य में ऐसी समृद्धि आई थी कि मुझे लोग याद करते तो सम्मान से बोलते थे ।

मैं अपने सतखंडे प्रासाद में पांचवें खंड के सीप-जड़ी भीतोंवाले प्रकोष्ठ में बैठकर बातायन से बाहर देखने लगा । श्रभी वीणा बजाकर रख दी थी ।

शिप्रा के जल पर उस समय छोटी-छोटी नौकाएं चल रही थीं । सब कुछ शांत था । यहीं मेरी पुस्तकों थीं । कुछ पुराण थे, कुछ काव्य । नाटक मुझे प्रिय थे । राज्य के गुप्त सत्राद में घर पर नहीं रखता था । मेरा घर देखकर कोई नहीं कह सकता था कि मैं अमात्य था । थोड़े-से सैनिक अवश्य मेरे अपने थे । वे भी राज्य के वेतन-भोगी नहीं थे । मैं सब कुछ के भीतर रहकर भी सबसे अलग था । सब काम अपने-आप ही सुव्यवस्था में बंध गया था ।

उस दिन मैं थोड़े पर चढ़ा चला जा रहा था । मेरी आदत थी इस तरह नगर के बाहर यकेले धूमने की । जिसे भी शिकायत होती थी, मुझसे राह में कहता था । मैंने प्रजा को कभी आतंकित नहीं किया । काम तुरन्त कर देता था, जिसमें लोग मेरी जय-जय कहते थे । तभी मेरी हृष्टि एक और अटक गई ।

देखा कि कुछ लोग भुकेसे, मैले-से चले आ रहे थे, जैसे बहुत बड़ी विपत्ति उत्पर आ गई थी । मुझे आश्चर्य हुआ । अवन्ति राज्य में इतना दारिद्र्य कहां पा ? मुनता था, गणराज्यों में दासों की हालत खराब थी । मगध भी समृद्ध नहीं पा । परन्तु अवन्ति मेरे हाथ में था । मैं जानता था कि जिस दिन क्षत्रियों पर से भंगुरा हटेगा, उस दिन यहां भी दारिद्र्य कम नहीं दीखेगा । मैं उनके पान चला गया ।

उफ ! वह कैसा क्षण था !

लगा कि आकाश टूट रहा था, धरती फटी जा रही थी। काल का चक्र मैंने धूमते देखा। भाग्य के विकराल अदृश्यता ने मानो मेरे कानों को विदीर्घ कर दिया। क्या यह सच था ? क्या मेरी आँखें सचमुच वही देख रही थीं, जो मुझे दिखाई दे रहा था ?

पिता ! स्वयं मेरे पिता ! श्रेष्ठ धनसार आज चियड़ों में ढके थे। माता ! मेरी माता आज भिखारिन बनी खड़ी थीं मेरे ही सामने।

बड़े भैया धनदत्त इस समय पीठ पर बोझा उठाए हुए थे। माझे भैया धनदेव के गल बैठ गए थे। मैंल उनपर जम गया था और उनकी वह हाणि इस समय दयनीय हो गई थी। उनके पीछे छोटे भैया धनचन्द्राधिप विस्तर सिर पर धरे खड़े थे। देह पर वस्त्र नहीं, चुटनों तक का एक गन्दा कपड़ा। दाढ़ी बढ़ी हुई। और यह थी नतांगी भाजी सुभासा। सूती कलाइयाँ। कनपटी पर एक धाव का निशान। मुश्किल से बचाए थीं अपनी लज्जा। धूत से भरा हुआ था इस समय भाजी सुमुखी का सिर। वे कैश जो ग्राहस्थूम पर सूखते थे, सोने की जाली पर कैलकर, वे कड़े पड़ गए थे। उनमें कुगांठे दीखती थीं। और भाजी ग्रलका की सुकुमार देह इस समय चिपण्ण-सी थी।

सब थे पर पज्जा अम्बां न थी; तो क्या वह नहीं रही ? यह इनकी ऐसी हालत कैसे हुई ? करोड़ों की वह संपदा कहां गई ? भाग्य ! विभीषण ! मव गया ? कौन ले गया ? कहां गया सब ? कैसा है वह संचय यदि भाग्य में नहीं है कुछ ? मेरे रोम-रोम में एक आर्त वहिनी सुलग उठी। पीछा की मर्मांतक वेदना से मेरा कलेजा मुंह को आने लगा।

मैं घोड़े से उतर पड़ा और उनके सामने जा खड़ा हुआ। मेरे गिर गर रत्नजटित उण्णीश, देह पर बहुमूल्य रेशमी वस्त्र, रत्नजटित आभूषण कि आँखें न छहर सकें, रत्नजटित मूठ का खड़ग कटि में ! और वे ! गिरारो ! कंगले !

मुझे देख वे रुक गए। वे मुझे नहीं पहचान सके। पिता ने देखा कि एक राज्य का उच्च कर्मचारी सामने था। विनम्र हो गए। कोई नहीं थोना, वे नैसे आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे थे। अवाक् होकर ! मैंने पिता के चरणों पर मुराकर कहा, “आपकी यह अवस्था !”

पिता की शांखों में आँसू भर ग्राए। वे मुझे पहचान नहीं पाए थे। वे ग्राहकर्य से देखने लगे और तब उन्होंने चून्ह की ओर देखकर मुस्कराकर कहा, “यही मनुष्य का खेल है श्रीमान्! ग्राता है चला जाता है।”

“पिता!” मैं चिल्ला उठा। उस स्वर को सुनकर वे पुकार उठे। पिता ने मुझे कंठ से लगा लिया और तब वे सद रोने लगे।

यह क्या भाग्य नहीं था! जो मर गया था वह जीवित था। जिनके पास था, वे नंगे थे और सच यह सब कितना विचित्र था! मुझे देखकर तीनों भाई भी रोए। मां का तो कहना ही क्या। भाभियां ऐसी हृषित हो गई, जैसे पागल हो गई थीं। केवल पिता ही शीघ्र स्वस्थ हो गए और मेरी ओर देखकर मुस्कराकर बोले, “पुत्र! तू सदा ऐसे ही रह!”

तब मां ने कहा, “एक तू मेरा पुत्र हुआ, यही मेरे स्त्री-जीवन की सार्थकता हुई। तुझे ऐसा देखा, अब कोई और इच्छा नहीं रही।”

मैंने कहा, “पिता! मेरे लिए आशीष दो अब।”

“अब! कुछ नहीं,” मां ने कहा, “तब तक तेरे पिता ने गृह चलाया। अब मैं चलाती हूं। जानता है न? दुख में पुरुष शासन नहीं कर सकता। स्त्री कर सकती है, वयोंकि वह सहिष्णु होती है। यह सब मेरे कारण ही तो एक दूसरे लिले हुए हैं।”

मैं नहीं समझ सका। कहा, “मां! मैं अब यहां प्रवान अमात्य हूं। किसी वात की कमी नहीं है। मेरे रहते तुम किसी वात की चिन्ता न करो। मेरे साथ चलो।”

भाभी सुभामा ने कहा, “देवर! जिसके लिए जितना है उतना ही रहने दो। दुख से बुझ आती है न? कर्म जैसे होंगे, वैसा ही फल होगा।”

“ठीक वात है।” धनदत्त ने भी कहा।

बलका भाभी ने कहा, “पिता और माता को ले जाओ देवर! उनकी रोपा करो। उनका तुमपर अधिकार है। हमारा क्या है? कौन-सा सुख दिया तुम्हें जो अब मांगें!”

मैंने कहा, “भाभी! क्या यही मानती हो कि हम एक-दूसरे को देते हैं। भाभी! हम तो एक-दूसरे का झण चुकाते हैं, क्योंकि काल एक व्यापारी है, जो सूर दर सूर मूल में जोड़ता जाता है।”

धनचन्द्राधिप के होंठ कांपने लगे और तब वह रो पड़ा। मैंने कहा, “रोते वयों हो भैया?”

“मुझे क्षमा कर दे धनकुमार, मुझे क्षमा कर दे! मैंने पाप किया है! मैंने पाप किया है! यह जीवन व्यर्थ है, जिसमें मैंने पिता और माता की धृणा को पाया है। मेरे भी तो ऐसे ही कर्म थे। तू चला आया धनकुमार! हम सब यागल हो गए। पिता ने सबसे उदासीनता प्रहृण कर ली। माँ हमें देखती तक नहीं थीं। हमारी अवस्था कैसी हो गई धनकुमार....”

मैंने काटकर कहा, “मुझे मत सुनाओ भैया!” मैंने आंखें पोंछी फिर कहा, “जो गया, वह चला गया। काल कभी लौटता नहीं। अब आगे की बात करो। मैं अभी घर जाता हूँ और अपने विश्वस्त सेवकों को भेजता हूँ। वे दस्त्राभूषण लाएंगे। उन्हें धारण करके वैभव के साथ मेरे घर आना। तुम सबको मेरी शपथ है। पिता! माता! भाभियो! भाइयो! सब! आना होगा! न आओगे तो मैं प्राण दे दूँगा। हंसी नहीं करता।”

मैंने आंखें पोंछीं और वे भी आँसू पोंछ उठे। उनकी दृष्टि में कितना स्नेह था! मैंने कहा, “भाग्य के हाथों विगड़ते-बनते रहने में क्या कोई श्रपणान है? स्नेह चाहिए। हम मनुष्य उसीके बल जीवित रहते हैं। पिता से मैंने जीवन का चार सत्य सीखे हैं। मनुष्य का वे ही संबल हैं—देना सीखना, स्नेह करना, अपने को मिटाने के लिए तैयार रहना और निरन्तर साधना के लिए कटिवड रहना। यह सब जो कुछ है, सब हमारा नहीं है। धन, वैभव, अधिकार—सब इवांश की भूमिकाएं हैं। सब छलना हैं।”

पिता ने कहा, “पुत्र! तू मेरे जीवन की साधना है। तू ही मेरे स्नेह का सत्य है। अब मैं कुछ नहीं कहूँगा। जो तू कहेगा वही होगा।”

माँ ने काटा, “नहीं, निर्णय मैं दूँगी।”

भाभियां हँस पड़ीं।

धनदेव ने कहा, “तो माँ ही कहे।”

माँ ने कहा, “जिसे एक दिन इतनी निष्ठुरता से निकल जाने का याप्त किया था, उसका प्रायशित्त तो हुआ ही नहीं।”

“ल्हि: माँ!” मैंने कहा, “यह और क्या है? जानतो हैं न? न्याय धरते-

आप चलता है !” और तब मैंने वात बदलने को पूछा, “ओर पज्जा अम्मा कहाँ है ?”

माँ ने आंखें पोछकर कहा, “वेचारी नहीं रही ।”

मैं क्या कहूँ कि मैं वहीं पथ पर ऊखरू बैठकर घुटनों पर सिर रखकर फूट-फूटकर रोने लगा । उस समय मुझे यह भी ध्यान नहीं रहा कि कोई देखेगा तो क्या कहेगा । मैंने अपनी कटि में हाथ डाला और उन्हीं बहुमूल्य, शब में प्राप्त रत्नों को निकालकर सामने पटककर मैं चिल्ला उठा, “पज्जा अम्मा ! अब इस्तेहास कौन देखेगा ! अब इनका इतिहास कौन सुनेगा !”

उन रत्नों पर जब सूर्य की किरणें चमकीं, तो वे सब चाँधिया गए । पिता ने आकाश की ओर देखा और तब मेरी ओर । भाभी सुमुखी ने मुझे उठाया और अपने आंचल से मेरे आंसू पोछकर कहा, “देवर ! धैर्य रखो । धैर्य रखो ।”

भाभी अलका ने रत्न बटोरकर मुझे दिए । मैंने कहा : “यह मेरी भेट है भाभी ! तुम तीनों को एक-एक !”

और मैं घोड़े पर सवार हो गया । दूर कुछ लोग आ रहे थे । मैं संभल गया । कहा, “पिता ! यहीं वृक्ष के नीचे ठहरें । मैं सेवक भेजता हूँ ।”

मैंने घोड़ा मोड़ा और घर की ओर दौड़ा दिया । उस समय मैं बहुत तेजी से जा रहा था । आवद पथ में जिन्होंने देखा, उन्होंने आश्चर्य भी किया होगा ।

घर आकर मैंने वहलदास से कहा, “वहल !”

एकान्त में मैंने अपने उस विश्वस्त भूत्य को सब कुछ समझाकर कहा, “गौरव के अनुकूल करना सब !”

कुछ ही देर में वह सारथि बाहुक के साथ रथों को लेकर चला गया । प्रासाद से कंचुक आया । महाराज ने बुलवाया था । मैंने कहा, “कंचुक ! आर्य ! अभी संवाद आया है कि मेरे माता, पिता, भाई और भाभियां आ रहे हैं । इस समय मेरा उनके स्वागत के लिए ठहरे रहना आवश्यक है । किर भी यदि महाराज की आज्ञा हो, तो अभी उपस्थित होऊँ । आप यह पूछकर मुझे सूचित करने का कष्ट करें । यदि मुझे जाना पड़े तो आप यहाँ मेरी जगह ठहरें ।” संध्या हो गई थी । दासी चपला ने दीप जला दिया । मैंने देखा—बाहर रप स्के । मेरे माता-पिता भाई-भाभियां उतरे । वे आभूपणों और रेशमी

वस्त्रों में कितने भव्य लगते थे ! मैंने उन्हें प्रणाम किया और उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया । तभी कंचुक आए और बोले, “स्वागत ! मुझे महाराज ने स्वयं भेजा है ।”

वे भीतर आ गए, तब कंचुक ने ताली बजाई । दास-दासियों ने वस्त्रों, रत्नों, आभूषणों, मिष्टान्तों, फलों, गंध और मालाओं के धाल रखकर उघार दिए । वह प्रासाद की ओर से स्वागत था ।

यह देख भाभी सुभामा ने कंचुक से कहा, “आर्य ! हमारा प्रणाम विनत महाराज से निवेदन करें । कहें, हम दीन वैश्य हैं । महाराज के सामने वृण्डा आएं । उतना साहस हममें कहाँ ? इस योग्य भी नहीं ।” और मैं समझा अब जीवन क्या होगा, क्योंकि भाभी ने वही वहूमूल्य रत्न निकाला, जिसे देख सुमुखी और अलका ने भी अपने रत्न निकाल लिए । और एक रत्नजटित सुवर्णथाल उठाकर उन्होंने उसमें तीनों रत्न रखकर कहा, “आर्य ! यह तुच्छ भट महाराज के श्रीचरणों में हमारी ओर से समर्पित करें ।”

“किन्तु वह मेरी भूल है भाभी !” मैंने कहा, “कल सब प्रासाद चलेंगे । यह मैं तुमसे श्रभी कह नहीं पाया । जो हो ! आर्य जानें । भाभी जानें ।”

कंचुक के नेत्र उन रत्नों की दीप्ति से तड़प गए । वृद्ध व्राह्मण ने हाथ उठाकर तीनों को आशीष दिया, “सौभाग्यवती हों । पुत्रवती हों ! सास-समर्पण !” और पतियों-देवरों का तुम्हें सदैव सुख मिले । लोक में तुम्हारा गीरव जागे । मैं महाराज के चरणों में अभी इन्हें समर्पित करूँगा । वे अंतःपुर में ही हैं । वहीं महारानी भी हैं ।”

देकर भाभियां कितनी प्रसन्न थीं ! मैंने भोजन के समय कहा, “भाभी सुभामा ! तुम्हारा हृदय बहुत विशाल है ! बहुत निर्मल !”

भाभी ने खीर का प्रात उठाकर परोसते हुए कहा, “हाँ देवर ! यों न मानूंगी इस प्रशंसा से । मुझे तुम ठग नहीं सकते !”

माँ ने कहा, “समझा पुत्र ! तेरी भाभियां अब देवरानी चाहती हैं ।”

यों जीवन सुखमय हो गया ।

दूसरे दिन पिता ने कहा, “वत्स धन !”

मैंने कहा, “पिता !”

“अब तू मेरा मित्र होने के योग्य हुआ ।”

“मैं आपका वही पुत्र हूँ ।”

“हाँ, हाँ ! ठीक है । यही तेरा धर्म है । परन्तु पुत्र अब मेरा मन भर गया । सोचता था, शायद जीवन के अन्त में मुझे दुःख और दारिद्र्य ही भोगना पड़ेगा, पर अब ऐसा कुछ नहीं होगा । अब मैं निविच्छिन्न होकर जा सकता हूँ ।”

“आप कहाँ जाएंगे ?”

“जीवन की संध्या कहाँ ले जाती है पुत्र ?”

“परन्तु अब वानप्रस्थ कहाँ रहा पिता ! अब तो ब्राह्मणों और क्षत्रियों में भी यह आश्रम कोई नहीं निवाहता ।”

“किन्तु अन्त की यात्रा तो अब भी बाकी है ।”

मैं समझ गया । मृत्यु-काल समीप जानकर या जीवन से ऊबकर लोग उत्तर दिशा की ओर मुँह करके चलते लगते थे । चलते चले जाते थे, न खाते थे, न पीते थे……जहाँ गिर गए, वहाँ मर गए न दाह……न संस्कार……

“वह श्रात्महत्या है पिता !” मैंने कहा, “त्याज्य है । उससे क्या लाभ ?”

सुनकर वे कहने लगे, “लाभ ? जीवन का ही क्या लाभ है पुत्र ! जीवित रहना एक विवशता है । इतने दिन मैं जिया, सब कुछ हुआ, धन भी कमाया, विवाह भी किया, पुत्र हुए । उसके भी विवाह हुए, अब उनके पुत्र भी होंगे, परन्तु मैं आया और चला गया । क्या मैं एक माध्यम-भर था ? क्यों आया मैं और क्यों चला जाऊंगा ? परन्तु यह प्रश्न व्यर्थ है । मनुष्य कर्मफल को नहीं ढोड़ सकता ।”

मैंने कहा, “इस समय तनिक आज्ञा दीजिए । मैं महाराज की सेवा में जा रहा हूँ । उन्होंने बुलाया है ।”

“अवश्य जा पुत्र ! तेरा कल्याण हो !”

मैं चला आया ।

जब मैं राजप्रासाद में पहुँचा, मेरा और भी अधिक सत्कार हुआ । भाभियों के रत्नों ने महाराज को द्वार पर खड़ा दिखाया ।

यों कई दिन बीत गए । मेरा सम्बन्ध अब महाराज से भी अधिक हो गया । मेरे परिवार के वैभव की क्या जानकर तो वस दे प्रसन्न ही हो गए । प्रमाण थे रत्न । मैंने भाभियों को फिर एक-एक रत्न दे दिया था, जो वे सोने में जड़वाकर गले में डाले थीं ।

इन्हीं दिनों पता चला कि महाराज श्रेणिक विवसार का अम्बवपाली मिलना-जुलना बन्द हो गया था, परन्तु अम्बवपाली से उत्पन्न उनका पुत्र श्रम कुमार उनका प्रिय था। अम्बवपाली और विवसार का सम्बन्ध ही वज्जियों और मागधों का सम्बन्ध था। अम्बवपाली को नगरवासी बनाया था गण क्षत्रियों के लालसा ने। और गण क्षत्रिय ऐसे कहूँ थे कि हजार बुराई होने पर भी अपन व्यवस्था, अपने द्वारा प्रतिपालित दासत्व, असाम्य, दमन और हिंसा को स्वां तुलनीय मानते थे। गर्व तो उनमें ऐसा था कि पूछो ही नहीं। मैं महाराज से मिलता तो देखता कि वे न जाने क्यों चंचल हो रहे थे। वे एक बार श्रम मण्ड से लड़ना चाहते थे। महाराज का क्रोध चण्ड था, तभी तो प्रद्योत के साथ उन्होंने अपना विक्रम दिखाने को स्वयं चण्ड जोड़ लिया था। मुझसे उनका व्यवहार बहुत मीठा था। वे कभी-कभी प्रासाद की छत से झुक्कर हाथियों की लड़ाई देखते, कभी सिंहों की। एक बार एक गेंडा और काला शेर लड़ाया। एक बार रीछों का युद्ध देखा। इनमें उनका क्षत्रियत्व जाग्रत रहता था। मांस खाने की रुचि अद्भुत थी। प्रायः प्रत्येक देश का एक मांस पकानेवाला रसोइया उन्होंने रख छोड़ा था, जिनमें एक पारसीक तक था।

समय बीतता रहा। मेरे मन का साथी था केवल संगीत; और सब होकर भी नहीं था।

पिता, माता, भाई, भाभियों की मैं जहां तक होता स्वयं देखभाल करता। रात के समय हम मिल-वैठकर मौका पाते तो खूब बातें भी करते। एक रात वह। पिता से मैंने कहा, “किन्तु श्रव ऐसी वया परेशानी है जो आप संतान-त्याग करना चाहते हैं?”

“तुम ठीक कहते हो,” पिता ने कहा, ‘परन्तु मैंने यह चंचल तुमसे ही सीखा है।”

“सो कैसे?” मैंने विस्मय से पूछा।

“तुमने यही नहीं पूछा कि हमारी अवस्था कैसे विगड़ गई थी!”

मैंने कहा, “आर्य! उससे आपको कहीं कष्ट न पहुँचे, यही गोचकर तुम्हारा था। कहीं जानने पर भाई सोचते कि वह सब पूढ़कर हमें चिढ़ा रहा है।”

पिता मुस्कराए। कहा, “पुत्र! तू बहुत चतुर हो गया है।”

मैंने हाथ जोड़कर कहा, “यह प्रसाद भी तो श्रीचरणों का ही है।”

“पुत्र,” पिता ने कहा, ‘तेरे ग्राने के पहले महाराज ने तेजुत्तरी रेत का सोना बनवा लिया और प्रसन्न थे। परन्तु जिस रात तू चला आया, ठीक सबेरे ही उन्हें तेरी कोई आवश्यकता पड़ी। वहां तू था नहीं। एकदम कुछ ही चठा। राजा भला किसका मित्र ! चाटुकारों ने लगा-लगूकर भड़का दिया। नगर-भर में प्रसिद्ध ही गया कि भाइयों ने उसे मार डालना चाहा था, तभी वह भाग गया। यह पज्जा की आकस्मिक मृत्यु ने पक्का कर डाला। राजा ने बुलाकर इन तीनों को खूब ढांटा। ये मूर्ख प्रसन्न थे ही। हालत यह हुई कि मैंने सबसे मिलना-जुलना बन्द कर दिया। तेरी माँ मेरे पास आ गई। केवल धधू थीं, जो उन्हें समझाने की चेष्टा करतीं। इन तीनों ने एक दूकान खोली। मेरा सारा घर्या लगा डाला। परन्तु खर्च आय से बढ़कर रहने लगा। नौकर ढांग गए। और उसी समय रानी के आभूषण चोरी गए। दासियों ने लाकर इन्हें सस्ते-मढ़े देवे। मूर्खों ने खरीद लिए। सुभासा ने बहुत समझाया कि इतने सस्ते मिलने का कारण यही हो सकता है कि ये चोरी के हैं। पर कौन मानता था वहां ? ले ही लिए और वधू बिचारी चुप हो गई। दासियां पकड़ी गईं एक दिन। राजा की चोरी क्या छिपती है ? नाम ले दिया उन्होंने और तीनों पकड़े गए। सारा नगर विरुद्ध था ही। राजकुमार अरिमदेन ने तुरन्त मेरी सारी सम्पत्ति को राजकोप में डाल दिया। वस, श्रव बचा वह धन जो तूने भाभियों को दिया था। कहा : स्थी धन है।—तब क्षूटे। उस दारिद्र्य में वहीं स्वजनों के बीच रहना असम्भव हो गया। हम लोग रात को पुरपड़ान से बचा माल लेकर भाग निकले। परन्तु देव को यह कव स्वीकृत था ! चोरों ने हमें बन में नंगा कर दिया और तब हम मजूरी करते, पेट पालते हुए चल पड़े। उसी श्रवस्था में तूने हमें देखा था वह तो तू जानता ही है।’

मैं सोचने लगा कि यह सब क्यों हुआ ? देव के ही तो कारण हुआ। मुझसे घीना था सब। स्वयं सब छिन गया। सचमुच, इस धन से मनुष्य का जो सम्बन्ध रहता है, उस सम्बन्ध में हृदय की जो लिप्ति अथवा निलिपि होती है, वही ऐसारे पाप-पुण्य का भार वहन करती है। पिता के कहने पर मैंने भी अपनी कथा सुना दी, पर शब की बात नहीं कही। और एक रत्न भी दिया। श्रव भेरे पास चार रत्न बाकी थे।

यह रत्न देखकर पिता ने कहा, “पुत्र ! इसका मूल्य जानता है ?”

"नहीं, क्यों जानता पिता ?"

"इस श्रकेले के मूल्य में पुरषइठान का मेरा सारा वैभव था। इसका मलब है कि मैंने कुछ भी नहीं खोया। देव ने केवल दण्ड दिया था।"

फिर पुकारकर कहा, "धनदेव !"

धनदेव आए।

पिता ने कहा, "भाइयों को भी ले आ।"

तीनों ग्रा गए, तब पिता ने कहा, "पुत्रो ! धनवत्स ने तीन रत्न भाभियं को दिए थे। देखे थे तुमने ? वे राजा के पास पहुंच गए। फिर तीन और दिए वे उनसे वहुमूल्य थे। यह देखते हो अब !"

रखा पिता ने नीले मखमल पर।

"ग्रे !" तीनों कह उठे।

"यह आपने दिया है धन वत्स को ?" धनदेव ने कहा।

पिता का मुख स्याह हो गया।

"मने दिया है ?" वे झल्लाए, "मेरे पास था क्या जो देता ! मैं तुम्हारे साथ रास्ते पर मज़ूरी करता था। क्या मतलब है तुम्हारा कि मैं इसे छिपाए हुए था, जब परिवार सङ्क पर पत्थर तोड़ रहा था ? तुम्हारा मतलब है कि मुझे रत्न आपने बच्चों, वहुओं और पत्नी से भी ज्यादा प्यारा है ?"

धनचन्द्राधिप ने कहा, "क्षमा करिए पिता ! भैया, तुम्हें सोचकर वात करनी चाहिए।"

"तू भी," धनदेव ने कहा, "ऐसा कहता है !"

"तो, पूरी वात कह न कुलाङ्गार !" पिता हाँफ उठे।

वह स्वर इतना उठ गया कि भाभियां गँड़ गईं। मां भी। दास-दासियां ताक-भांक करने लगीं। मैंने तो उस मामले को वहीं रोकना चाहा। परन्तु पिता छोथ के कारण सूचित हो गए। धनदेव चला गया बाहर के प्रकोप में। धनदेव धीरे-धीरे गया। नहीं गया चन्द्राधिप। पिता ने जागने के बाद कहा, "धन धन ! यह रत्न तू ही रख। किसीको कुछ न देना। सबको निकाल याहा से। कमाकर खा लेगे। मां को रख ले अपनी। मैं संन्यास लिए लेता हूं।" और कुछ नहीं बोला।

फिर योंही छः दिन बीत गए। सातवीं रात में सोने फो था, तो भाभी

सुमुखी मेरी जया के पास बैठ गई आकर।

मैंने कहा, “भाभी ! कैसे आई ?”

उन्होंने ग्लानि से मुँह द्विपा लिया और कहा, “देवर ! जिस स्त्री का पति कृतघ्न और पापी हो, वह स्त्री कथा करे ! ऐसी स्त्री का पति के प्रति कथा कर्तव्य है ? कथा स्त्री हर अवस्था में पति के साथ बंधी हुई है ? जड़ प्रतिहिंसा में झूँके हुए पुरुष ही के साथ कथा स्त्री भी झूँकने को वाध्य है ?”

दृष्टा ते मेरा मन विपक्ष हो गया। कहा, “कथा हुआ ?”

“वे कहते हैं कि यही रत्न पिता ने तुम्हें घर छोड़ते समय दिए होंगे चुपचाप। पुत्रों से छल करने के कारण ही वृद्धावस्था में उन्हें दर-दर की ठोकरें खानी पड़ी। देवर दे समझाया भी ।”

“कौन ? छोटे भैया धनचन्द्राधिप ने ? और बड़े नहीं बोले ?”

“देवर ! धन्य भाग्य है श्वलका का, सुभामा और मैं तो कहीं की न रहीं। मां मुझे नहीं देखना चाहतीं। मेरा कथा दोष है इसमें ? सुभामा जिठानी की काटो तो लहू न मिलेगा। देवर, हमें विष ला दो ।”

और तब मैंने रत्नों को निकाला और कहा, “भाभी ! इन्हीं रत्नों का भगड़ा है न ?”

चारों रत्न पहलेवालों से बड़े थे। मैंने कहा, “देखो भाभी ! तीन पहले दिए, वे महाराज को पहुंचे। तीन तुम्हारे पास हैं, तीनों के। एक पिता के पास है। चाकी वचे पांच। कुल बारह थे। ये रहे चार। तीनों को एक-एक दे दो। एक मां को। मेरावाला मैंने पहले ही ले लिया ।”

“छिः !” भाभी ने कहा, “ले लो। पत्थर दो पत्थर देवर ! हमें निकाल दो भूखे मरेंगे, आप ठिकाने आ जाएगी श्रकल। जिठानी माता होनेवाली हैं।”

“अरे, सच !” मैंने कहा, “मेरे भतीजा होगा !”

मेरा उल्लास द्विपा नहीं। भाभी ने कहा, “तू देवता है देवर ! तू देवता होइ !”

भाभी मेरे नरण पकड़कर रोने लगीं।

मैंने पांच हृष्टाकर उनके पांच छूकर हाथ ग्रांडों से लगाए और कह “भाभी ! मुझसे पाप कराती है तू ?”

आज हम ‘तू’ पर आए थे।

“अच्छा तेरावाला कहां है ?” भाभी ने पूछा ।

“है मेरे पास !” मैंने सिर हिलाकर कहा ।

“मुझे दिखा ।”

“हां, दिखा दूंगा ।”

“तो वह मुझे दे दे ।”

“क्यों भाभी ! वह क्यों दूँ ?”

“अपनावाला और तेरावाला मिलाकर हार बनवाऊंगी और अब आएगी, ज देवरानी उसे पहनाऊंगी ।”

अब शान्ति छा गई थी । मैंने कहा, “वह कहां से आ गई भाभी ! ८८
मेरावाला तो पानी में गिर गया ।”

“वह कैसे ?”

मैंने कहा, “भाभी ! यह धन कहां मिला, जानती है ?”

तब मैंने शववाली कहानी सुनाई और बताया कि अपना भाग मैंने नमंदा
में डाल दिया था । वह स्तव्य-सी सुनती रही । अवाक् । फिर मैंने कहा, “सो
भाभी ! ऐसा है यह धन ! सच तो यह है भाभी ! मेरे भाग में सिंह हाथ-
पांव और बुद्धि की कमाई है । यह सब जो हैं न ? यह मुझे मार के
झलोभन हैं ।”

किन्तु मैं नहीं कह सका कि इसीलिए यह धन तुम भी मत लो ।

“जा भाभी ! चैन से सो । यह रत्न बांट दे । और झगड़ा बन्द हो जाएगा ।”

भाभी बड़ी किकतंच्यविमूढ़-सी बैठी रही ।

तब मैंने कहा, “जा भाभी ! नींद आ रही है । मवेरे ही बुनाया यागा तो
राजा के यहां दौड़ना पड़ेगा । राजा की तौकरी आग पर येलना नमृद । प्रथ-
वह श्रेष्ठियोंवाला ठाठ नहीं है कि मन लगा तो किया, नहीं तो छोड़ दिया ।”

“तो तू व्यापार ही जो कर से ।” भाभी ने कहा ।

मैंने कहा, “करना क्या है भाभी ! मैंने अपनी इच्छा से किया ही था है ?

मैं तो देख रहा हूँ कि मुझे किस तरह खिलाया जा रहा है । भाभी ! तुम किस-
तरह धनकुमार को देखती हो न, उसी तरह मैं भी इसे अलग से देगा करना
हूँ । यह नाम-रूप का जो संगठन है, जिसे धनकुमार कहकर लोग पहनाते हैं,
उसे मैं भी दूर से देखा करता हूँ ।”

भाभी कुछ नहीं समझ पाई थी ।

और तभी आ गया हूँ आज फिर मैं इस राह पर, जिसपर हजारों चल चुके हैं । लाखों, करोड़ों ! सम्भवतः पद्म, नील और न जाने कितने मनुष्य ! क्यों कर्मचक्र में फंसे ? पारिवारिक जीवन की उस घट्टा ने मुझे फिर उखाड़ दिया ! और भी एक कारण था । चण्डप्रद्योत की तृष्णा । मगध से युद्ध की तृष्णा । वह चाहता था युद्ध । और मैंने सोचा कि युद्ध होगा । जो व्यवस्था मैंने बनाई है, वह अवश्य नष्ट हो जाएगी । मगध इतना निर्वल नहीं कि अवन्ति जीत ले । एक महान राष्ट्र बने, शान्ति हो, वह तो ठीक है । परन्तु परस्पर शक्तियों का टकराना कैसे ठीक होगा ! समान बलवालों को तो संधि कर लेना उचित है । युद्ध में हत्या होगी ! श्राकारण ही इन क्षत्रियों की विक्रम-लोलुपता से लहू बहेगा ! और मैं चुपचाप चला आया हूँ । अब जो हो, सो हो । मेरे रोके वह रुकेगा नहीं, फिर रोकूंगा सामने जाकर तो मुझे और परिवार को कष्ट देगा । पर अब कहां जाऊँ ?

अब प्रद्योत मुझे नहीं पाएगा । समझेगा कि शायद व्याह का जोर दिया होगा धरवालों ने । चल दिया मनमौजी । मुझसे उसने युद्ध के विषय में कहा ही क्व है ? मुझसे भी उसने इस बात को गुप्त रखा । ऐसा है वह क्षत्रिय ? सोचा होगा कि पार्श्वनाथ का अनुयायी है, कहीं उगल न दे अपना विरोध । बना-बनाया अमात्य क्यों विगाड़ू !

वत्स धन ! यह है जीवन का खेल । अब पिता क्या करेंगे ? धनदेव पर सारा धर ढूटेगा । धनदत्त पर भी । ढूटने दो । परन्तु मैंने उन्हें इतना समृद्ध औड़ा है कि वे जीवन-भर आराम से बैठकर खा सकते हैं । और दुःख का क्या ; आता है, तो लोग भेज भी लेते ही हैं । अब मेरा भतीजा होगा । पीत्री रोगी तो दादा-दादी सब भूल जाएंगे । वहन जाने कैसा भाग्य लेकर आएगा ! ऐसे किस-किसका हिसाव कर सकता हूँ मैं ? पर वह जो आनेवाला है, वह भी उतना ही महत्त्व रखेगा इस लोक में, जितना हममें से कोई रखता है ।

यह जीवन योही चलता चला जाएगा ।

पर यह कैसी बात है कि आज मुझे उतनी उद्धिनता नहीं, जितनी पहली बार धर ढूटने पर हुई थी । जैसे अब भादत-सी हो गई है ।

चण्डप्रद्योत तू मुसी हो, सद्बुद्धि पाए । तूने मुझे आश्रय दिया । मैंने तेरी

सेवा की । परन्तु अब मुझे तुमसे डर लगता है । जिधर तू जा रहा है, यह तेरे वर्ण का भले ही धर्म हो, मेरे वर्ण का, मेरे मनुष्य का नहीं है । मैं जानता हूँ कि तुझे अवन्ति के श्रेष्ठ भड़का रहे हैं । वे मगध की संपदा के लिए आतुर हैं। लेकिन अभय के रहते वजिय मगध के हैं, और कुणिक के रहते कोसल भी मगध के पीछे हैं । तू स्वयं हठीला है कि वत्स का शतानीक भी तेरा मित्र नहीं है । अब तो तपोवन से उसका पुत्र उदयन भी आ गया है सोलह वर्ष का होकर ! यदि तू मेरी राय के मुताबिक वासवदत्ता का उदयन से सम्बन्ध जोड़ने की बात करता, तो वत्स तो तेरा होता ! परन्तु तू ठहरा दुरभिमानी ! उदयन को तो कहते हैं, काम भी देखकर लजा जाता है ।

तो चलो वत्स धन ! मगध ! कोसल ! काशी ! अब उन्हें देखे जिनका यश है इतना ! दार्शनिक ! अजितकेस कम्बल ! काश्यप ! मोदग्लयन ! परन्तु व्या देंगे वे मुझे ? कुछ नहीं । न सही । दुनिया तो देखने को मिलेगी । हो सका तो तक्षशिला भी चलेंगे । चलते रहना वत्स धन ! जीवन है ही यथा ! अनुभवों के संस्कारों का पुंज !

आज मुझे केवल जिज्ञासा है । आज वह पहलेवाली विह्वलता नहीं । आखिर इस परिवर्तन का कारण क्या हो सकता है ?

एक बार मुझकर देख लूँ । रात के चान्दमा ! उस दिन भी तूने ही पद दिखाया था । अवन्ति भूमि प्रणाम ! उज्जयिनी ! तेरी गोद में कदियों और दार्शनिकों के अनमोल चनन सुने । देश-विदेश के व्यक्ति देखे ! ले अब मेरा प्रणाम ले ! वत्स धन जा रहा है । वह बंधकर रहना नहीं चाहता । वह आत्मा को भींचकर नहीं रहना चाहता । वह तो यात्री है । जैसा आया है, वैसा ही चला जाएगा ।

छोड़ आया हूं सब कुछ । नहीं, मैं छोड़ दिया गया हूं । नहीं, मैं अभी नहीं छूटा हूं ।

आकाश में अनन्त नक्षत्र बिखरे हुए हैं । चारों ओर नीरवता छा रही है । और मैं अकेला बैठा सोच रहा हूं ।

क्या सोच रहा हूं मैं ? सोचता हूं कि जीवन के समस्त कोलाहल का क्या हुप्पा ! मृत्यु आएगी । मैं उनमें मिल जाऊंगा । मेरे अंग-अंग सब प्रकृति के विभिन्न तत्वों में मिल जाएंगे । और तब यह धनकुमार कहां रहेगा ? नामधेय का ग्रन्त हो जाएगा जिस दिन, उसके बाद क्या लोक नहीं रहेगा ? मेरे मर जाने के बाद कोन सोचेगा कि एक दिन मैं भी था; जिसमें वेदना थी, प्यार था, और था सब कुछ, जो मनुष्य में होना चाहिए । हजारों वर्ष बाद तक भी यदि मेरा नाम बच गया, तो उससे मुझे क्या मिलेगा ? क्या मिलता है मान्वाता को, क्या मिलता है दधीचि को ? लोग मुझे जानते हैं । बच्चा-बच्चा मेरा नाम नेता है । परन्तु इसका मूल्य क्या है ? कुछ नहीं ।

दासनाएं अपना केन्द्र आत्मा में बनाती हैं । यह आत्मा ही तो है जो है । यह शाक्य सिद्धार्थ जो अपने को शुद्ध कहता है, वह कहता है कि आत्मा कुछ नहीं है, क्योंकि यहां तो सब कुछ क्षण-क्षण बदल रहा है । तब फिर पाप-पुण्य और पुण्य-पाप ही ही क्या ? मेरा मन नहीं मानता उसे । मुझे यही पथ अच्छा लगा है । यही पथ मुझे भाया है । सिंह सेनापति बुद्ध की ओर चला गया है, तीर्थकर के बचन को अविश्वास के योग्य समझकर ? त्रिय ठहरा । वह तो

चाहता ही ऐसा धर्म है जिसमें गणकश्विय आत्मा के पुनर्जन्म के भय से मुक्त हो जाएँ। गवं बना रहे क्षत्रियत्व का। मैं वैश्य हूं और सदैव ही मैंने दया का पालन किया है। और तभी मैं आया हूं बद्धमान की शरण में।

किन्तु क्या यही मनुष्य का अन्तिम सत्य है? मैं नहीं जानता। शाय जानूंगा भी नहीं। परन्तु यही मुझे भाता है, 'क्योंकि मैं पीड़ा चाहता हूं।' औ इसी मार्ग में है वह पीड़ा। मनुष्य के गर्व का खण्डन करने को उसे पीड़ा है चाहिए। और क्योंकि इस पथ में यातना है, मुझे यही चाहिए। यातना मनुष्य बर्वर है। आज भी बर्वर है। उसे अपने अहंकार का गर्व है। किसलिए, क्योंकि वह अपने को ही सबका केन्द्र बनाता है। यह संसार इतना पुराना है चुका है कि मनुष्य अपने सुख को भूल चुका है। क्या है मनुष्य का सुख?

कहते हैं, एक समय था जब सब संसार सुखी था, तब न द्वेष था, न तद धृणा थी, न तद धन था, न ही था कहीं अहंकार। वह युगलिया संस्कृति थी एक पुरुष और एक स्त्री भाग लेते थे। वे भाई-बहिन होते थे। वे ही परम विवाह करते थे। और उनकी भी युगलिया संतान होती थी। उस संसार के शान्ति थी। वृक्ष इच्छाफल देते थे। तब मनुष्य को परिश्रम नहीं करना पड़ता था। किर पुण्य-क्षय का क्रम प्रारम्भ हुआ। वृक्षों ने इच्छाफल देना बन्द कर दिया। कृषि प्रारम्भ हुई। युगलिया संतान का होना बन्द हो गया और को पृथक्षी पाप का वास बन गई। प्रकृति की गोद में रहनेवाला मनुष्य अपने रूप से लज्जा करते लगा। पहले जो नियम से मैयुन करता था, पहले जिसने अंग उसके संयम में थे, वह उनपर से अपना अधिकार खो दैठा। तब उसे लज्जा हुई और वह अपने को, अपनी वास्तविकता को छिपाने का प्रयत्न करते लगा। तब लोभ, ईर्ष्या, अत्याचार, अहंकार, भूठ, हत्या और अन्य पापों ने सिर उठाया। पहले यह पृथक्षी स्वर्ग थी। तब स्वर्ग ग्रलग हो गया और आत्माओं के कर्मों के पापों ने नरकों की सृष्टि की और किर यह नक्र प्रारम्भ हो गया, जिसमें पड़े हुए हम इतनी सांसत सह रहे हैं। तब तीर्थकर जागे। उन्होंने मंगार का त्याग किया। वे किर नग्न हो गए और उसी पुण्यवान मानव-स्थृति को वह पाप, कर्मों के द्वारा जन्मान्तर तक, शताव्दियों तक उत्तर गया था। उन्होंने बताया कि मनुष्य ने भूला दिया था अहिंसा को, अस्तेय को, सत्य को, शान्तय-

को । तभी वह अपने प्रारम्भिक पुण्यमय स्वरूप से दूर हो गया था । उन्होंने कहा कि जाति-धृणा व्यर्थ है । उन्होंने कहा कि मनुष्य तप करके शुद्ध हो सकता है और लोक के लिए उन्होंने घोर तप करके पृथ्वी पर पुण्य का उदय किया । चीतराग का पुण्योदय लोक में वार-वार मंगल की स्थापना करने लगा । अनेक बार जब-जब लोक भटका है, तब-तब तीर्थकर हुए और किसलिए ? इस आत्मा का कल्पण करने को । और हम फिर भी वासनाओं में पड़े तड़प रहे हैं ! हम केवल बाह्य के पीछे अन्तस्थ को भूल बैठे हैं ।

(प्रकृति निरन्तर बदल रही है । निससन्देह कोई परमात्मा नहीं है । यदि यह होता, तो इस लोक में बुराई होती ही क्यों ? वह इस प्रकार खेल खिलाता ही क्यों ? यह तो प्रकृति है, जो सत् और असत् का मिलन बन के पड़ी है । इसमें कार्यानुसार ही परिणाम मिलता है ।

और जो मैं यह सब सोच रहा हूं, क्या मैं अब भी सचमुच कह सकता हूं कि अब मैं ऐसे कर्म में लग गया हूं कि मुझे अब कोई भय नहीं है ?

उधर शालिभद्र सो रहा है । पत्थरों पर । क्या वह पत्थर पर सो सकता था ? मैं ! मैंने तो जीवन के उत्तार-चढ़ाव भी देखे हैं । परन्तु इसने ? लेकिन यह मैं सोचता ही क्यों हूं ? रेशम और मखमल के वे गहे वास्तविक सुख हैं ही नहीं ! जब से मनुष्य ने उस सबको सुख समझा है, सारा संसार उसीको सुख समझ बैठा है । सुख मनुष्य का क्या है ? पृथ्वी का शमन । इस भूठे सुख की ओर भटकते हुए मन को दवाना ही वर्षा है । फिर मनुष्य पृथ्वी पर लौट आए । क्या यह हो सकेगा ? परन्तु लोक ! क्या सब ही कर सकेंगे ऐसा ? नहीं । उन्होंने के लिए तो तीर्थकर अपना वलिदान देते हैं । उनका अक्षय प्रकाश युगान्तर तक अंधकार में सांत्वना दिया करता है ।

मनुष्य सदैव प्रयत्न करता है । निरन्तर । अंधकार में पड़ा हुआ वह वासना का क्रम-विकास बढ़ाता है, परन्तु जब वह उजाले में आ जाता है, तब उसका दूसरा विकास प्रारम्भ हो जाता है । तो क्या वा मेरा जीवन ? वासना या विकास या विरक्ति के विद्यान निहित हैं वृसने की चेष्टा ?

आज मैं नगर में भिजा नांगलर लौटा हूं । मैं ! महात्रेष्ठ घनकुमार ! और किसीने भी दहनाया दद्दी ! मारता है निछूट ! तभी तो उसमें महाकार भरता है । इन दद्दों दे मर्ड दुर्दार दर्दार दिया है और एक दिन के

मांगने ने मुझे हिलाकर धर दिया है ।

तो यथा मैं इतने दिन तक अपने को धोखा ही देता रहा हूँ ? मैंने लोक का कल्याण करने की चेष्टा की, परन्तु क्या लोक का दुःख समाप्त हो गया ? निससन्देह यह व्यक्ति का कर्म नहीं । इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को उठा होगा । क्या यह सम्भव हो सकेगा ? मैं आ गया हूँ । परन्तु मेरी दे पत्तियाँ ?

भूल जा धनकुमार ! इसे भूल जा !

पर मत तो नहीं भूलता । यह संस्कारों में निहित वासना है । यह केंद्र छूट सकेगी ! और मुझे याद आ रहा है ।

उस दिन जब मैं धर छोड़कर उज्जयिनी से चला, तो मेरे सामने कोई नहीं था । कहाँ जाऊँ ?

कौन-सा पथ है ? मैं कहाँ जाऊँ ? भोग चुका हूँ मैं राज्य का सुख । यथा है वह ? एक महाराज ! हम सब चारों ओर फैले हुए प्राणी । सब अपने-अपने स्वार्थ में लीन । भय और अविश्वास में हूँचे रहे । रिश्वत की शकल में भेट देते रहे । अपने से नीचेवाले के लिए शेर, अपने से ऊपर वाले के सामने कुत्ता । विडम्बना ही तो है यह अधिकार की छलना ।

मार्ग कहि हैं । कौन-सा पकड़ूँ ? किधर जाने का है मुझे अधिकार ? फिर वही अधिकार याद आ गया मुझे । यह सारा अधिकार मनुष्य का मनुष्य के लिए तो है । क्या यह सूर्य, यह चन्द्र उसके अधिकार में है ? यथा वर्षा उसके अधिकार में है ? क्या जीवन और मृत्यु भी उसके अधिकार में है ? कोई नहीं । एक भी तो नहीं । फिर मैं अधिकार के लिए क्यों कचोट खा रहा हूँ ?

सामने बन आ गया । सधन हरियाली फैली हुई थी । सब कुद्द बड़ा सुरम्य लगता था । तब समझा कि सौंदर्य एक वाह्य व्यवि है । उसकी वास्तविकता क्या है ? जैसे मनुष्य ऊपर से सुन्दर है, उसके भीतर क्या भरा है ? मन, मांग, रक्त और...

नगर छोटे हैं, राज्य छोटे हैं । उनके दायरे बहुत छोटे-छोटे से हैं । नंगार बन है । क्या सारे संसार में अधिकतर बन ही हैं ? दो राज्यों के बीच-बीच में यह मगानक बन ऐसे ही हैं जैसे मनुष्य की यात्रा में बीच-बीच में संकट आ जाया हरते हैं । इसी पृथ्वी के ऊपर पर्वत हैं । वे खड़े ही रहते हैं । कहीं भी उन्हाँ नीचे भाँकर नहीं देखता । कहते हैं, पर्वत बहुत पुराने हैं । अगम्य लिंग-

गले ये गिरि मनुष्य से भी पुरातन हैं। कहते हैं, पहले ये उड़ते थे। बाद में इनके पंख काट दिए गए। सचमुच इनका अधिकार कितना भयानक रहा होगा! ऐसे ही शिखर हैं हिमालय में। लालसा जाग उठी, देखूँ वे गगनचुम्बी शिखर, वे शिखर जिनपर सदैव कुहर धाया हुआ रहता है, जिनके भीतर निरन्तर एक रहस्य का सिरजन हुआ करता है। उसे पर्दा-सा डालकर यह प्रकृति मनुष्य से छिपाए रहती है। सुनसान! वहां मनुष्य कभी भी नहीं पहुँच पाता। यह जो शताव्दियों से मनुष्य इस पृथ्वी का स्वामी है, यह कभी वहां तक नहीं पहुँचा!!

पथ फैल गया। मैं चल पड़ा। मार्ग में मैंने अनेक रूप देखे। मैंने देखे कम्पकर। वे प्रसन्न थे कि वे अब दास नहीं रहे थे। वे अपने पूर्वजों के बारे में कहते थे कि वे पशुओं से भी गए-वीते जीवन बिताते थे। वे कहते थे कि जीवन अच्छा होता जा रहा था, परन्तु फिर पतन आने लगा है। पता नहीं क्यों ऐसा हुआ! मैंने देखे मार्ग में चाष्टाल। उतकी वस्तियों में भी मैं रहा। मैंने यह जीवन भी देखा। उनके बृद्ध पुरानी कहानियां सुनाते थे, जब वे ही संसार के शासक थे। कोन जाने कितना सत्य था! वे कहते थे कि वे पतित हो गए, तब त्राहणों को व्रहा ने भेजा और उनको नीचे गिराने को उन्हें शक्ति दी। जब मुझे कहीं म्लेच्छ जातियों में कोई मिलता, तो मैं उससे बातें करता। वे प्रायः शारी होते। उनके अपने देवता होते थे। वे भी संसार और आत्मा के बारे में बातें करते थे। परन्तु वे पुनर्जन्म की बात को समझ ही नहीं पाते थे। यह वे मानते थे कि एक दिन संसार समाप्त अवश्य हो जाएगा। संघर्ष यादी भोगप्रिय अधिक होते थे। उनको अपनी प्राचीनता का बड़ा दम्भ था। वे बताते थे कि प्राचीनकाल में उनके देश में गंधर्व रहते थे। एक बार वे गंधर्व देवताओं से लड़ मरे और नष्ट हो गए। उनको मदिरा पीने का बड़ा शोक था। वे मस्त रहते थे और व्यापार में वे नितान्त हृदयहीन होते थे। उत्तर-परिचय में गांधार था। वहां के सुहृद व्यक्तियों की श्रांखें नीती होती थीं। वेद का उनको अच्छा अभ्यास होता था। उन्हींसे मुझे पता चला कि

नामक कृष्ण ने वहां बड़ा अच्छा व्याकरण बनाया था जो तक्षशिला विद्यालय में पढ़ाया भी जाता था। तक्षशिला में संसार के सब देशों से अभिजात युवक आते थे; चीन के भी, पारसीक देश के भी। यवन (ग्रीक), मिस्री भी आते थे कोई-कोई। सुवर्णभूमि का एक युवक मैंने वहां जाते भी देखा था।

कहते थे वहां बड़े विद्यान् होते थे । वज्जिय, शाक्य, मल्ल, विदेह, मागध, यहां तक कि प्रागज्योतिषवासी तक ज्ञान की श्रग्नि लेने वहां जाते थे और स्नातक होकर लौटते थे । कितना प्राचीन था वह विद्यालय, यह कौन जानता था ! दक्षिण के चौल और पाण्ड्य से युवक प्रायः वहां समुद्र-मार्ग से जाते । वे पहले भरकन्द आते, फिर द्वारका और तब उत्तर में स्थल-मार्ग पकड़ते । विद्याटवी का ऐसा भव्य था उन दिनों । जीवन के इन विभिन्न रूपों को देखकर भी मुझे यह अनुभव नहीं हुआ कि मैं किसी वैविध्य में घूम रहा हूँ । कर्मकाण्डी ब्राह्मण देखे, और देखे उच्छ्वृत्तिवाले नाग, देखे अनेक प्रकार के प्राणी ; परन्तु श्रपने का रिक्त जैसे वहां का वहां बना रहा । वह कैसे भरेगा, यही उस समय सोचता था मैं !

चलते-चलते मैं गंगा-तीर पर पहुँच गया । देखते ही चित्त प्रसन्न हो गया । बहुत ही मनोरम दृश्य था । मैंने तीर पर ही वस्त्र उतार डाले और कटि एक वस्त्र बांधे उत्तरकर स्नान किया । गंगा के जल में मैंने एक विशेषता अभूत की कि वह शीघ्र ही सारी थकान को हर लेता है और शरीर को ऐहलका कर देता है कि जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता । इस जल में कावात है ! यही है वह गंगा, तब मैं सोचने लगा, जिसे सब ही इतना पवित्र मानते हैं । प्रत्येक बन, पर्वत और झील में एक देवता है, गंगा भी देवी हैं तभी वह इतनी पूत है ।

मैं किनारे पर बैठकर बदन सुखने लगा । मनोहारिणी वायु के स्पर्श मुझे बहुत सुख दिया । मुझे गंगा के बारे में यादें आने लगीं । कहते हैं, पहाँ मुझे बहुत सुख दिया । मैंने गंगा के बारे में यादें आने लगीं । कहते हैं, पहाँ कभी यहां नाग रहते थे और तब यहां उन्हींका शासन था । फिर निषाध प्राणी और उनका शासन हो गया । वे नावें चलाते थे और समुद्र तक जाया करते थे और संस्मय बदला । निषाध-कन्या एक दिन आयवित्त के सिंहासन पर यैरी थीं और ग्रायर्यों का दम्भ, क्षत्रियों का गर्व खण्ड-खण्ड हो गया । किन्तु यह गच्छुग्रायर्यों का दम्भ, क्षत्रियों में कितना दम्भ अभी तक बाकी है ? यंद्य संदित हो गया है ? गणों के क्षत्रियों में कितना दम्भ अभी तक बाकी है ? यंद्य नहीं ? किर क्षत्रिय का गर्व क्यों अखरता है ? ध्यान फिर गंगा पर आ गया । इसे ही भगीरथ स्वर्ग से उतार कर लाया था ! कैसी कठोर की होगी उसी साधनी ! कितनी शताव्दियों तक किया होगा उसने तप ! मनुष्य का तप !

उसकी महानता का दोतक है। उसीके कारण वह अनेक युगों से पुण्य को धारण करता आ रहा है। गंगा को देखा। यही कहलाती थी पतिर-तारिणी!

मैं जितना ही गंगा को देखता, उतना ही मन में छबता-उतराता जाता। धीरे-धीरे मेरी आँखें उसकी धारा पर स्थिर हो गईं। बहता पानी मेरी आँखों पर ढा गया। मैं तो किनारे की बालू में बैठा हूँ और यह धारा वह रही है। बहाव देखते से मैं भी जैसे वह उठा। कब से वही आ रही है यह? मैं सोच उठा। और बहाव में ठहरी आँख ने कहा—सब कुछ ऐसे ही बहा जा रहा है, बहता चला जाएगा, बहता चला जाएगा। हजार साल पहले वही थी, दो हजार साल पहले वही थी।—और मिस के म्लेच्छ की बात याद आई, जो कहता था कि उसके देश में तिकोनी कब्रें थीं, जिनमें उनके सम्राट सो रहे थे। गगनचुम्बी कब्रें, जिनके पापाण बहुत विशाल थे। उन्हें मनुष्यों ने नहीं देवताओं ने बनाया था। कब? कौन जाने! तब से वे सो रहे हैं और सृष्टि के अंत तक सोते रहेंगे। उस विचित्र कल्पना से मुझे रोमांच हो आया। मैं उठा और चल पड़ा।

दूर काशी नगरी दीख रही थी। लोग कहते थे कि काशी नगरी को शिव कृष्ण ने बनाया था और वह बहुत पुरानी थी। मैंने शैव बहुत देखे थे, और यहाँ में मैंने अनेक सम्प्रदाय देखे थे। कुछ वैदिक सम्प्रदाय के लोग भी शैव थे, कुछ वेद को नहीं भी मानते थे।

काशी के कलश मुझे बुलाने लगे।

अब मैं वया कहूँ कि मैं नगर में गया और मैंने शिव का मन्दिर भी देखा। देगा हाट को। देखा, वही मिला जो किसी भी नगर में मिलता है—वैभव और दारिद्र्य, भोग और घृणा, मदिरा और सम्प्रदाय। मैं नहीं जानता, मनुष्य नितने धर्म मानता है, और प्रायः सभी अपने ढंग को सर्वेषेष भानते हैं। त्याग और तप को नव स्वीकार करते हैं।

यों यह याद्या एक किनारे आ लगी और मैं अब फिर गंगा-तीर की ओर चल पड़ा।

जब मैं लौटा, मांझी मुझे बैठे दिखाई दिए। वे काले बदनवाले लोग थे, उनके कंधों और हाथों की पेशियां बहुत हड़ थीं। वे सिर पर छोटे उण्णीश थापे और कमर में चुक्त थोटी। यायद उनका खाना पक रहा था। पास

में ही कुछ भींपड़े थे, जिनमें से बच्चों और श्रीरतों की आवाजें आ रही कोई बुड़ा खांस रहा था। उन्हें पहले मैं देखता रहा, फिर पास चला गया “यात्री!” एक ने कहा।

उन्हें कोई विस्मय नहीं हुआ। विस्मय क्यों होता? प्रायः काशी में अस्थलों से नाग आते थे। अब अन्य लोग भी आने लगे थे। मांकियों में नाग जो शूद्र थे।

ऐलापत्र मांझी ने पुकारा, “ग्रोरी! आ तो।”

एक युवती वहाँ आई। उसकी कमर में एक कपड़ा था। उसके स्तन तु थे। उन्नत थे, पीन, बड़े ही सुन्दर! वह जैसे उनकी शक्ति जानती थी। मेरों श्रीर देखकर मुस्कराई। मैंने आंखें हटा लीं। उन्होंने भुता हुआ मत्स्य मेरे साम रखा। मैंने मना कर दिया।

उन्होंने मुझे भात दिया।

शूद्र! क्या मैं खा लूँ? यह विचार आया।

याद आया, पार्श्वनाथ भी नागों के साथ रहते थे। अवश्य ही खाते-पीते रहे। उन्होंने ग्राहणों से नागों की रक्षा की थी। मैं खाने लगा। वे प्रश्न ऐ!

मैं खाकर सो गया।

आधी रात के समय कुत्तों के भींकने से मेरी आंखें खुल गईं। चारों प्रोर इखता छा रही थी।

मैं उठा और हटकर बैठ गया। सोचने लगा—मैं किनके साथ टिका हूँ? रे! ये हिंसक हैं। ये मांस खाते हैं। क्या इनके साथ खाकर मैंने शरदा या? तब मन किलकने लगा और मैं एकान्त में गाने लगा। गाकर मन तृप्त गया। चांदनी खूब खिली हुई थी। दहलने लगा। शायद चल भी पड़ा। क्षे पगचाप सुनकर मुड़ा तो देखा वही स्त्री। उस समय वह कितनी भाष्यरा त रही थी! यह मुझमें जीवन में पहली बार कौसा नया भाव आगा था। ज तक क्या युवतियां नहीं देखीं? पर आज तक जैसे मैं सुन्धा या।

स्त्री पास आ गई। उसके मुख से मदिरा की गंध आ रही थी, जिसने मैंन तोड़ दिया। फिर भी मैं अवश्य-सा उसे देखता रहा।

उसने कहा, “यात्री, कितनी अच्छी रात है!”

यह मेरे भाग्य ने दिया है। कब से पड़ा था? किसका है? और मुझे क्या मतलब इन बातों से? उस स्त्री के पीनोन्नत स्तन यदि मैं अपने वक्ष से दबाता तो?

उठकर चल पड़ा। चला। जल्दी-जल्दी। अब लगता था, मैं उस स्त्री की भुजाओं में था। उसे चूम रहा था, उसकी उन नशीली आंखों को। मदिरा में से अब सुगन्धि आ रही थी। और मैं कितना धनी था! मेरे पास कितनी बहुमूल्य मणि थी! कैसा मूर्ख था मैं भी! सब कुछ था। सब कुछ पा सकता था। फिर भी अपने दंभ में मब छोड़ता रहा और हुआ क्या उससे? छाई एक नीरस शुष्कता। घने वृक्षों के पीछे से चलते हुए मुझे लगा—मेरे पीछे कोई आ तो नहीं रहा? ठहरकर देखा। कोई नहीं था। तो वह मेरा भ्रम था? ऐसा क्यों हुआ मुझे? तब मेरे दूसरे 'मैं'ने कहा: वह स्त्री! वह मणि! इन दोनों ने मुझे पथ से डिगा दिया है।

कुछ साधु वहाँ बैठे थे, एक और निर्जन में। वे एक लंगोटी-माव लगाये थे। उनके सिर पर जटाएं थीं। और देह थीं विलकुल सुती हुई।

मैं उन्हें देखने लगा। और देखता रहा। सोचा—ये भी किन्हीं माताओं के पुत्र हैं। ये यहाँ ऐसे बर्थों हैं? क्या अन्त है आखिर इनकी साधनाओं का? किस सुरा के लिए यह धरती पर, कठोर पत्थरों पर बैठे हैं।

ओर! ध्यान आया। इनके पास या ही क्या जो ये आनन्द मनाते। आनन्द का साधन मेरे पास है। मुझे भाग्य ने दिया है। मणि! और भाग्य ने मुझे स्त्री दी थी। मैं डर गया। भाग गया। साधुओं में एक अपने सिर के बल खड़ा था। न जाने क्यों, मैं मन में हँसा। मूर्ख! पांव नीचे कर ले! यह कौन-सी दिशा की यात्रा का तेरा प्रयास है? शून्य में पांव उठाकर सिर नीचे कर लिया है! योगी! क्या लेगा? गंगा की धारा की भाँति उस क्षण उस स्त्री के पीनोन्नत स्तन उमड़ते हुए मेरे सामने आ गए और मुझे लगा, मैं उनमें फूट पड़ा, हूदा और उत्तरता चला गया। और फिर उनमें लय हो गया। अब मुझे दाह-सा लगने लगा। मुझमें असांति-सी द्या गई। कहीं चला जाना चाहता था।

फौर मैं फिर घन पड़ा। कुद ही दूर जाने पर मुझे एक शब्द दिखाई दिया, जिसे कुनों घोर सियार गा रहे थे। मैं खड़ा रह गया। यह भी किसी माता

का पुत्र है। तब वह पीनोन्नत स्तनोंवाली स्त्री धीरे-धीरे उस शब्द में सभाने लगी और मैं देखता रहा। पशु उसे खाते रहे, खाते रहे। अपने उत्थान-पतल की इस अतिक्रमणमयी निरंतर चलती दुरारोह तृष्णा का मैं अब कहाँ तक स्परण करूँ ! यह तो ज्वार-भाटा है। आई लहर। चली गई। वह आती रहेगी, और लौटती रहेगी। बस, यही हो गया भेरा अपेड़ों से भरा जीवन !

विभिन्न भूमियां मेरे पांवों के नीचे आती चली गई। कभी मैं आकाश में उठता था, कभी मुझे चारों ओर अतल अंधकार दीखता था। न जाने किस असह्य तृष्णा से मैंने वह मणि छिपा रखो थी, परन्तु लगता था कि वह चारों ओर शब्द जला रहे हैं, जलाए जा रहे हैं। कभी मुझे लगता कि मैं किसी वहूं वडे धास के भरे-हरे मैदान में चलता जा रहा हूँ, कभी लगता कि मैं सीढ़ियों पर चढ़ता चला जा रहा हूँ, चढ़ता चला जा रहा हूँ। आंख खुलतीं तो मैं नुप बैठा रहता। मार्ग में स्त्रियां भोजन देतीं, तो मैं सिर झुकाकर खाता। अब मैं आंखें उठाकर नहीं देखता। स्त्री को देखने में अब मुझे संकोच-ना होने लगा था।

अन्त में मैं राजगृह जा पहुँचा। यह थी मगध की भूमि। वही मगध जिसमें जरासन्द था, जिसकी राजधानी गिरिवज के बाहर रखे मनुष्य की यात्रा नगड़े की चर्चा आज तक ग्रामीण किया करते हैं। और मैंने लोगों से युना कि वहाँ न जाने कब से साम्राज्य बनते रहे हैं, विगड़ते रहे हैं। इन मार्गों को अपनी भूमि का गवंथा। परन्तु उस गर्व में एक अच्छाई थी कि वे अन्यों ने घृणा नहीं करते थे। उस समय वहाँ अनेक दार्शनिक रहा करते थे और मैंने किसी भी ज्ञानी को

देगा ? मुझे हँसी भी आई कि एक बहुमूल्य नगि लेकर जी नै सूखा था, किंतु दोटे दूकानदारों के पास उसका मूल्य चुकाने को कुछ नहीं था। सातवें ही एक उद्यान दिलाई पड़ा। मैं उस प्राचीन उद्यान में छुप गया। वह जीर्ण ही चुका था। रोसें कुछ खिलत-सी हो गई थीं।

चांदनी निकली, तब मैंने देखा कि वह बहुत बड़ा था। उसके बृहुत् सूख चले थे। किसी समय यह उद्यान कितना भव्य रहा होगा ! अब ऐसा सूख गया था, जैसे कोई अपने योवन के बीच में ही अकाल वाढ़क्य से मुरली गया हो। सब कुछ ऐसे ही नष्ट हो जाता है। मैंने देखा और मुझे उन युवतियों की याद हो आई, जो कभी उसके आपानकों में किलकरियां मारकर हँसी होती थीं। उन मृगों की, उन सारसों की, हँसों की याद हो आई, जो कभी उसमें नन्हर गति से चले होते थे।

बीच में एक विशाल कुआं देखकर मुझे बहुत ही सुख हुआ। वृक्षों का ग्रन्थकार उस स्थल को समष्टि देखने नहीं देता था; एक और उंचा बाना था और शायद वाकी तीन तरफ बन नहीं पाया था; क्योंकि मिट्टी तो थी फरन्तु उसका सिर नहीं बंधा था। पत्यरों के विशाल शहरीर वहां आइन्हिन्हें रोथे।

अपना उष्णीश उतारकर मैंने कुएं में लटकाया। अब वह नींग बाएँ तो उसे खींचूँ श्रीर अपने मुख में तिचोइ लूँ, और इस तरह बार-बार करने से शायद मेरी न्यास बुझ जाए, यहीं मेरे मन की इच्छा थी।

मैंने हाथ भी लटका दिया और इधर-उधर देखा तो बगा कि कुछ यह पुराना ही। फिर मिट्टी बधों पड़ी थी ? यही सोचकर मैं चाँका। और नव सोचा। उष्णीश सूखा ही निकला। देखकर मुझे किन्तु बार निराश हुई ! यथा कहुँ अब !

उष्णीश छोटा है। मैंने उसमें अपना कठिदन्ध जोड़ा और फिर लटकाया। किर उसे बाहर खींचा, परन्तु वह फिर बैका ही सूखा निकल आया। इस बार एक क्यूतर फटफटाकर बाहर उड़ गया।

मैंने कंकड़ फेंककर देखा।

कंकड़ सूसे पर गिरा।

यह कुछां सूखा है। तभी जारा बान सूख गया है। दर्मा यह निर्जन हो

गया है। और तब ध्यान आया : मूर्ख ! अब तेरे लिए जीवन भी सुखा है !
देख, यह उसीका इंगित है।

निर्दयी ! कूर !—मैंने मन ही मन कहा : इस लोभ और वासना का फल
मुझे हाथोंहाथ मिले, और सब लोग मुख से रहें। मैंने किस स्वर्ग का ठेका लिया
जो मुझे ऐसा इस हाथ दे, उस हाथ ले वाला व्यापार मिला है। छः ! कुछ
भी हो। मैं नहीं भुकूंगा ! अब मुझे सुख चाहिए !

मैं मुड़ा। हठात् पांव डगमगाया। एक पत्थर सरका। मैं तो लपककर पीछे
हुआ कि पास में जो एक लम्बा पत्थर का शहतीर रखा था वह हिला। मैंने
दोनों हाथों से ढाने का जड़ा हुआ पत्थर पकड़ लिया। तभी पहला खड़ा पत्थर
कुएं में गिरा।

मैं जब तक संभलता, तब तक तो शहतीर टेढ़ा हो गया था और एकदम
मैंने कान बंद कर लिए।

धुंधड़ाम ! धूं-धूं...धुंआ हो—धुंआ हो...धध धड़हड़...और पत्थर सीधा
कुएं की तह में जाकर गिरा। भयानक आवाज उठी और तब आवाज आई
छन-छनछन...फलफल फलल फलल...

पश्चिम की ओर कोलाहल मचने लगा। वहां शायद कोई जागा होगा।
पर कोई आया नहीं। कोलाहल जैसे उठा था, वैसे ही शान्त हो गय।

कुएं के भीतर से आवाज आती रही...

मुवक हुवक...थपक...थपक...

मैंने झांककर देखा। पानी आ गया था।

पानी !

मैंने दोनों हाथ ऊपर उठा दिए और कहा, “जय जिनेन्द्र !”

और मेरा प्राश्नर्पण तो तब बढ़ा, जब पानी उफनकर कुएं के ऊपर बहने
लगा। मैंने छक्कर पानी पिया और कहा, “कूप देवता ! तुम्हे सी बार
नमस्कार !”

पानी चांदनी के उजाले में मुस्कराने लगा, जैसे कोई घन्दी बहुत दिन बाद
किसी कारागृह से बाहर निकल आया हो। मैं उसका मुक्तिदाता था। पानी शान्त
पर से गिरा तो चारों तरफ। मैं घुटनों तक भींगता खड़ा रहा। चारों ओर
प्रपात-सी गिरती धारा कुएं की गोलाई को चांदनी में ऐसे चमका रही थी, पंग

वह आकाश का विशाल रत्नजटित चषक धरती पर रख दिया गया हो । वह पानी की आवाज सुनकर जैसे उपवन हंस पड़ा । तब मैं एक वृक्ष के नीचे लेट गया और मुझे लगा कि पुरानी क्यारियों में दौड़ता वह पानी जो चांदनी में चांदी के सांपों-सा चमक रहा था, अपने पुराने मित्रों—वृक्षों, उनकी पत्तियों, बेलों-लताओं से मिलने भाग रहा हो; वह जाकर उनके चरण चूमेगा और फिर वे मित्र उसे सिर पर धर लेंगे, मित्रता से उनका रोम-रोम सिव जाएगा । शायद मैं सो गया ।

◀ प्रभात का समय आया और आंख खुलते ही मैंने देखा कि कई लोग वहाँ खड़े हुए मुझे देख रहे थे । वे बातें भी करते थे, तो बहुत ही धीरे-धीरे । शायद मेरी नींद न विगड़े, उन्हें इसका ध्यान था । वे शायद सेवक थे । उनके मुख पर विनय तो था ही, मुझे देखकर उन्होंने साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया ।

मुझे आश्चर्य हुआ ।

मैंने हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया ।

उनमें से एक वृद्ध, जिसके कानों के बड़े-बड़े कुण्डल हिल रहे थे, क्षण-भर कुछ माहस-सा एकत्र करता रहा और फिर उसने दोनों हाथ जोड़कर कहा, “आग देवता है ?”

▶ मैं स्तव्य रहा । उसने स्वयं कहा, “कुआं सूख गया । उद्यान सूख गया । तथ स्वामी ने इसे इतना खुदवाया कि कारीगरों ने निराश होकर खोदना छोड़ दिया । राजगृह में इस तरह चलता कुआं सूख जाने से स्वामी की सर्वत्र निर्दा होने लगी । याज आपने उस कूप से पानी निकाल दिया !”

तब मैं समझा कि इस सम्मान का कारण क्या था । वह कहता गया, “आपने न खोदा, न छुया । आपके आगमन से स्वयं धरती फटी, मातो वज्र का हृदय फट गया और भीतर से अमृत निकल आया । इन वृक्षों की प्यास मिट गई । प्रभु ! स्वामी आते ही होंगे । हमने भिनसारे ही आदमी भेज दिया है ।”

इसी समय एक रथ आकर रुका । स्वर्णमंडित रथ पर प्रभात की किरणें उड़ीं । पीदे का रेशमी, भारी और जरी से लचित पर्दा हटा । वृद्ध ने कहा, “मा गए स्वामी !”

कई व्यक्ति उधर चले गए । प्रणाम किया ।

मैंने देखा, एक अदेह व्यक्ति एक कन्या के साथ रथ से उत्तरा । वे कुएं के

पास गए । पानी को ऊपर उफनते देखकर लड़की हृष्ट से ताली पीटने लगी । तब मानो पेड़ चारों ओर खिलखिलाकर हंसने लगे । अघेड़ व्यक्ति के नयनों में आँखोंसे भर आए । एक व्यक्ति ने मेरी ओर इंगित किया ।

“वे दोनों मेरे पास आ गए । मैं बैठा रहा । भूखा था । पुरुष मेरी ओर अत्यन्त विस्मय और श्रद्धा से देखता रहा ।

बृद्ध सेवक ने कहा, ‘स्वामी ! न जाने किस तरह इनके प्रताप से पानी ऊपर उमंगकर वह रहा है !’

उस कन्या ने मेरी ओर देखा । वह मानो एक विचित्र वस्तु को देख रही थी । कैसी कमल जैसी थीं उसकी आँखें !

“प्रणाम करती हूँ ।” उसने हाथ जोड़कर कहा, “उस आत्मा को, जिसे पृथ्वी ने पानी पिलाने को अपना जल इतने ऊपर उठाकर बाहर फेंका ।” वयस्क मेरी ओर देख रहा था । मैं कन्या की ओर । उसे अपनी ओर देखते देखकर नयन मैंने झुका लिए, परन्तु ऐसा लगा जैसे हृदय पर एक रेखा खिच गई थी उस आवेश के क्षण में मैं मूरछित हो गया ।

जब मेरी आँखें खुलीं, वयस्क मुझे पंखा कर रहा था और वह लड़की अपनी जंधां पर मेरा सिर रखे थी । उसके कानों के फूल झुककर उसके पराग-रंजित गंडस्थल पर झूँज रहे थे और उनके नीचे से मणिकुण्डल भाई मारकर उसके कपोलों की स्त्रिघ स्वच्छता को और भी पवित्र बना रहे थे, जैसे वह तुहीन धौत कोई स्त्रिघ कमल का मांसल दल था, श्वेत—जिसमें गुलाबी आगा भीतर से फूटी पड़ रही थी ।

मैं उठकर बैठ गया । बृद्ध सेवक ने मुझे गाढ़ा दूध दिया । मैं दोनों पुष्ट से लगाकर धीरे-धीरे पी गया । नवीन चेतना का द्युरण हुआ । तभी वोर ते नदे आग्र की ताम्र सुषमा सहस्र बाहु वसन्त की भाँति भूम उठी, नदोंकि पुस्तकोंका पुकार उठा । और उस क्षण, वस उस क्षण, उस युवती के कपोलों पर नालिमा ऐसी कौंध गई जैसे रागारुण अस्वरमें विद्युत् की तृष्णा धीरे-धीरे स्वरं के विद्युम द्वारों को थपथपा उठी हो । तब वह समस्त उद्यान एक मरकत धोभां में गमकने लगा और विभोर अतीन्द्रियता मेरी चेतना बनकर व्यापक अन्तरान में सिहरने लगी ।

वयस्क ने कहा, “ग्राये ! आप कौन हैं ? वन देवता हैं ? ऐसा क्या ! ऐसा

सीन्दर्भ ! जिसे देखकर मुझे मनमय का भ्रम होता है !”

मैं लजा गया। जानता था, यह पानी निकलने के प्रभाव से उत्पन्न इन्द्रजाल का ही प्रभाव था। अन्यथा पुरुष कभी पुरुष से ऐसी बात नहीं करता।

मैंने कहा, “नहीं आर्य ! मैं मनुष्य हूँ ।”

“तो यह जल आपके ही पुण्य-प्रताप से प्रकट हुआ ! राजगृह में मेरी निन्दा होती थी। पुरुष-परम्परा से यह उद्यान चला आता है। मेरे समय में आकर अचानक ही यह शुष्क हो गया। लोगों ने कहा कि श्रेष्ठ कुमुमपाल पापी है अन्यथा ऐसा क्यों होता। यह कुमुमश्री सखियों में व्यंग्य-बाण सहती थी। समाट श्रेणिक विम्बसार ने मुझे बुलाकर स्वयं इसके विषय में पूछा था। मैं वया उत्तर देता ! मैंने राजगृह के सबसे कुशल कारीगरों को बुलाकर इसे खुद बाया। परन्तु जल नहीं निकला। और आपके आते ही यह फूट निकला। मेरे ये सेवक हैं। इनमें से कुछ पास के नगले में रहते हैं। रात को इन्होंने एक प्रचण्ड शब्द सुना। समझे कोई उपदेवता होगा, क्योंकि शापग्रस्त उद्यान में और कोन होता ! आज प्रातःकाल आकर देखा……”

युद्ध सेवक ने काटकर कहा, “मैं आया ! लोगों ने कहा—उधर मत जा जरठ (झूड़े) !—मैंने कहा : नहीं । फिर भी यह स्वामी का उद्यान है।—मैं आया और मेरे नेत्र आश्वर्य से फटे रह गए। जल कुएं के बाहर निकल रहा था। मैंने इधर-उधर देखा। देवता शान्त सीए थे। एक बार एक वन्य झूल पर बैठी तितली उड़ी और आकर देवता के कोमल होंठ पर बैठी और देवता स्वप्न में गुसारा उठे। तब वह उड़ गई। शीतल वायु ने देवता के माथे पर पड़ी लट्ठ को हिलाया। स्वामी ! मैंने तभी प्रणाम किया और लौटकर लोगों से कहा : याज रात श्रेष्ठ कुमुमपाल के जीर्णोद्यान में कोई देवता आया है। उसने इस युष्म उपवास को हथ करने के लिए पदार्पण किया। उसने धरती से कहा कि जल दे। उसकी आज्ञा से धरती फट गई और जल ऊपर चढ़ने लगा और यात्र निकलकर वहने लगा।—मैंने युवकों को स्वामी के पास भेजा—स्वामी ! पुर में देनता आया है। यह भाग्यवान है। उत्सव मनाने की आज्ञा दें। हम प्रार्थना करते हैं कि देवता गोरख के साथ राजगृह में प्रवेश करे और स्वामी के भगव में घृतकर सोए भाग्यों को जगा दे।”

श्रेष्ठ कुमुमपाल ने कहा, “आर्य ! इनकी बात सुनकर मुझे विश्वास नहीं

हुआ। मैंने बार-बार पूछा। मैं समझा, कोई उपहास है। पर इन्होंने बार-बार यही कहा। तब द्वार पर कोलाहल होने लगा। पथ पर जाते प्रापाद के काचारियों को पता चला। तब बेटी ने कहा, “पितृ ! चलकर देखिए त !— और मैं देखता हूँ। यह तो सच था !”

मैंने कहा, “श्रेष्ठ ! जल अपने-आप नहीं निकला। पत्थर के शहतीर तल को फोड़ दिया।”

अबकू रह गए वे ! हूह निकल गई मुँह से। कुसुमश्री ने कहा, “ग्रन्मणि !”

बृद्ध सेवक पुकार उठा, “मत छिपो अब ! दयालु ! जिस पत्थर के शहतीर को बीस आदमी उठाते थे, उसे उठाकर फेंका तुमने ! जय ! तुम्हारी जय !”

वह लोट गया।

बात उलटी पड़ गई। मैंने कहा, “वह मैंने नहीं गिराया। स्वर्ण गिर गया।”

तब कुसुमपाल ने हंसकर कहा, “इहने दो, रहने दो आर्य ! तुम्हें महापुरुष के समस्त लक्षण हैं। शील, विनम्रता, निरहंकार ! मेरे भवन को गृहार्थ करना ही होगा। मैं याचना करता हूँ।”

कुसुमश्री ने मुझे कनखी से देखा और कहा, “चलें आर्य !”

अब वह मुझे याद आता है कि मैं गया तो सही, परन्तु कैसा परिवर्तन था ! वह एक जुलूस था। सारा राजगृह हूटा पड़ रहा था मुझे देखने। राजप्रापाद के वातायनों से भी झक्कते सिर देखे मैंने रमणियों के।

चर्चा थी—वही है ! जिसने कुसुमपाल के उपवन में जाकर पत्थर का शहतीर योंही उठा लिया जैसे वह बांस था ! किर मारा तो पृथ्वी फ़ाटकर पाताल से खींच लाया जलधारा को। उपदेवता के घनिष्ठ पात को गण्डन करके उसने जल को आज्ञा दी कि ऊपर आ। जल ऊपर चढ़कर बाहर निरन्मा और क्यारियों में बढ़ने लगा। यह वही है ! कितना सुन्दर है ! कौना उनिया है ! इतनी कुलीन है इसकी छवि, फिर भी कैसे साधारण वस्त्र पहने हैं !

मुझपर फूल फेंके गए। चन्दन चित्र हुआ। और मैंने सोचा कि ग्रन्मणि-भार्य ! धनकुमार ! संसार में है क्या ? इससे बढ़कर कोई विनियता है ? ‘नहीं, नहीं’ करने से ही लोक जय-जयकार करता है ! यह विचार थांगे हैं।

मुझे एक नया हर्ष हुआ ।

ज्योंही मैं रथ से उतरा, और कुमुखश्री की माता ने मुझे देखा, उसने आगे बढ़कर आरती की, और मुझपर सुहागिनों के फूल वरसाए, धनी और मानी श्रेष्ठियों ने बढ़कर स्वागत किया । मैं शांत-सा भीतर चला गया । जब मैं बैठ गया, तब सुनहले तारों से कढ़ा मखमल का पर्दा एक सुन्दरी ने हटा दिया और कुमुखश्री ने मेरे सामने रत्नजटित सोने का थाल ला धरा, जिसमें फल धरे, थे, सुगन्धित । मेरे भूखे पेट को वह दृश्य स्वर्ण-सा लगा । श्रद्धा और कन्धियों से देखते सोन्दर्य की वह भेट और फलों की मादक गन्ध ने मुझे विभोर कर दिया । उस समय मैंने कहा, "श्रेष्ठिकन्दे ! तुमने मुझ दीन-हीन का स्वागत किया है, इसके लिए मैं तुम्हारा ऋण तो नहीं चुका सकता । परन्तु जो राजगृह की इन अकलुप आत्माओं—मैंने हाय चारों ओर धूमाया जिसे सुनकर सब प्रसन्न हो उठे, आंर किर मैंने कहा—“मैंने मुझे स्नेह दिया है, उसकी मैं अकिञ्चन भी कुछ सेवा करना चाहता हूँ । तुम कुमुखश्री हो । राजगृह मधुवन है । तुम नगर की श्री हो । तुम यहां की पुत्री हो । मेरी ओर से यह भेट स्वीकार करो । तुम्हारे पिता और पूज्यबृन्द मेरा अनुमोदन करेंगे, क्योंकि तुमने मेरी आत्मा के सूखदंन के लिए यह फल दिए हैं, अतः तुम्हारे पिता और इन पूज्य बृन्दों को संस्मानित करने का मुझे अधिकार है ।”

सभा में कोहृल जाग उठा । तब कन्धा ने पिता को देखा । मैंने पिता को, पिता ने स्वीकृति दे दी । परन्तु किसीको भी यह आशा नहीं थी कि मैं क्या दूँगा । एक विस्मय की आवाज निकल गई । मैंने श्रपने वस्त्रों में हाथ डानकर जब हाय बढ़ाकर उसके सामने मुट्ठी खोल दी, तो आँखें चमककर चौंध गईं ।

वह गंगा का दिया दान था—मणि ! वही वहूमूल्य मणि ! चिन्तामणि जैसा रत्न !

रुद्र भेदक फुक्फुकाया, “देवता ! ऐसी मणि ! आज तक किसने देखी ? राजगृह के महामान्य श्रेष्ठियो ! ऐसी मणि किसीके पास है ?”

“नहीं ।” एक बुद्ध ने विचलित स्वर से कहा । वह राजगृह का ‘दानशूर’ कहनाता था ।

उस रत्न का प्रभाव ऐसा पड़ा कि वे बातें ही करते रह गए और मैं फल

खाने लगा। भूख मिट गई। उठकर सोने के पात्र से ढाले गए सुगन्धित जल हाथ-मुँह धोए और बैठ गया। दानशूर महाश्रेष्ठ मलयदास ने कहा, “आप यह रत्न ! यह वस्त्र !”

मैंने हँसकर कहा, “महाश्रेष्ठ ! जीवन एक कीड़ा है। यह वस्त्र है दादिद्वय के प्रतीक। मैं दरिद्र हूँ। यह रत्न मुझे भागीरथी ने दिया था ! मैंने उसे योग्य पात्र के पास पहुँचा दिया।”

“स्वयं देवी गंगा ने !” दृढ़ सेवक पुकार ही तो उठा।

अब सनसनी मच गई। सचमुच वह रत्न ही ऐसा था। मैंने सभा-विसर्जन के बाद स्नान किया। शरीर पर गन्ध लगाई। श्रेष्ठ के भेजे नये वस्त्र पहने। मध्याह्न के भोजन में श्रेष्ठ कुमुमपाल, उनकी पत्नी और पुत्री-पुत्र तथा कुछ निकटस्थ स्त्री-पुरुष सम्बन्धी थे। मैंने वैसे ही भोजन किया वैसे कभी श्रवण र पहने पर महासेन चण्डग्रन्थोत्त के प्राप्ताद मे किया करता था। वे लोग वहाँ प्रसन्न हुए। मैं रत्न देकर हलका हो गया था, मुझे वहाँ आनन्द आ रहा था। इस भाग्य के खेल पर और प्रतिक्षण तैयार कर रहा था अपने को फिर बिरी भयानक परिवर्तन के लिए। उसके आने-जाने में देर ही बिया लगती है !

परन्तु आज सोचता हूँ कि उस समयकी उस प्रफुल्लताके मूल में कुछ और भी था। वह या कुमुमश्री का सानिध्य। जाते वर्षों, सब कुछ वहत हलका-सा लग रहा था। खूब बातें हुईं। अन्त में श्रेष्ठ कुमुमपाल ने मुझसे मेरा परिचय पूछा। मैंने कहा, ‘जन्मना श्रेष्ठ हूँ। परन्तु मैं तो यादी हूँ महाश्रेष्ठि। इतना ही परिचय होना था। हो गया। भाग्य लाया था, ले जाएगा।’

श्रेष्ठ कुमुमपाल के एक चचेरे भाई श्रेष्ठ नमितपाल ने हँसकर कहा, “कुल और गोव छिपते नहीं कभी, चाहे आप कितना ही छिपा से। यीन तो कुलीनों को ही छुट्टी में पिलाया जाता है। अहंकार थोड़े धन में जन्म लेता है। परन्तु आपका गांभीर्य और यह उदारवृत्ति साधारण कुल का लक्षण नहीं है। आपके भोजन करने के ढंग को देखकर मुझे तो लगा कि आपने धर्म भरा-राजाश्रों के साथ समय व्यतीत किया है। और सौजन्य देखकर कह नमतां कि आप निश्चय ही किसी गणराज्य के निवासी नहीं हैं। कुर्यांकी शरण क्या मेरी कोई बात गलत है ?”

मैंने कहा, “पिरुव्य ! आपकी सूक्ष्म हृष्टि की में प्रदाना करता हूँ। इस-

अकिञ्चन हूँ।" और अपने कुलीन भाइयों की भी मुझे याद हो आई।

कुमुमश्री का मुख मलिन पड़ गया था, खिल उठा। और अन्त में वह मुस्करा दी।

चार दिन में ही ऐसे वे लोग मुझसे छुलमिल गए कि मुझे अपना नाम तो बताना ही पड़ा।

मैंने कहा, "नाम ! शुभ तो नहीं है। है धनकुमार।"

कुमुमश्री ने कहा, "धन के तो आप कुमार हैं ही, सच्चा नाम क्या है?"
मैंने हँसकर कहा, "जीवन की विडम्बना यही है श्रेष्ठिकन्ये ! मैंने बहुत यात्रा की है और देखा है कि जिसका नाम सिंहपराक्रम होता है, वह चूँहे से भी डरता है; और जो धनकुमार कहलाता है, वह वेचारा दरिद्र होता है।"

वह ऐसा बना गई मुंह को, जैसे मुद्रा हो, "क्या बात करते हैं ! हम क्या इसे मान सकते हैं ?"

पब वह उस विशाल मणि को हार में पहनती थी। महारानी मृगावती ने मणि का हाल सुनकर कुमुमश्री को प्रासाद में बुलाया था। श्रेष्ठिपत्नी भी गई थीं। लौटकर वोलीं महाश्रेष्ठ से, "सम्राट भी वहीं थे। देखकर बोले, 'श्रेष्ठ कुमुमपाल के घर तो भाग्य आ गया है। अब क्या करोगी ?' मैंने कहा, 'देव ! जैसी आज्ञा दें।' बोले हँसकर, 'बांधकर रखो।' और पुत्री की ओर देख-कर मुस्करा दिए।"

मैं अपने प्रकोष्ठ में आ बैठा। बाहर दासियों में ठिठोली हो रही थी। एक कह रही थी, "हला सखी ! आज तो मजा आ गया।"

दूसरी ने कहा, "ग्ररी कैसे ?"

पहली बोली, "अरी सुन ! स्वामिनी तो श्रेष्ठिकन्या के साथ भीतर गई। मैं यहीं दासियों के साथ बैठ गई। पता चला कि सम्राट को तो अर्ण रोग था ही, पब भगन्दर-गा हो चला है। वैद्यराज जीवक लगे हैं तक्षशिला के, दवा देने में। परसों महाराज के रक्त आ गया तो वस्त्र विगड़ गए। प्रासाद की दीवायों ने महाराज को सूब ढेड़ा कि प्रब तो महाराज को भी ऋतुस्नान करना होगा...."

दोनों गूढ़ हँसीं। वे चली गईं। मैं महाराज की बात, श्रेष्ठिकन्या की आज-भरी मुहरान, महाश्रेष्ठ के मुख का तृप्त आनन्द। श्रेष्ठिपत्नी के नयनोंका

रहस्य-भरा गवे...एक-एक कर सबके बारे में सोचता रहा।

सन्ध्या शभी आई नहीं थी। घोड़ी धूमने तिकल पड़ा श्रेष्ठ की श्रद्धा-शाला से घोड़ा निकालकर। वसंती रंग का उष्णीश था। आधोवासक धा हलका पीला। उत्तरीय सुनहले तारों का और कंचुक नीला रेशमी, कटि में खड़ग। घोड़ा था काला। माथे पर तिलक। पानी पीता था तो मुँह ढाल-कर। बड़ी ठण्डी और मादक बयार चल रही थी। उष्णीश का पीछे का होर हवा पर फहरा रहा था। बनप्रान्तर में पहुंचकर उत्तर गया और एक चट्टप पर बैठकर छबते सूर्य की सुषमा को देखने लगा। आकाश में नारंगी चमकदारी में घोड़ों की ऊँठ छित्री थी हरियाली पर भीगा-सा नीलापन ढाले। एक बृह का विशाल कोटर बहुत ही लुभावना-सा था। उन दीर्घ वृद्धों के पीछे ग्रनेक छोटे दृक्ष थे जिनपर चिड़ियां बहुत ही मीठा कलरव कर रही थीं। देखते-देखते सूर्य पेड़ों की हरियाली के पीछे इब गया और मैं घोड़े पर लौट चला। जब मैं सिरिमा यक्षी के चैत्य के पास से आगे निकलकर घने पेड़ों के बाहर आ गया, मुझे सुनाई दिया एक अत्यन्त करुण स्वर, “पानी ! औरे कोई पानी....”

फिर स्वर रुक गया। मैं उस तिमिर में किसी श्रेष्ठे व्यक्ति को तड़पते हुए सोचकर कांप उठा। घोड़े से उत्तर पड़ा और आगे बढ़ा। देखा, एक व्यक्ति, तड़प रहा था। उसके पास ही एक घोड़ा छड़ा था; शान्त! स्वामी पी दालों यातना को देखता हुआ। स्वामिभक्त भागा नहीं था। मैंने अपने घोड़े की रक्षा छोड़ दी और भागा। पानी ! पानी बहां कहां था ! हठात् याद आया कि कुछ दूर पर एक ताल था। मैंने उस व्यक्ति को उठाकर उसके पीछे पर रखा और उधर ले चला। मेरा घोड़ा मेरे पीछे आने लगा। हम तालाब के पास आ गए। मैंने उसे उत्तरा और देखा, वह मूर्छ्यत हो गया था। लिटाकर मुँह में पानी ढाला। हवा की। अब अंधेरा हो गया था। निर्जन बांतार ! वही मुद्दा स्थल अब डरवना-सा लगने लगा। ध्यान आया। श्रेष्ठ गम्भीर होगे हि अतिथि मेरा बहुमूल्य घोड़ा लेकर भाग गया। कुछ क्षण याद किर उगरे मुँह में पानी ढाला। तब उसने शांखें खोलकर कहा, “कौन ?”

मैंने उसके हाथ सहलाकर कहा, “यात्री ! यथा हुआ तुम्हें ! अब गो भी अच्छा है ?”

वह मेरी ओर अवस्था-सा देखता रहा। फिर उसने कहा, “मैं फहां ?”

"तुम राजगृह के बाहर हो। कुछ ही दूरी पर नगर है। अब यदि उठ सको
तो तुम्हें नगर ले चलूँ। वहाँ अवश्य कोई वैद्य तुम्हारा उपचार कर देगा।"

वह एकदम खांस उठा। और तब उसके मुख से रक्त और कफ ढेर-ढेर
तिकल पड़े और उसके ऊपर ही गिर पड़े। मैं उसकी पीड़ा से व्याकुल हो
गया। उसको सांस बुटाना कठिन हो गया था, और इस चेष्टा में उसके मुँह से
कभी-कभी ऐसी चिल्लाहट निकलती थी जैसे कोई गीदड़ चिल्लाने की चेष्टा
कर रहा हो, परन्तु चिल्लाने में असमर्थ-सा घुट रहा हो! जीवित व्यक्ति की
ऐसी धंत्रणा मैंने कभी नहीं देखी थी। मैंने उसे फिर पानी पिलाया और जब
वह फिर चुपचाप तिश्चेष्ट-सा लेट गया, मैंने अनुभव किया कि मैं रोना चाहता
था। यह भी मनुष्य का जीवन था! इस सत्ता के लिए भी प्राणी मोह कर
सकता है? तब मैंने अपना हाथ बढ़ाया और उसके वस्त्र को हाथ से साफ
करने लगा। वह चुपचाप देखता रहा। हाँ, वह देख रहा था, परन्तु बोल नहीं
पा रहा था। मैंने रक्त धोया, कफ धोया और तब हाथ धोकर मैंने उसके माथे
यो हाथ पर पानी लगाकर तनिक गीला किया। चंदा चढ़ आया था अब
न्यग्रीष्म के ऊपर, जिसकी किरणों में मैंने देखा कि उस वाणीहीन व्यक्ति के
नेत्रों से आंसू वह रहे थे। यातना ने कैसा निर्वत कर दिया था उसे! कैसा
श्रिवंत-सा पड़ा था वह! आंसू आ रहे थे अब! उसका धोड़ा शांत खड़ा जैसे
देख रहा था।

'कहाँ जाएगे? अब उठ सकते हो?' मैंने झुककर कुछ ऊंचे स्वर से
पूछा।

वह मुस्कराया और उसने इंगित किया—उंगली उठाकर—आकाश की
ओर!

तब मैं सिहर उठा। आकाश की ओर! और वह मुस्करा रहा था!
आजान! शून्य! इतना चलने के बाद कहाँ! कहाँ का लक्ष्य बांधा! शून्य की
ओर! इतना ही पा इस सबका तात्पर्य! और अंधेरे तरुणों पर भीनी चांदनी
पूँ पहा, 'हाँ, यही है इसका अत। अवरचित स्थान! अज्ञात क्षण! अब यह
जाएगा! है कौन? क्या था यह? कहाँ का था? कोई बात नहीं।' एक
मुद्दान मोर इंगित—शून्य की ओर! वहाँ कौन-सी है वह जगह, जहाँ यह
चला जाएगा?

मेरा गला रुध गया । मैंने कहा, “यात्री !”

वह धीरे से बोला, “तुम मनुष्य हो या बनदेवता ?”

“मैं ?” मैंने कहा, “मनुष्य हूँ यात्री !”

“तुम !” वह धीरे-धीरे कहने लगा, “तुम मनुष्य नहीं हो सकते । मैं कभी मनुष्य ऐसा नहीं देखा । मुझे जरा उठा लो ।”

मैंने उसे सहारा देकर बिठाया । अब उसका गला कुछ श्रद्धिक लुला । वह कहने लगा, “मनुष्य कब निस्स्वार्थ किसीके लिए इतना करता है ? तुम मुझे जानते हो ?”

मैंने कहा, “जानता हूँ । तुम कोई दुःखी हो, यात्री हो । मैंने तुम्हें तड़प हुए देखा ।”

“मैं इस निर्जन में तड़प रहा था प्यासा ।” उसने कहा, “समझा था, यही अन्त होगा....”

वह रुक गया । निढाल-सा हो गया । फिर लगा जैसे उसके पेट में मरोड़ा होने लगा । वह मेरी गोद से लुढ़क गया और अब लक के शांत व्यक्ति को मैंने एक भयानक संघर्ष करते हुए देखा, जैसे जीवन उसके रोम-रोम में श्रितिम् युद्ध कर रहा था । मैंने तेज हवा में कांपती दीप-शिखा देखी थी, परन्तु जीवन की शिखा को मृत्यु के शब्दकार में तड़पते हुए देखता मेरे लिए प्रथम अनुभव था । यहां एक व्यक्ति था, शायद राजगृह जा रहा था, शायद यही उसकी श्रितिम् मंजिल थी ; और मंजिल के इतने पास आकर भी वहां नहीं पहुँच पा रहा था, शायद उसकी मंजिल यहीं समाप्त हो गई थी । पसलियां पकड़कर जब वह खांसता और भीतर ऐंठन उठती, तो उसकी कठोर यंत्रणा देखकर मेरे मेलदार में कांतरों की पांति-सी चिपक जाती । और मैं बैठा था । कुछ नहीं कर पा गया था । वह था अपने दुःख का अकेला भोगी । मैं क्या करता ? मैं कभी नहीं होकर इधर-उधर देखता, कभी उसे सहारा देता और कभी उसे हवा फरता, परन्तु अब यंत्रणा ग्रस्त हो गई थी । वह चिल्डने लगा, “दोड़ दो मुझे छोड़ दो मुझे....”

अधेरे में वह स्वर भरपा-सा चीत्कार कर उठा । वह पुकारने लगा,

“अब नहीं कहूँगा....अब नहीं कहूँगा....ओ यम ! अरे मत पा मेरे पाप....”

और ऐसा पीड़ा-भरा रोदन झूंज उठा, जो शायद मैंने कभी नहीं मुना ।

मैंने उसे सहारा दिया, परन्तु बहुत-सा रक्त उगलकर वह दर्द से बड़ी जोर से कराह उठा और चिल्लाता-सा मुझसे कहने लगा, “अब नहीं सहा जाता… नहीं सहा जाता…”

वह कराहता जाता था ..

और जैसे वहुत दूर, सुदूर अतीत में देखते हुए उसने अन्धकार को घूरते हुए कहा, “पाप ! मैंने पाप किया था…हाँ…मैंने भी उन्हें तड़पा-तड़पाकर मारा था…वे मेरे क्रृष्णी थे…वे दरिद्र थे…मैंने धन के मद में उन्हें भूखा मार उत्ता था…दास बनाकर बेचा था…”

फिर वह कराहने लगा और तब उसने अपने बालों को नोच लिया और कहा, “राजगृह ! तू मेरा लक्ष्य था…तेरे लिए मैं भागा था धोड़े पर…सोचा था…राजगृह मैं नगरश्रेष्ठ बनूंगा…परन्तु…परन्तु मुझे काल ने पकड़ लिया मार्ग पर…और वह सारा धन…क्या होगा उस धन का, जिसके लिए मैं सदैव हिन्दूजन्तु से भी अधिक भयानक बना रहा…कूर बना रहा…मरतों को देखकर भी कभी नहीं दहल सका। सुवर्ण की हेरियों से मैंने मनुष्यों की मृत्यु के हाहाकार को ढंक दिया…”

मैं श्रवाक् सुनता रहा। धन ! वही धन !

और तब वह फिर तड़पते लगा। अब मैं नहीं हिला। जैसे मैं पत्थर बन गया था।

उसने कराहकर कहा, “ओर तूने मेरा रक्त धोया…कफ धोया…तू देवता है…जीवन के इस अन्धकारमय दारूण नरक के अन्त में तू स्वर्ग की सुगच्छित शोतल वायु का एक झोंका कहां से आ गया…बोल…कौन है तू…?”

मैं नहीं बोला। वह तड़पता था, जैसे मछली जीवित ही किसी जलते तटे पर डाल दी गई थी। मैंने धीरे से कहा, “उसकी याद कर याओ, जो कें लिए जीवन में कभी पवित्र था…”

वह प्रवृहमा। उसका विकराल क्लूर हास्य ! जैसे मृत्यु से चुनौती देने के नतकार उठा। उसने कहा, “उमकी याद ? ओर श्रव भी ! उस विष की माज ही तो नूने वह विष मुझमें से खींचा है…”

“क्या पा वह…?” मैंने पूछा।

“पन !…मेरा पन…मेरा संचित धन…”

“यात्री ! उसे भूल जा ! वह तेरा नहीं। वह अस्थिर था, है और रहेगा... शांति से मर... बीर की तरह मर...”

“शांति... पाप का पुंज... मैं... और मुझे शांति... देगा शांति मुझे... नहीं मर सकता... मेरे पाप का प्रायशिचत्त क्या है... मैं तो तड़पता रहूँगा... तब तक... जब तक श्रलय नहीं हो जाता...”

“मुझे बता यात्री !” मैंने कांपते कंठ से कहा, “मैं तेरी इच्छा पूरी करूँगा। बता। तेरा घर कहां है... मैं तेरा संदेशा पहुँचा दूँगा...”

“तू लेगा मेरा पाप ? उसे पुण्य बना देगा ? बचन दे !”

“देता हूँ !”

“तो घोड़े की पीठ पर बंधा चमड़े का थैला ला दे... यह मेरे प्राण अटक रहे हैं... उसके बिना यह नहीं निकलेंगे... जल्दी कर...”

मैंने थैला निकाला और उसके हाथ में दे दिया। उसने एक बार उसे देता और कहा, “यह ले... मेरा पाप... पुण्य बना दे...”

और जैसे दीपक हठात् बुझ जाए वह एकदम लुढ़क गया। एकदम शांति छा गई।

रक्त और कफ से लिसड़ा वह अनजान यात्री अब पीड़ा से मुक्ति पा गया था, सदा के लिए। मैंने देखा कि असह्य यातना ने उसके मुख को टेढ़ा कर दिया था, जिसके कारण उसकी जीभ भी ऐंठ गई थी और वह भी ऐसा पड़ा था, जैसे किसीने उत्ते मरोड़ दिया हो; परन्तु उसके नेत्रों में एक मुस्कान थी...

और मेरे हाथ में था उसका पाप, जिसे मुझे पुण्य बनाना था। मैंने प्रपत्नी उत्तरीय उसे उढ़ा दिया। उसका घोड़ा उसके पास आ गया था और रो रहा था। मैंने घोड़े को रोते देखा तो मुझे भी आँख आ गए। मैंने अनुभव किया कि एक अनजान यात्री, जो किसी उद्देश्य को लेकर राजगृह जा रहा था, मंजिनि के पास आकर सारे अरमान लिए मर गया था और ऐसे तदृप-तदृग्कर कि देखना असह्य था। अन्तिम क्षण में उसे लगा था जैसे उसका सारा जीवन एक पाप था, एक जघन्य स्मृति थी, जिसके स्मरण से वह डरता था; उसके प्राप्त नहीं निकलते थे। और अब ! वह सदा के लिए चला गया था।

मैंने लकड़ियां इकट्ठी कीं और चिता बनाई और पत्थरों को रागड़कर प्राप्त सुलगाकर तिनके जलाए और तब चिता पर उसे लिटाकर प्राप्त लगा दी। मैं

वैठा उसे जलते देखता रहा । उम ज्वाला में जाने की पीड़ा थी कि उसका घोड़ा जोर से हिनहिना उठा और भाग चला । मैं वैठा रहा । एक मनुष्य के अन्त को देखता रहा । उसका एकमात्र साक्षी मुझे ही होना था । मेरे ही हाथों उसे दाह लगाना था ।

चिता की अग्नि फैलती गई और तब उसके उजाले में मुझे ध्यान आया । कथा है उसका पाप जिसे मुझे पृथ्वी बनाता है । मैंने हाथ बढ़ाकर चमड़े का थेला उठा लिया और लोला । ज्योंही उसे उलटा किया, मेरे हाथ पर हीरे और मोती वरम पड़े । जिसने अपने जीवन-भर इन्हें कमाया था, इन्हींके लिए पाप किया था, इनका ही जिसे इतना भय और मोह था कि उसके प्राण तक नहीं तिकल रहे थे; श्राज वे ही धन के टुकड़े मुझ अपरिचित के हाथ में थे, और मैं उन्हें उसीकी चिता के प्रकाश में देख रहा था, जिसने इन्हींके लिए जीवन विताया था । आज वह स्वयं जलकर अपने जीवन की सार्थकता का पाठ पढ़ा-कर, मुझे अपनी चिता के आलोक में दिखा रहा था कि उसने अपना सारा जीवन किस तरह व्यर्थ ही बवंर और हिल मूर्खता में नष्ट कर दिया था ! और इसे मुझे पृथ्वी बनाना है ? इसे पाप कहूँ कि पत्थर ! इसे पृथ्वी बनाना है ।

मैं ठड़कर हँसा । मेरा घोड़ा मेरे पास आ गया ।

)- तब मैं उठ खड़ा हुआ । चंदा अब उतार पर था । रात सुनसान अंधेरी हो चली थी । भीनी-सी हवा अब फिर वह निकली थी । चिता की अग्नि भी बुझ चुकी थी । मैंने हाथ-पांव धोए । और तब मैं घोड़े पर चढ़ गया और थेला लिए मैंने एड लगाइ । घोड़ा भाग चला ।

शलस अंधेरे की बेला में, मैं सग्राट विवसार के विशाल प्रासाद के सामने पहुँच गया । बाहर जो घटा लटका था, विशेष कार्य से प्रार्थना करते वालों के लिए, उसकी रज्जु मैंने खींच दी । तुरन्त दो सेवक आ गए । मैं घोड़े से उतर पड़ा ।

"या चाहते हो !" दण्डधर ने घूरकर कहा ।

शायद मेरे विवर गए थे वाल । शायद मेरे लाल-से थे नेत्र । शायद मेरे अस्त व्यस्त-से थे वस्त । मुझे याद नहीं है ।

"मैं सग्राट के दर्शन करना चाहता हूँ ।"

"इस समय ?"

“हां, इसी समय !” मेरा स्वर उठ गया था ।

प्रासाद का बृद्ध कंचुक आ गया और बोला, “युवक ! सूर्योदय हो जाने दो । तुम्हें विशेष कार्य है कुछ ?”

मैंने कहा, “यह लो ! सम्राट् को पहुंचा देना । जिसका यह दान है, वह सम्राट् के महानगर के द्वार पर आकर आकस्मिक रोग या दैव से मर गया । वह चाहता था कि इस पाप को पुण्य बना दे कोई । यह कार्य केवल राजा कर सकता है ।” मैंने थैला उसके हाथों पर फेंक दिया ।

यह कहकर मैंने घोड़ा मोड़ा ।

कञ्चुक ने मुझे रोककर इंगित किया, “थैला भीतर चला गया । सम्राट् अभी आएंगे युवक ! बैठ जाओ ।” कञ्चुक ने कहा । मैं चुपचाप एक फतका पर बैठ गया । जब सम्राट् आए, वे कुछ विस्मित भी थे, कुछ ध्वराए भी ।

“कौन है ?” सम्राट् ने कहा ।

“दास है देव !” मैंने उठकर प्रणाम किया ।

“वह तुमने दिया है ?”

“हां देव !”

“वह किसका है ?”

“पाप और भ्रम का । एक विनष्ट जीवन का । उसके स्वामी हो सकते हैं केवल देव !”

सम्राट् श्रेणिक विवासार मुझे देर तक देखते रहे । फिर कहा, “तुम कौन हो युवक ! कहां रहते हो ?”

“मैं धनकुमार हूं देव ! एक विदेशी हूं । इस समय महाश्रेष्ठ कुमुमाल पर गतिथिं हूं ।”

विवासार चौंक उठे और तब उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया और कहा, आओ मेरे साथ ।”

मुकते दण्डधरों, प्रतिहारों के बीच से होकर वे मुझे अपने विशान प्रबोध ले गए और स्वयं अपने हाथ से उन्होंने पात्र में पानी भरकर मुझे दिया । ऐर कहा, “पियो !”

मैंने गट-गट करके पी डाला उसे । स्वयं सम्राट् ने फिर उसे भग पीर ने किर पी लिया । और तब मुझे लगा कि मुझे कुछ भी दिग्गज नहीं दे सकता ।

था। मैंने हाथ फेला दिए, परन्तु जब मुझे होश आया, मैंने देखा—एक ओर से सम्राट् मुझे संभाले थे, दूसरी ओर एक प्रतिहारी थी। उन्होंने मुझे एक शय्या पर लिटा दिया। सामने जलती चिता देखकर मैं चिल्ला उठा, “बुझा दो उसे! कितनी भयानक है वह चिता!”

मैंने आँखें बन्द कर लीं। दूर से लगा कोई कह रहा था, “देवि! उस दीपक को बुझा दो। युवक अभी अस्थिर है।”

मैं सो गया।

✓ जब मैं जागा तो शरीर काफी हल्का-सा लगता था। दासी ने कहा, “प्रभु! स्नान कर लें।”

मैं स्नानागार में पहुंचा तो देखा, संगमरमर के कुट्टिम पर कहीं-कहीं केसर पढ़ा था। हंस कीड़ा कर रहे थे। उष्ण और शीतल-सुगंधित जल लिए दासियां प्रतीक्षा कर रही थीं। मैंने देखा और कहा, “एकांत!”

वे सब चली गईं। स्नान करने से मैं जैसे शांत हो गया। भोजन का थाल प्रकोष्ठ में ही आ गया। निरामिष भोजन था। कितने ही तरह के व्यंजन थे। खाकर सोपा तो संध्या को उठा। तभी कञ्चुक ने आकर कहा, “प्रभु! देव ने स्मरण किया है।”

)- मैं उठ खड़ा हुआ।

विशाल सुवर्ण सिंहासन पर सम्राट् उपस्थित थे। एक और कुणिक घजातशयु, और दूसरी ओर अभयकुमार; दोनों राजकुमार खड़े थे। प्रतिहारी मुझे भीतर ले गई। मैंने झुककर प्रणाम किया।

सम्राट् की आज्ञा से मैंने सारी घटना सुनाई, जिसे सुनकर वे कुछ क्षण मौत रहे। कुणिक और अभय भी। तब कहा, “अभय! तुम मेरे साथ चलो। कुणिक, हमारी ओर से बनकुमार के लिए एक प्रापाद, और सारी मुविधाएं। दहर पन कोष में दे दो।”

“जो आज्ञा देव!” कहकर कुणिक मेरे पास आया। सम्राट् और अभय जाने पर कुणिक से मुझे पता चला कि कुमुमपाल को सम्राट् ने बुलाया था और मेरी बहुत प्रशंसा की थी।

मैंने कहा, “मैं अपने घर जाना चाहता हूँ।”

कुणिक ने मुस्कराकर कहा, “वह तुम्हारा घर कहां श्रेष्ठिपुत्र! तुम्हारा

‘प्रासाद तो उत्तर कोण में है। सम्राट् ने स्वयं अपने लिए बनाया था। तुम हमारे अतिथि हो। वैसे जाग्रो अवश्य। कुसुमश्री पथ देखती होगी।’

मैं अकचका गया।

उत्तर कोण में ! प्रासाद ! अपने लिए बनाया था सम्राट् ने ! अब मेरा है वह ! मैं कितना हँसू—भाग्य की विडम्बना पर ! मैं समझ नहीं पा रहा था। श्रेष्ठि कुसुमपाल के यहां पहुंचकर धोड़े से उत्तरा। संवाद नगर में पहले ही पहुंच चुका था। घर-भर जानता था अब कि मैं सम्राट् के पास था। कुसुमश्री मुझे देखकर मेरे समीर आ चौंठी। बोली, “आर्य ! मेरी वधाई स्त्रीजार करें।”

मैंने उसे आँखें फाड़कर देखा। एक बार हमारे नयन उस एकान्त में मिले। मैंने उसके हाथ पकड़कर कहा, “मत दो मुझे वधाई कुसुमश्री ! मुझे भय लगता है।”

“पुरुष होकर भय !” उसने कहा। जैसे पुरुष वया हुआ पहाड़ हो गया ! और सोचा, ठीक ही तो कहती है। स्त्री पुरुष ही को कल्पना करती है। वह नहीं जानती कि अपनी वेदना में पुरुष कितना निरीह होता है। कुसुमश्री ने उच्छ्रवसित होकर कहा, “पुरुष शक्ति है !” और फिर मेरे देखते ही लजाकर सिर झुकाकर कहा, “स्त्री प्रेम है। पुरुष और स्त्री ! जानते हो ? सच ! मैं फह नहीं सकती !”

“मैं बहुत व्याकुल हूँ कुसुमश्री ! मुझे आधार दो। मुझे सब कुछ होते हैं भी, लगता है, मेरे कुछ नहीं है। सब कुछ सूना है। सब कुछ शून्य है। चाँपों और एक अत्यन्त कूर और तिमंस प्रकृति बिना कहे, बिना सुने, हमें नचाही चली जा रही है। यह क्या है कुसुमश्री ! बोलो ! कुसुमश्री !” और फिर मैं रात की बात सुनाई।

वह मेरी ओर देखती रही, फिर कहा, “जीवन है तब तक है। कोई क्यों नहीं मरता है, कोई कैसे ही !”

और सचमुच दो बार उस कहानी को सुनाने पर मुझे लगा कि यह पटना ऐसी कुछ विचित्र नहीं थी। केवल कुसुमश्री ने कहा, “श्रेष्ठिपुर ! तुम सचमुच बहुत महान हो। सब कुछ दे डालना तुम्हें सहज है। अपने से पुढ़ भी नहीं नहीं तुम्हें। तभी तो सब तुम्हें चाहते हैं। अब प्रासाद भी नहीं चाहते !”

“तुम चलोगी मेरे साथ देखने ? चलो कुसुमश्री !”

उसने लजाकर कहा, “हाय अभी से !” और उसका कटाई मुझे विभोर कर गया। मैंने कहा, “तुम नहीं चलोगी तो मैं वहां क्या करूँगा !” उस समय मैं नहीं जानता था कि मैं कितना उच्छ्रवासित था। मैंने घुटनों पर टिक्कर उसके बक्ष पर अपना सिर रख दिया। उसके धड़कते हृदय की आवाज़ मैंने सुनी। उसने मेरे सिर को अपनी छाती पर दबा लिया। मैं कहता गया, “कुमुमश्री ! मुझे सहारा चाहिए। धन, अधिकार, शक्ति, पाप और पुण्य, परिवर्तन यह राब प्रलृति और दैव के निर्मम खेल है। मैं इनसे लड़कर नहीं जीत सकता। यह दैव मनुष्य के हाथ की बातें नहीं हैं। मैं इनको समाप्त भी नहीं कर सकता। परन्तु प्रेम मनुष्य की शक्ति है। थोड़ा-सा स्नेह ! दे सकोगी कि इस शून्य का विस्तार भर जाए ! इस विराट अस्तित्व में तिनके का सहारा यह प्रेम !”

कुमुमश्री ने उसी प्रकार मुझे निपटाए कहा, “तिनका ! जिसे पकड़कर सावित्री ने यम को हराया था स्वामी !”

स्वामी ! मैं विभोर हो गया।

वाहर कुमुमश्री की सखी ने ग्राहट करके कहा, “हला सखी ! अब आगे के लिए भी बुद्ध रहने दो। माता आ रही हैं !”

यह विल्ली कब से खड़ी थी यहां ? हम दोनों लाज से लाल होकर अलग हो गए। कुमुमश्री तो तुरन्त बगल के द्वार से चली गई।

श्रेष्ठिरत्नी आई। मैंने प्रणाम किया। बैठकर बोलीं, “थैठो श्रेष्ठिरुद्र ! प्रानाद से सम्राट् ने कहलाया है। सब मुना हैं हमने। कुमुमश्री के पिता तो हमने से मुण्ड हो गए हैं !” फिर स्वर बदलकर कहा, “श्रेष्ठिरुद्र ! कैसे कहूँ। मूढ़ नहीं गुज़ता कि तुम न जाने क्या नीचांगे। परन्तु अपनी यह पुर्णी मैंने बड़े नाद में पानी है। इतने दिन मेरे गहरे देवकी द्वी कि कोई योग्य वर मिले...”

प्रासाद में गया, विवाह हुआ, कुलीनों को भोड़ हुई, सम्राट आए, वंभव नाचने लगा और तब ? तब कुसुमथी के नयनों में मैं अपने-आपको भूल गया और भूल मई कुसुमथी अपने-आपको मेरे संगीत में ।

इन्हीं दिनों एक हलचल हुई । महाराज चण्डप्रधोत महासेन सेना लेकर बढ़ आए । लगा कि युद्ध होगा ही, परन्तु अभयकुमार ने किसी प्रकार उन्हें ऐसा श्रम में डाला कि वे ध्वनिकर पीछे हट गए । कुछ ही दिन बाद संचाद आया कि चण्डप्रधोत उज्जयिनी से लौटे और धोका खाने से कुद्ध होकर किसी दून से अभयकुमार को पकड़ ले गए । मुझसे किसीने राय नहीं ली । अतः मैं कुछ नहीं बोला । और फिर मुझे अब कोई टीस नहीं थी । प्रासाद था, दार्दासियां, भृत्य, अनुचर, सैनिक, धन, उद्यान, थ्रेष्ठ भोजन था और मिश्र थे, जो दिन पर दिन बढ़ रहे थे । सारा समय कला-विळास में वीतता था और सबसे ऊपर थी मेरी प्रिया कुसुमथी ! फिर भी अभयकुमार का पकड़ा जाना साधारण विषय न था । मैं भी सम्राट के पास गया । संवेदना प्रकट की । मैं बोला, “महाराज ! कुछ मेरे थोख सेवा……”

हँसे । मैंने देखा कि वह व्यक्ति राजनीतिज्ञ था । समृद्ध का सा गम्भीर । बोले, “वस्त ! राजा किसीका अपना नहीं होता, व्यक्ति उसे प्रजा का हित देखना पड़ता है । अभय अभी वहीं रहे, तो युद्ध दूर रहेगा । प्रधोत मैं इतनों साहस नहीं कि उसे दुख देया मार डाले । मेरे गुप्तचरों से मुझे सब समाचार मिल रहे हैं । प्रधोत हठी और मूर्ख है ।”

“तो देव, मैं कुछ …”

“मेरा कौन-सा व्यक्ति कब राज्य के काम आएगा, यह मैं देखता रहता हूँ दरस ! जहां तलवार की जहरत होगी तलवार भेजूंगा, जहां सुई की जहरत होगी वहां सुई भेजूंगा । अभी लेलो-कूदो । मैं स्वयं जाप्रत हूँ । हाँ, तुमने गुना ! नगर में जातृपुत्र महावीर वर्द्धमान आए हैं । वंशानी के धनिय । गणराज सिद्धार्थ के पुत्र । कहते हैं लोग, वे तीर्थकर हैं ।”

मैं हँसा । कहा, “इस युग में तीर्थकर ?”

“अरे वहस !” वे बोले, “वह भी आ गया है ।”

“कौन देव ?”

“ज्ञान्यपुत्र सिद्धार्थ गौतम । गणराज युद्धोदन का पुत्र । वह धर्मने ।

बुद्ध कहता है। मुझे याद है, वह गृह त्यागकर यहां आया था—राजगृह। अच्छा सुन्दर-सा व्यक्ति था। मैं भी उसे देखकर प्रसन्न हुआ था। मैंने उससे कहा था कि धन, स्त्री, अधिकार, जो तू चाहे, मैं दे सकता हूँ। उसने कहा : नहीं। यह मेरे पास था। अब मैं लोक में धर्म की दुन्दुभी बजाना चाहता हूँ। मैं सत्पथ खोजूँगा।—वत्स ! उस युवक में कुछ था जहर ! उसमें लगन थी। मैंने कहा था : अच्छा ! यदि तू कुछ खोज सके तो मुझे ज्ञान देना !—अब वह आ गया है, सारे शाक्य उसके पीछे लगे हैं। कुछ पा गया लगता है। वत्स ! उस लोग कुछ कर तो लेते हैं। मैंने अजित केसकम्बल को भी देखा। मंखलि गोसाल से भी मिला हूँ। पता नहीं, मार्ग किसका अच्छा है ! पर हैं ये लोग कुछ ठोस ! लोक-मानस को जीतना क्या सहज है ? कहते हैं, गौतम ने शास्त्रार्थ में काश्यप को हरा दिया। औरे काश्यप ! उफ ! उसकी मेघा का डंका गांधार से मुनकर लोग आते हैं।”

मगध में हलचल थी। जगह-जगह विवाद। बुद्ध और तीर्थकर ! दो-दो मानव के पथ ! परन्तु मैंने कुसुमश्री से कहा, “प्रिये ! ये दोनों कभी मिलते भी हैं परस्पर !”

वह हँसकर बोली, “वस ! स्वामी ! तुमने कह दी। न मिलने में ही गोरव है। मिलेंगे तो लड़ न पड़ेंगे ? एक बन में दो सिंह कभी रहे हैं !”

मैं भी हम पड़ा। परन्तु राजगृह के भाग चेते। बड़े-बड़े लोग आने लगे। मैंने कहा, “चलो कुसुमश्री, देखें तो। सम्राट, महाराजी बंदेही, देवी चेलना, देवी मृगावती, सबने हिस्से बांट लिए हैं।”

वह बोली, “स्वामी ! एक और आए हैं, आपने नहीं सुना ?”
मैंने कहा, “कौन ?”

“शाश्वतपुत्र देवदत्त ! वे कुणिक के गुरु बने हैं। कहते हैं, वे सिद्धार्थ गौतम के विरोधी हैं।

“पर मुना है तुमने ? ग्रनाथपिंडक ने, जेतकुमार है न ? उससे स्वर्णमुद्राओं से पृथ्वी ढंककर मूल्य चुराकर भूमि खरीदी है उसने। अब जेतकुमार भी एक उत्तम बुद्ध के लिए बनवा रहा है ! आतिर तो बुद्ध में कुछ होगा ही !”

“स्वामी ! कहते हैं, इस सिद्धार्थ गौतम की तो स्त्री यशोधरा अभी जीवित है। मैं कहते हैं, यह उसे सोते में ढोड़ भागा था।”

यों हम बातें किया करते । मैं सम्राट के साथ दोनों के दर्शन भी कर आया । ये दोनों पहुंचे हुए । यही सम्राट कहते थे, “वत्स ! मनुष्य है । प्राचीन कृपि भी किसीसे कम थे ? यह भी हैं । सब ठीक है । धर्म तो व्यक्ति का स्वावलम्बन है ।”

एक दिन मैं सोच रहा था : वनकुमार ! तू क्या था ! और अब क्या हो गया है !—मन ने कहा : वह भटकन थी, व्यक्ति का अतृप्त हाहाकार था । शांति परिवार से आती है, जहाँ कोई हो अपना । जहाँ कोई हो जो सुख-दुःख का साधी बनकर रहे । लोक है । सुख-दुःख का भण्डार ।—परन्तु एक बात की मुझे कचोट कभी-कभी होती थी । मेरे पास जो अब सब कुछ था, वह क्यों ? किसी पापी के धन का पुण्य मुझे मिल रहा था । उधर सम्राट का कहना था कि मूर्झ और तलवार, दोनों ही वे रखते थे । मैं तलवार हूं या सूर्झ ! यही मेरी समस्या थी ।

इसी समय कोलाहल सुनकर मैं बाहर आ गया ।

“स्वामी !” उद्यानपाल चिल्लाया, “सिचानक छूट गया । नगर में उत्पात मचा रखा है उसने । बाहर मत जाइए ।”

अनुचर फाटक बन्द कर रहे थे, किन्तु मैं घोड़े पर छूट निकला । पीछे कुसुमश्री को देखा । बाद में क्या हुआ मैं नहीं जानता । सिचानक अभयकुमार का प्रिय हाथी था । मैंने विशाल राजपथ पर जाकर देखा, प्रासाद के बातायरों में से राजकुल भाँक रहा था । सम्राट ने पुकारकर कहा, “हट जाओ वर्म ! सिचानक पागल हो गया है ।”

मैंने पास खड़े घबराए हस्ति-संचालकों में से एक के हाथ में दण्ड लीन लिया और आगे भागा, घोड़ा छोड़कर । और भगी पहुंच गई थी । गिरावर चिंधाड़ रहा था । चारों तरफ दूट रहा था । ठीक सम्राट के बातायत के मामते आकर वह चिंधाड़ने लगा । उसने अभी चार व्यक्ति कुचल दिए थे, दो को बांध दिया था । दूकानें छोड़कर दुकानदार भाग गए थे । अब एक और मेरे बाज चढ़ाए सैनिक आ रहे थे । सम्राट किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे । अभयकुमार का प्रिय हाथी सिचानक मरने को था । सम्राट का मुख खुला रह गया था । और उधर अभय पिता के राज्य के लिए बन्दी था ।

मैंने खुले में जाकर हाथी को ललकारा । भीमकाय गज ने मुझे ढेला ।

झपटा। उसका वेग देखकर लोग चिल्लाए, “हट जाओ श्रेष्ठि ! भाग जाओ !”

परन्तु आज मेरी नागदमनी विद्या की परीक्षा थी। ज्योंही हाथी पास आया, मैं एकदम उसके पीछे हो गया; भीड़ चिल्ला गठी। सम्राट्, सम्राज्ञी, प्रजा, सब देख रहे थे। मैं अब जीवन और मरण के संकट में था। ज्योंही मैं पीछे गया, हाथी रोप से चिल्लाया और पीछे पलटा। उसने सूंड बढ़ाई। मैंने भाड़ से लौहदण्ड का प्रहार किया। हाथी फिर चिल्ला। अब कोई चारा नहीं था। अब दौड़ होने लगी। हाथी मुझे पकड़ना चाहता था और मैं कन्नी कूट रहा था। मेरा वह अद्भुत कौशल देखकर बार-बार जय-जयकार होता, पिन्तु मृत्यु मुझपर भूल रही थी। बार-बार के दण्ड-प्रहार से हाथी अत्यन्त चिल्लत हो गया। वह कभी-कभी क्रुद्ध-सा चिल्ले पांवों पर खड़ा हो जाता। सन्नाटा छा गया। उसी समय मैं चिल्लाया, “अंकुश फेंको।”

तुरन्त मेरे और हाथी के बीच वई अंकुश आ गिरे। हाथी टूटा। मैं फिर चक्कर दे गया और तब लगा कि हाथी की सूंड मुझे लपेट लेगी। लोगों की सांस शुरू गई, परन्तु मैंने अंकुश उठा लिया और वह हाथ मारा कि हाथी पीछे हटकर फिर चिल्लाया। वह धूम गया कि मैंने लपककर उसकी पूँछ पकड़ी और मुंह में अंकुश दबाकर उससे लटक गया। अब हाथी घबराने लगा। वह बहुत-दुष्ट चिल्लाया, नाचा, कूदा; पर अब मैं उसकी पकड़ के बाहर था। तभी वह दुष्ट बैठने लगा मुझे नीचे दबाने को, और मैं तुरन्त उसकी पीठ पर चढ़ गया और ज्योंही उसने सूंड उठाने की चेष्टा की, मैंने भरपूर वेग से अंकुश उसके माथे में पुरेड़ा। हाथी चिल्लाने लगा और मैं ऊपर लेटकर अंकुश मारता ही चला गया। हाथी घबरा गया। मार बढ़ती गई और तब नागदमनी संकेत से बोल-कर मैं उसे आलान के पास ले चला। जब हाथी बैठ गया और हस्ति-चालकों ने लोहे की जंजीरों में उसे जकड़ दिया, मैं उत्तर आया। कैसा निर्धोप उठार ! कैसा कोलाहन ! कैसा जय-जयकार ! राजगृह की ईट-ईट चिल्लाने लगी।

“जय ! सिचानक-विजेता धनकुमार की जय !”

“जय ! महापराक्रमी धनकुमार की जय !”

यही पथ। मैं धुनि और स्वेद श्लय। हाथी ने सूंड हिलाकर मुझे प्रणाम किया। सम्राट्, सम्राज्ञी, रानियां, कुणिक, ध्रेष्ठकुलीन और नागरिक,.. उसी चौक में... और मैं विश्रांत परन्तु अधकित मन... जय... जय... तभी रथ से

उत्तरी कुसुमश्री ! ” प्रसन्न मुख ।

श्रेष्ठि कुसुमपाल ने मुझे लूकर सान्तवता पाई । कहीं चोट नहीं ।

सग्राट विवार ने मुझे देखा और स्नेह से कहा, “वत्स ! तुम मेरी चितना के अनुकूल हो । अभी तक मैंने तुम्हें बुद्धिमान ही समझा था, परन्तु यह वीरता असाधारण है । सिचानक—तुम इसे नहीं जानते ! इस युग का ऐरायत है । इसका दमन करना क्या सहज है ? शतानीक का पुत्र उदयन जो चौदहवें वर्ष में ही नागदमन में कुशल माना गया, वह श्रव सोलह का है । वह सिचानक तो क्या, इससे उत्तरते मदवर्धक को भी नहीं दवा सका । तुमने सिचानक को ऐसे दवा लिया ! सच !”

“सग्राट !” सग्राजी वैदेही ने कहा, “मैं तो समझी थी कि वत्स अभ्य का प्रिय हाथी श्रव मारना ही होगा । तुमने सच हमारी लाज चढ़ा ली श्रेष्ठिपुत्र !”

“और तिसपर,” दानशूर मलयदास ने कहा, “नगर में बुद्ध ठहरे हैं तीर्थकर ठहरे हैं । यह हाथी उधर ही जाने को पा ! उफ ! पता नहीं क्या हो जाता ! धनकुमार ! तुम सचमुच परमबीर हो !”

सग्राट ने सहसा कहा, “कुसुमपाल !”

“आज्ञा देव !”

“एक मेरी विनय है । चौलो दोगे !”

“महाराज को अद्देय क्या है ? ऐसा क्या है जो सग्राट का नहीं ?”

“तो अपने इस जामाता को मुझे दे दो । मेरी सोमश्री के लिए ।”

कुसुमश्री मेरे पीछे खड़ी थी । मर्यादा के रक्षण में थी । सहसा चोट उठी, “मुझसे कहें पिता ! सग्राट को मैं दूँगी !”

मैंने कहा, “क्या कहती हो ?”

परन्तु वह चोली, “लोग नहीं समझते कुछ स्वामी ! आपके जाने पर यह घबरा उठे !” मैंने कहा, “भयभीत न हो । मेरे स्वामी हाथी को हरा देंगे । वे दंव को हरानेवाले हैं । उनकी सामर्थ्य और पराक्रम तुम नहीं जानते । पीछे जो मैंने कहा था वही ठीक निकला । अब यह अवसर में कैसे चूर्णेंगी ? मगाट और मेरे पिता, समकक्ष होंगे । स्वामी ! राजकुमारी सोमश्री मेरी स्मागिनी बनकर रहें । पलकों में रखूँगी । इस समय तुम्हें मेरे गुहाग की गाय, ‘हा !’ बनकर रहें ।

करना । यह मगध के वैश्यों के सम्मान का प्रश्न है ।”

सम्राट विवसार ने प्रसन्न होकर कुमुमश्री को अपने गले का रत्नहार देते हुए कहा, “पुत्री ! जैसा सुना था, तुझे वैसा ही पाया ।”

कुमुमश्री ने हार पहनकर प्रणाम किया सम्राट को ।

हो गया । सब कुछ । राजगृह में अद्भुत आनन्द छाया । सोमधी आई । और नारी नारी ही थी ।

अब मुझे यक्काश नहीं मिलता था । सम्राट विवसार जैसा व्यक्ति भी खेल्या सहज समझ में आने को था ? मुझे पता भी न चला कि उस व्यक्ति ने मुझे कैसा दांध दिया । दिन-रात उसीके काम करता, परन्तु कभी उसने काम नहीं बताया ; आज्ञा नहीं दी । राय लेता था । और मैं ! उसके हाथ का कठ-पुतला था । घर में सोमधी, कुमुमश्री, कुमुमश्री, सोमधी... वाहर मिठ, श्रेष्ठि-गण, नागरिकगण । फिर पच्चीसों शिकायतें लेकर प्रजा । सबका काम कौन करे ? धनकुमार ! और सब कुछ करके भी हाथ में अधिकार क्या ? कुछ नहीं । और कौन-सी ऐसी है जगह जहां धनकुमार की सलाह नहीं चलती ? मानता हूँ । विवसार के सामने चण्डप्रद्योत सचमुच बच्चा था । उधर जैनों में विवसार की जयजयकार हो रही है, इधर बीदों में । वज्रियों से पूछो तो विवसार भला । कोसनवालों से पूछो तो वह देवता ।

पर तब मुझे नहीं मालूम था । आज सोचता हूँ यह सब । उसने मुझे कंसाया भी किस कौशल से ! कोई मुझसे ईर्ष्या करता तो किस बात की ! मैं जागाता ! अधिकार कोई नहीं । वैसे मैं दी मैं । — ८८ —

हुए एक जाल के समान थे ।

प्रतिवादी थे गोभद्र और बादी था एक श्रेष्ठ बलभद्र ! उज्जयिनी का । उज्जयिनी में था अभयकुमार । ऐसे में उस व्यापारी के साथ न्याय होना आवश्यक था, क्योंकि युद्ध तो राजाओं का था, श्रेष्ठों का नहीं । इसमें श्रेष्ठों के विमुख होने की संभावना थी ।

मैं सम्राट के पास पांचवें आसन पर था ।

झगड़ा भी बड़ा चिन्ता था । काना बलभद्र कहता था कि उसने छः मरीं पहले उज्जयिनी से आकर राजगृह में दूकान खोली थी । वह धनहीन था, गया गोभद्र के पास । गोभद्र ने कहा : बन्धक दो । —बलभद्र ने एक आंख निकाल कर दे दी । गोभद्र देखता रह गया । चुपचाप दस लाख मुद्राएं दी । तब रो यह चमक उठा । अब उसके पास धन है और अपनी विवशता के उस स्मारक—उस आंख—को वह लेना चाहता है, पर गोभद्र देता नहीं । धन ले ले श्रौर दे दे । एक दिन था, जब बलभद्र की ऐसी भी हालत थी कि यह तक करना पड़ा ! पर अब गोभद्र को अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान आया है कि एक दिन धन के पीछे यह इतना अमानुषिक हो गया था । अब यह स्वीकार ही नहीं करता कि इसने ऐसा काम किया । धन नहीं लेता । और मैं तो क्या, उस समय जिन्होंने लोभ की इस सीमा को देखकर इसकी तिन्दा की थी कि गोभद्र ! तू भी रो ले न जाएगा साथ, आज यह उनको भी भुजा रहा है । पूछ लीजिए । मैं विदेशी सही, पर यह तो यहीं के श्रेष्ठ हैं । साक्षी हैं । धन दिलाकर मेरी श्रांग दिला दीजिए । वह मैं अपनी दूकान पर रखूंगा और कहूंगा—देखो ! यह है गोभद्र की मनुष्यता । जिस दिन मैं भूखों मरने को हुआ था, उस दिन उसने मेरी यह हालत कर दी थी । —सम्राट ! यह कहता है कि वीस लाख मुद्रा दंगा पर बाज को छिपा दे । परन्तु धन से मेरी टीस नहीं मिटेगी देव ! न्याय चाहता है । न्याय को छिपा दे ।

प्रतिवादी गोभद्र ने केवल इतना कहा, “सम्राट ! मैं नहीं जानता, यह कहता है । इसे मैंने कल के सिवा कभी देखा तक नहीं । यह कहूं !” मैंने अस्वीकार किया । यह चिल्लाने लगा । दग्धने यहीं के श्रेष्ठों की साक्षी भी दिला दी । परन्तु मैं ऐसा जघन्य कर्त्ता कभी करना ही नहीं ।”

तब साक्षियों ने कहा, “तुमने श्रेष्ठ मलयदाम के समान को पढ़ाने के

उनकी मूँछ का बाल गिरवी नहीं रखवाया था ?”

गोभद्र सकपका गया । बोला, “वह और बात है ! और यह तो भयानक बात है । निदनीय ! यह भूठ है । वैसे महाराज कहें तो दण्ड मैं भर सकता हूँ, परन्तु इस बात पर नहीं ।”

गोभद्र अपने एकमात्र पुत्र शालिभद्र की शपथ खाता था । साक्षी सामने थे । जब गोभद्र ने कहा कि बलभद्र के सारे साक्षी उसके कर्जदार थे, तब बलभद्र ने कहा, “बताओ, उनकी धरोहर तुम्हारे पास है ?” गोभद्र ने कहा, “यह तो विश्वास पर दिया गया धन था । अब वे नहीं देना चाहते तो इस तरह मुझे वरवाद करना चाहते हैं ।” यह सुनकर मलयदास ने पुराना रोष निकाला और कहा, “विश्वास ! विश्वास ही करनेवाले होते तुम गोभद्र, तो मेरा अपमान ही वयों कराते ।”

बलभद्र ने मलयदास की जय बीली । श्रीर यह था मामला । बलभद्र ने अन्त किया, “न्याय सम्राट के हाथ है । मैं न्यायप्रार्थी हूँ । उज्जयिनी का हूँ, यह मेरा अपराध है श्रवश्य, पर अब सम्राट की प्रजा हूँ । आगे जो भाग्य में होगा, वह स्वीकार्य है ।”

याद है ? लो अब समय आया है । हम तुम्हारी परीक्षा लेते हैं । देखें, तुम समझते हो या नहीं ! न्याय करो इनका । हम उसे देखेंगे । पर ध्यान रहे, पक्षपात न होने पाए । अन्तिम निर्णय हमारा ही होगा । वादी-प्रतिवादी कल आएं ।”

मैंने उठकर कहा, “सम्राट ! यह तो…”

सम्राट ने कहा, “अरे इतने ही से घबरा उठे ! देखो ! दोनों को देखो । देखकर ही पता चलता है कौन भूठा है ।” और किर दोनों को देखकर कहा, “अपराधी तो मेरी आँख में है । पर नहीं । पहले तुम्हें देख लूं, तब बताऊंगा ।”

वे उठ गए । सभा विसर्जित हो गई ।

मैं बड़े चबकर में पड़ गया । सम्राट ने मुझे सारी विपत्ति का केन्द्र बना दिया । सचमुच राज का साकर रहनेवाला, उसके बल पर मौज उड़ानेवाला किस तरह तलबार की धार पर बैठा रहता है, इसका मैंने अनुभव किया । राजा किसका ? किसीका नहीं । पुत्र तक को बन्दीगृह में रखवा दिया । अब जामाता को फँसा दिया । आप भले बने रहे । अब श्रेष्ठियों की चाल घ्यं हो गई । अब तो फँसला श्रेष्ठ देगा । परन्तु मुझे भी तो नमक अदा करना है । न कुसुमश्री मेरी समस्या को हल कर सकी, न सोमश्री । मैंने अपनी ही योजना बनाई ।

दूसरे दिन भीड़ जमा थी, चलिक और बढ़ गई थी । सम्राट घंट गए, तभी मैंने खड़े होकर कहा, “देव ! वादी-प्रतिवादी उपस्थित हैं । न्याय-न्याय प्रारम्भ करने की आज्ञा दें ।”

सम्राट ने सिर हिलाया । मैंने कहा, “वादी बलभद्र ! तुम्हारे साथी ?”

साक्षी आए । प्रतिष्ठित । गण्यमान्य ।

एक । श्रेष्ठ उत्तमदास ।

“हाँ श्रेष्ठ ! आपने देखा ऐसा ?”

“देखा श्रेष्ठिपुत्र !”

“नहीं,” सम्राट ने कहा, “इस समय धनकुमार न्यायाधीश हैं । मर्यादानुसन्देश बात करो ।”

“हाँ श्रेष्ठ उत्तमदास ! आप मार्ग दें ?”

“पुरुष-परम्परा से आर्य !”

“आपके सार्थ चलते हैं ?”

“हां आर्य, उज्जयिनी तक ।”

“आप धर्मनुसार शपथपूर्वक कहते हैं ?”

“हां आर्य !”

साक्षी—दो । श्रेष्ठि मणिवाहन ।

वही प्रश्न ।

“आपके सार्थ कहां अटके हैं ?”

“उज्जयिनी में ।”

उज्जयिनी में अटके हैं सार्थ । श्रेष्ठि उत्तमदास । श्रेष्ठि मणिवाहन । श्रेष्ठि दधिकुमार । श्रेष्ठि सुकुमारदत्त । श्रेष्ठि रघु । और कोई साक्षी ? हां वादी वलभद्र ! आपको कुछ और कहना है ?

“नहीं आर्य !”

प्रतिवादी गोभद्र ।

“हां प्रतिवादी गोभद्र ! अपने सर्वश्रेष्ठि उत्तमदास, मणिवाहन, दधिकुमार, सुकुमारदत्त और रघु को ऋण दिया है ?”

“हां आर्य !”

“किस शर्त पर ?”

“आर्य ! उज्जयिनी से आते सार्थ हमारे होंगे । हम उनका लाभ लेंगे । तो आर्य इतका होगा ।”

“इससे इन्हें क्या लाभ प्रतिवादी ! ऋण इन्होंने क्यों लिया ?”

“आर्य ! इन्होंने उसी समय लाभ की आशा में तामलिति में नये सार्थ तिए ।”

“फिर ?”

“शब्द मेरे अप्रतिटित होने से ये मुझे लाभांश और मूल, दोनों देने से बच जाएंगे ।”

“यह भूत है—” वादी और साक्षी पुकार उठे ।

“मर्यादा !” मैंने पुकारा । निस्तव्यता छा गई ।

“हां प्रतिवादी ! और कुछ कहना है ?”

“आर्य ! वलभद्र उज्जयिनी का है । महाराज चण्डप्रद्योत ने इसे भेजा देगा ।”

“नहीं प्रतिवादी। यह अनुमान हम नहीं सुनना चाहते। हम स्वयं महाराज चण्डप्रद्योत को जानते हैं। श्रेष्ठियों के भगड़े में वे नहीं पड़ते। यह श्रेष्ठियों का पारस्परिक संघर्ष हो सकता है। आप इन्हें दरिद्र करना चाहते हैं। वे आपको। इस भगड़े में राजकुल नहीं आ सकते।”

वादी और साक्षी, “धन्य हैं आर्य ! धन्य हैं। हम न्याय चाहते हैं।”

“न्याय मिलेगा।” मैंने कहा, “प्रतिवादी ! आपने वादी की ग्रांत वंपक रखी ?”

“नहीं आर्य !”

“याद कीजिए !”

“नहीं आर्य !”

“फिर सोचिए !”

“नहीं आर्य !”

“प्रमाणित होने पर आप दण्डनीय होंगे।”

सम्राट की ओर देखा। इस समय कुछ ग्रांत-से थे। ग्रव वह कीशत मुग पर नहीं था। दोनों वादी-प्रतिवादी चक्कर में थे।

मैंने कहा, “सम्राट की जय ! देखिए। कल आपने इन दोनों को देगार ही अपराधी को पकड़ा था। आज मैंने स्पष्ट कर दिया। ग्रव निषंय था। ही दें।”

और मैं मुक्कर बैठ गया। सम्राट ने मुझे देखा। मैं समझा था कि ग्रव सम्राट फंस जाएंगे, परन्तु सम्राट ने हंसकर कहा, “साधु ! न्यायाधीश ! साधु ! अब तुम्हीं करो। अन्त तक कैसे निर्वाह करते हो, वह भी हमें दियागो।”

मैं मत ही मत हार गया। उक ! सम्राट सम्राट ही थे। मुझे पढ़ा होता पड़ा। सभा स्तब्ध थी।

मैंने कहा, “देव ! प्रतिवादी भूठा है। इसने वादी को ग्रांत दी रखी थी।”

वादी चिल्लाया, “जय हो ! न्यायमूर्ति की जय हो !”

साक्षी भी चिल्लाए।

प्रतिवादी के नेत्र भय और घृणा से फट-से गए। उसका गला उंग गया। उसने हाथ उठाकर गरगलाते गले से कहा, “यह भूठ है महाराज !”

देता । कुमार शालिभद्र के भविष्य के लिए धन चाहिए ।”

“हरिदास ! तेरी जीभ गल जाएगी ।” गोभद्र चिल्लाया ।

“मर्यादा !” मैंने पुकारा, “हां हरिदास ! तो श्रेष्ठ गोभद्र ने ग्राम रखी थी ?”

“हां आर्य !”

“तो तुमने पहले क्यों न कहा ?”

“आर्य ! मैं तो रात को आया हूँ वत्स से । मुझे स्वामी गोभद्र ने भेजा था । इस बीच मैं वया हुआ मुझे यह क्या पता ? रात सुना तो मैंने सोचा कि शायद स्वामी भूल गए हों, क्योंकि आंख एक ही की तो नहीं, कइयों की रखी हैं । आप देख लें । यह मंजूषा मेरे पास ही रहती थी, और रहती है । इसमें जिस-जिसकी आंख हैं उनके साथ भूर्जपत्र पर नाम अंकित हैं ।”

गोभद्र अवाक् ! वादी चकित ! साक्षी भ्रमित ! भीड़ में छूणा गोभद्र से । सम्राट स्तब्ध, जैसे कोई बात नहीं । कुणिक चित्तित । सन्नाटा ।

मैंने मंजूषा खोली । पढ़ा : “आंख !” अरे ! इतनी आंखें ! गोभद्र ! तुमने जरासंघ की नरवलि की परंपरा को ख़बर निवाहा ! नयन-बलि लेकर । कहते हैं, कोसल के बन में एक डाकू है जो श्रंगुलिमाल कहाता है, तुम भी ग्रय नयन-माल कहलाओगे । पहली आंख — रक्त-हास ! “हरिदास, यह कौन था ?”

हरिदास ने कहा, “आर्य ! यह व्यापार की गुप्त वार्तें हैं । इसमें बड़े-बड़ों के सम्मान हैं । गौरव हैं । नाम सबके जोर से न पढ़ें । सम्राट को दिखा लें और वादी बलभद्र की आंख ढूँढ़ लें । और मूल्य दिला दें ।”

गोभद्र को देखा तो ऐसा लगा, वह मर गया था । मैंने वादी बलभद्र की कहा, “तुमने ठीक कहा था वादी ! तुम सत्य पर ढूँढ़ रहे । तुमने गोभद्र की भयानक और जघन्य धन-लिप्सा को अपनी मनुष्यता से पराजित किया । पर हरिदास ! यह भूर्जपत्र क्यों ढूट गए ? क्या हुआ ?”

“आर्य ! पत्ते का क्या है ? चुरमुरा गया । मैं देखूँ ?”

देखा और कहा, “सचमुच आर्य ! आंख तो सात हैं । अब पहनान कैसे हो ?”

“अरे वह क्या कठिन है ?” मैंने कहा, “गोभद्र को दण्ड मिलना है हरिदास ! तुम मत डरो, तुम्हें सम्राट का अभय है । पापी को दण्ड मिलना ही जाटि ।”

और फिर गोभद्र का यह दुस्साहस कि सम्राट के सामने झूठ बोला । नहीं, हरिदास ! तुम भी धूर्त हो । तुमने धन कमाने का भी ढंग ढूँढ़ा और स्वामी को भी संदेह का लाभ दिलवाने की चेष्टा की……”

“मैं निरपराध हूँ ।” कांपते हुए हरिदास ने कहा, “मेरा कोई दोष नहीं । एक बार ऐसी ही घटना पहले हमारे यहां हुई थी । तब आंख की पहचान न होने पर ऋणी ने दूसरी आंख देखकर कहा था—लो तोल लो, जो बराबर की हो, वह लौटा दो । वादी बलभद्र स्वतन्त्र हैं आर्य ! अपनी आंख चुन लें । पुरुष्टु कहीं दूसरे की न ले जाएं आर्य । आप धर्ममूर्ति हैं । न्याय होना चाहिए ।

मैंने चिल्लाकर कहा, “चुप रहो ! तुम समझते हो कि सम्राट के न्याय-विकरण में अन्याय होगा ? सन्देह का अवसर रहेगा ? तुम नहीं जानते, वादी हरिश्चन्द्र को भाँति सत्यवादी है ।”

और तब मैंने दण्डधरों से कहा, “वादी को दूसरी आंख निकालो । तुला मंगाओ !”

कोलाहल मच उठा । गोभद्र मेरी ओर ऐसे देख रहे थे जैसे मैं कोई देवता

“स्वामी ! इसी समय सम्राट ने बुलाया है। अकेले राजकुमार कुणिक आए हैं।”

“राजकुमार कुणिक !” मैं उछलकर उतरा और बाहर खड़े हुए कुणिक ने भीतर आकर कहा, “इसी समय सम्राट ने स्मरण किया है।”

मैं समझा नहीं। तुरन्त खड़ग उठाया और बोला, “चलिए आयें।”

हमने घोड़े प्रांगण में छोड़े और युवराज मुझे सम्राट के पास छोड़कर चले गए।

मैंने प्रणाम किया और बैठने की आज्ञा पाकर कहा, “देव ! इस समय स्वयं युवराज को भेजकर !”

“हाँ, बत्स !” सम्राट ने कहा, “कार्य गुप्त था।”

“ऐसा कौन-सा कार्य हो सकता था !”

“सुनो, पास आ जाओ।”

मैं पास सरक गया। वे कहने लगे।

“अभय के पकड़े जाने से लोग बज्जी संघ में कहने लगे ये कि यह विवार का कपट है कि उसे छुड़ाने का कोई उद्योग नहीं किया। असल में वे ग्रपने पुरुष कुणिक को राज्य देना चाहते हैं। अम्बपाली को यह राजुले वेश्या मानते हैं। वह वेश्या नहीं है। वह तो संथागार ने उसे राज्य की रक्षा के लिए सबकी रक्षा बनाया था। उसका सम्मान हमारा सम्मान है। कुणिक को राज्य मिलने का अर्थ है बज्जीसंघ को भविष्य में भय, और अभय के राजा होने का अर्थ है वैशाली में शांति। अभय कुछ भी हो, अम्बपाली का पुत्र है। कहीं कुणिक व्यर्थ संदेह न करे, इसलिए उसीको भेजकर तुझे बुलाया। राजकान में न पिता पुत्र पर विश्वास करता है, न पुत्र पिता पर। अब परिस्थिति यह है कि वजिज्य हैं क्षत्रिय और सम्राट विवार की कन्या सोमधी का एक यंत्र से विवाह देखकर उन्हें सन्देह बढ़ गया है। वैश्य वजिज्य क्षत्रियों से सन्तुष्ट नहीं है, क्योंकि गणराज्य में वैश्यों को क्षत्रियों के वरावर अधिकार नहीं है, क्योंकि शासन में वैश्यों का कोई हाथ नहीं। अतः वे बज्जी हैं यात लगाए। गंगा-तीर पर जो खाने हैं, उनमें वैशाली और राजगृह, दोनों का सामान है। अभी तक तो वंटवारा चला है, पर इधर संवाद आ रहे हैं कि वजिज्यों ने नीयत विगड़ रही है। सीधे-सीधे तो इन गणों पर हमला नहीं किया।

सकता, व्योंकि इन गणों में एका बहुत है। शाक्य और वजिज्य, मल्ल, और विदेह सबके संयागारों में एकता है। किसी गणराज्य में पारस्परिक फूट भी नहीं है। और बुद्ध और तीर्थकर भी क्षत्रिय हैं। वे इधर भी पूज्य हैं। उधर चण्डप्रद्योत भी महासेन है। यदि उसपर आक्रमण हो, तो जीतना निश्चित नहीं है, और उस अवस्था में अभय का ही जीवित रहना क्या निश्चित है? अभय को छुड़ाने में वजिज्य सहायता नहीं देंगे। देंगे तो केवल उसे मगध का सिंहासन दिलाने में। उस अवस्था में भी गृहयुद्ध हो जाएगा, यद्यपि अभी उसका डर नहीं। अब अभय के न आने से खानों का भगड़ा बढ़ने की आशंका है। अतः वैर्जीसंघ और अवन्ति दोनों को ठीक करना है। ऐसे में क्या होना उचित होगा।”

मैंने कहा, “देव! यदि किसी तरह इस समय वजिज्यों को यह दिखाया जाए कि साम्राज्य का भविष्य कुमार अभय के हाथ में होगा, और इसलिए उसे छुड़ाने का पत्त हो रहा है; सप्राट क्षत्रियों को ही चाहते हैं, अतः वैश्यों से श्रसंतुष्ट है; और उधर अवन्ति को कोई चिन्ता लगा दी जाए तो....”

“ठीक है, ठीक है!” सम्राट ने कहा, “परन्तु कैसे?”

मैंने कहा, “ग्रायंश्रेष्ठ! अवन्तिराज को किसी तरह संबाद पहुंचाया जाए। वैशाली अब अभयकुमार को छुड़ाने में तत्त्वर है। वह चौंककर आपके प्रति युद्ध न छेड़कर वैशाली में गुप्तचर भेजेगा। कुछ गुप्तचर ग्राष अवन्ति के नाम से भेज दें जो स्वयं पकड़े जाएं। वैशाली के लोग आखिर घवराकर आपसे गहायता मांगेंगे। और तब यह दम्भी क्षत्रिय आपसे दबेंगे। आप जानें—”

प्रद्योत की हाति हो। परन्तु उन्होंने अकारण गवं से मेरी बवाई शांति उबड़ी थी, इसका सुझे मन ही मन रोष तो था ही। इसलिए मैंने कहा, “कुछ गुप्तचर वत्स के नाम पर महाराज प्रद्योत के यहाँ यदि पकड़े जाएं तो शायद अभय-कुमार भी छूट जाएं। वयोंकि वत्स श्रीर वैशाली और मगध—तीन भंडप्रद्योत अकेले न भेल पाएंगे।”

“वस यही मैं चाहता था।” सम्राट ने कहा, “मैं नहीं चाहता कि श्रवति और वत्स में युद्ध हो। मैं चाहता हूँ कि श्रवति और वत्स वस सशंकित में रहें एक-दूसरे से। इससे मगध मुक्त होकर वैशाली पर दृष्टि रख सकेगा और कोशल और वैशाली से परस्पर चीकने रहते से भी मगध का लाभ होगा। वैशाली, मगध और वत्स के संगठित भय से अभय भी छूट जाएगा और कोशल के दबाव से कुणिक का पलड़ा भी सघा रहेगा। काशी की शक्ति का कोई महत्व नहीं। इनमें जब भी जो टकराएगा, मगध निर्णय करके दोनों पर घाने की सामर्थ्य रखेगा। ठीक है?”

“विलकुल, देव।”

“वस ! सोचो, युद्ध से क्या लाभ ! अकारण हस्तया ! हिंसा ! है न ? शास्त्रा और तीर्थंकर कहते हैं, मनुष्य को लोभ नहीं करना चाहिए। मैं ज्ञेय नहीं करता।”

“परन्तु अपनी रक्षा तो धर्म है ही सम्राट !”

“यही तो !” सम्राट ने कहा, “अब यह जो भ्रम पैदा करता है कि मैं वैश्यों का विशेष मित्र नहीं हूँ, यह कैसे होगा ?”

मैं सोचने लगा। तब महाराज ने कहा, “देखो, वत्स का काग भी यह कठिन है। बल्कि मैं चाहता हूँ कि वत्स हमारा मित्र बने। समवन्ध रणनीति हो। शतानीक बड़ा अच्छा आदमी है। वत्स के नाम पर गुप्तचर हम भेजें, या भी सरल कार्य नहीं है। ऐसा न हो, प्रद्योत पूछे और शतानीक कह दे कि वह के कोई गुप्तचर नहीं हैं।”

मैंने कहा, “देव ! गुप्तचरों को कोन स्वीकार करता है ? वे हजार हैं ! किर भी सावधान रहना तो आवश्यक है ही ही !”

तब सम्राट ने कहा, “अब जो कुछ है, तुम पर है। तुम चाहो तो मैं !”

मैंने कहा, "महाराज ! मुझे आज्ञा दें और मैं अस्वीकार करूँ ? ऐसा कृतज्ञ हूँ क्या मैं ?"

"तो जामाता ! तुम वत्स जाओ ! सब मैं ठीक कर लूँगा यहाँ। वहाँ से गुप्तचर भेजना। शतानीक को मित्र बनाना। मैं जानता हूँ, तुम्हारे सिवाय इसे कोई नहीं कर सकता।"

"तो कल चला जाऊँ देव ?" मैंने पूछा।

"ऐसे नहीं ! चुपचाप वेश बदलकर दरिद्र के रूप में इसी समय चले जाएगी। वैश्यों से मैं असन्तुष्ट हूँ, यह भी प्रकट होगा और वैसे वैश्य समझे नहीं। समझें, जैसे आया था, वैसे ही चला गया। ठीक है !"

मैं अचकचा गया। अब मैंने देखा कि मैं बच्चा था, सम्राट् नहीं। मैंने कहा, "किन्तु देव ! मेरी स्त्रियों के..."

"मैं जानता हूँ। सुभद्रा पिता के घर है। शेष दोनों गर्भवती हैं। सोमश्री यहाँ आ जाएगी। कुसुमधी पिता के घर चली जाएगी। अवश्य इन्हें वेदना होगी। तुम्हारे भवन पर मैं अपना अधिकार कर लूँगा। कोई गड़बड़ी नहीं होगी। तुम इसी समय चले जाओ। देखो, वत्स देश में तनिक भी प्रगट न हो कि तुम हो कौन, अन्यथा सब भण्डा फूट जाएगा !"

— सम्राट् मेरी घरेलू बातें भी जानते थे। सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। और तब मैं लाचार था। उसी समय वस्त्र बदले, और फटे कपड़े पहनकर निकल पड़ा। सूनी रात। अंधेरा। और एकदम ! उस वैभव के बाद। गर्भवती स्त्रियाँ क्या रोएंगी नहीं ? और सुभद्रा ! सब कुछ दूर। अब मैं किर अकेला हो गया ! ! राजनीति हितनी कुटिल होती है यह मन ने तभी जाना।

श्रीर हठात् मुझे ध्यान आया—इसी तरह तो मृत्यु आती है। क्या यम भी इसी तरह आत्मा को किसी और बड़े काम के लिए ले जाता है, जिसे नहीं समझता लोग रोते हैं ? क्या यम भी ऐसा ही है जैसे सम्राट् हैं ?

उम रात की वेदना और उस रात के भ्रम, विवशता और कसक का भेरे मैंने अब कोई मूल्य नहीं। कोई मूल्य नहीं है अपनी राजगृह से मगध तक की पारी का। इस बार भी मैं मज़ूर बनकर जा रहा था। श्रीर पेट के लिए धंधा करना मैंने पुराणान से उज्जयिनी, उज्जयिनी से काशी, काशी से राजगृह तक सीधे ही लिया था। उसीने मुझे जीवन का वह सत्य बताया था, जिसे न

जानकर लोग स्वार्थ में छूबते हैं। मैं ! वणिकपुत्र ! एक ही बार व्यापार किया मैंने। और वह थी ईश्वरदत्त से वेईमानी ! फिर मैंने व्यापार किया ही क्य ! या तो राज्यों में रहा हूं, या फिर रहा हूं भिखारी। आकाश और पृथ्वी का चारी रहा हूं। मणियों से खेला मैं, भोग लिया मैंने वासना का सुख और फिर धूल चढ़ाकर चला हूं सिर पर।

कहां जा रहा हूं मैं ?

कोसांवी ! हस्तिनापुर के छूबने पर कुरुकुल की वसाई कोसांवी को। वह देश की राजधानी की ओर। प्रासादों और श्रेष्ठियों के वैभव का वास्तुरूप, दरिद्र जीवन में उतरा हुआ यह जीवन ! फिर भी ग्रच्छा है यह ज्ञ दुरभिमानी क्षत्रिय संघों से ! अहिंसा का ढोंग रखते हैं वे, तीर्थकर और याता के नाम पर ! और बुद्ध प्रशंसा करते हैं उन दंभियों की ! संघ के नाम पर ! स्वर्य अपना संघ बना रहे हैं वे गण की नकल पर ! और वे लोक को जाग्रत करने को नया संघ बना रहे हैं, भिक्षुओं का। मैं बनाऊंगा एक आदर्श व्यवस्था अब ! मैं एक आदर्श नगर बनाऊंगा।

यही सोचा था उस दिन। परन्तु फिर सोचा था, कैसे ?

धन कहां है ? साधन कहां हैं ? राह के भिखारी !

और याद आया था। पत्तियां क्या करेंगी, जब मुनेंगी कि मैं सब छोड़ूँ : चला गया। सम्राट् अपनी पुत्री तक को नहीं बताएंगे। ऐसी है विद्यमान राजनीति की, जिसे मनुष्य कर्तव्य कहता है ! मैंने भी पढ़े हैं अर्थशास्त्र सौर धर्मशास्त्र ! वे सब मनुष्य के पाप के साक्षी हैं, जिनपर लज्जा करता हमारा जन्मजात अधिकार है। राजा होना बहुत बड़ी बात नहीं है। राजा की होता है जो अन्यों से अधिक छल जानता है। परन्तु वैसे वह बहुत बड़ा नहीं होता है, क्योंकि अपने स्वार्थ में छूबा हुआ वह सदैव ग्रस्त-सा रहता है। उसे होता है नाश, किन्तु सृजन ! और मैंने देखा था विवरणों ! इंगित में होता है नाश, किन्तु सृजन ! और मैंने देखा था महाराजा, महामहीना और गौतम के सामने। ये लोग क्या थे, जो राजा, महाराजा, महामहीना भी इनके सामने दीन बन जाते थे। मैं स्वयं गया था इनके सामने। ऐसा नहीं था कि ये ऊंचे हैं, हम नीचे हैं। हम उन सीमाओं तक पहुंचे भी नहीं हैं, यह ये पहुंच चुके हैं ! क्यों ! क्योंकि ये वासना का त्याग कर चुके हैं। यदि यह त्याज्य है तो स्त्री क्या है ? पुरुष का तिलीना ! तिलीने में प्राप्तं त्याज्य है

ही है। जो हो, इतना सत्य है कि लोक अंधकार में है। उसे शासक चाहिए ऐसा, जो उसका सुख देवे। यही दार्शनिकों ने कहा है, परन्तु इसपर व्यवहार कीन करता है! क्या है श्राज राजा का जीवन! तबियत का खेल। उसे ग्रामणी, माण्डलिक, सबका ध्यान रखना पड़ता है अवश्य, परन्तु वैसे वह व्यक्तिगत जीवन में प्राप्त; सनक से काम लेता है। संदेह उसका धर्म है; क्रोध, अहंकार उसके साथी हैं। उसकी तो प्रसन्नता भी बुरी और अप्रसन्नता तो है ही। और लोक ही ऐसा है। सच बोलो, विनम्र रहो—ये दो बातें न जाने कब से दुहराई जा रही हैं। कभी लाखों-करोड़ों में एक-दो सच बोलते हैं, एक-दो होते हैं नम। सच बोलनेवाले मूर्ख और विनम्र बोदे समझे जाते हैं। अयोग्य रहते हैं सत्तारूढ़। जब तक योग्य व्यक्ति सत्ता पाता है, तब तक वह इतनी मुसीबतें उठा लेता है कि उसमें एक कटुता छा जाती है। नम्रता उनका हथियार है जो लोगों को ठगते हैं, जैसे वैश्य ! और दुनिया है कि वही जा रही है, वही जा रही है। मैंने ही चण्डप्रदोत का नमक खाया है। अब मुझे उसीसे चाल रिलनी है। उसीके राज्य में मेरे माता-पिता हैं, भाई-भाभियां हैं। अब तो भतीजा भी बोलने लगा होगा। दादा-दादी का मन बहलने लगा होगा। उधर अभयकुमार को लुड़ाना है। मैंने विवसार का भी तो नमक खाया है। क्या करूँ? राजा में दयानमता नहीं होती। अपने जामाता को ही दांव पर लगा दिया। पर ऐसे यास आदमी को न लगाता तो करता भी क्या? अभयकुमार तो स्वयं सम्राट का पुत्र है। उसे भी तो दांव पर लगा रखा है! और मुझे कितना धड़ा काम करना है! सम्राट का तो कहीं नाम ही नहीं। मुझे ही ऐसे आदमी ढूँढ़े हैं बत्स में, जो जान पर खेल जाएं अवन्मि जाकर। ऐसे तो दरिद्र ही हो जाते हैं। उनके लिए वहुत धन चाहिए। मुझे तो सम्राट ने एक कानी कीड़ी भी नहीं दी। कमाऊं भी मैं, लगाऊं भी मैं। इतने दिन जो सिलाया-पिलाया पा, यह तब बसून कर लिया इस तरह। कौन चतुर रहा? मैं कि सम्राट? और पिर शतानीक को पता भी नहीं चलना चाहिए कि मैं कौन हूँ! और कहीं पिना पुरुष किए भाग न जाऊं, इसलिए मेरे घर पर कब्जा कर लिया है विवसार में और उससे भी बड़कर मेरी स्त्रियों पर और मेरे होनेवाले बच्चों पर!

उनका स्मरण करते ही हृदय स्नेह से भर आया। कुछ भी हो। इस बार तो यह नद करना ही होगा। क्या है! मनुष्य कर्म न करे तो करे भी क्या!

यह जो दार्शनिक बुद्ध और तीर्थकर कहते हैं कि मनुष्य की कोई जाति नहीं
 फिर भी सब क्या समान है ? ब्राह्मण अपने वेद को लिए फिरते हैं । वैष्ण
 अपने देवता को । देवता क्या है ? वे भी मनुष्यों की भाँति एक योनि-मात्र हैं
 उनको भी कर्म वांधता है । मनुष्य बढ़कर देवता होता है । कर्मनुसार होता है ।
 वह विद्याधर और अंतरोगत्वा तीर्थकर ! पाश्वनाथ तीर्थकर थे । क्या महाकी
 वर्द्धमान भी वैसे ही हैं ? वे क्षत्रियत्व का गर्व नहीं करते । गणराजा के पुत्र
 हैं । वैशाली के गर्वलि क्षत्रिय के पुत्र । सम्बन्ध हैं उनके सम्राट विवसार से ।
 गणराजा चेटक उनके नाना हैं और सम्राट विवसार को व्याही है चेटक के
 द्वासरी पुत्री, महाकीर वर्द्धमान की मौसी । फिर भी वे सम्राट के मर्हा नहीं
 ठहरते । ठहरते हैं कुम्हार—शूद्र के घर ! क्या है यह सब ! और फिर मुझे
 विचार आने लगे । वे रातें जो मैंने कुमुमधी, सोमधी और सुभद्रा के साथ
 द्वितीय थीं । वे दोनों माता होनेवाली हैं । उनको तो संतान का सहारा मिल
 जाएगा । पर सुभद्रा ! उधर पिता की मृत्यु, इधर पति शायद । वास्तविकता
 तो सम्राट जानते हैं या मैं । पर वे तीनों और सब तो यह नहीं जानेंगे कि मैं
 कभी लौटूंगा भी । कैसे व्याकुल होंगे वे सब ! अंधेरा आ जाएगा । स्त्री के
 लिए पति ही तो है सब कुछ । तभी तो उसने भी आदत ढाल ली है सोत भेजने
 की । पुरुष भला रह सकता है ऐसे ? कहते हैं, द्रीपदी के पांच पति थे और अद्य
 भी हिमालय में बहुपति-प्रथा है । कौन जाने ! पर सभ्यों में ऐसा कहा होता है !
 क्या हम सचमुच सभ्य हैं ? मैं नहीं जानता । किन्तु वे दुःख करेंगे । यंगा ही
 शायद जैसा उज्जयिनी से मेरे चुपचाप चले आने पर माता-पिता ने किया होगा
 या पुरपटान से चले आने पर मेरी पज्जा अम्मां ने...”

पज्जा अम्मां की याद आते ही आँखें पसीज आईं । शायद सब मिलें,
 मिलें न मिलें, सबसे मिलने की आशा तो है, परन्तु अब पज्जा अम्मा तो कभी
 नहीं मिलेगी ।

मन भारी हो गया । फिर सोचने लगा—क्या मैं रुकाल हो सकूंगा ? क्या
 यह कार्य पूरा होगा ? क्या अभ्यकुमार को मैं छुड़ा सकूंगा और प्रहारज
 प्रद्योत की हानि किए बिना ? बिना युद्ध के, बिना रक्तपात के ? यामरण
 अभी छोटी होगी अन्यथा उसका उदयन से सम्बन्ध करा पाता ना मिलता
 मिलती । परन्तु यह बहुत बड़ी कल्पना थी !

जो होगा देखा जाएगा ।

'पमो श्रिरहन्ताण' कहकर मैंने कोसांबी में प्रवेश किया । साढ़े मगर कुछ फटे-से वस्त्र थे । अपरिचित स्थान की भीड़ मनुष्यों के बन की भाँति दिखाई दी । बालक को शिक्षा दी जाती है कि विना जाने मनुष्य का विश्वास न करो । उसी सिद्धान्त को सारा संसार मानता है । तब मैं सोचने लगा कि क्या कहूँ ।

मैं एक धर्मशाला के द्वार पर बैठ गया और हाथ देखनेवाला ज्योतिषी बनने की सोचने लगा । इतना मैं राजगृह में ही सुन चुका था कि महाराज रुरंतप शतानीक की एक कन्या सीभाग्यमंजरी लगभग वीस वर्ष की थी, जो योग्य पात्र की प्रतीक्षा में थी । उदयन राजकुमार की माता विचित्र थी । उसे उदयन के गर्भ के समय एक दोहद हुआ था—मनुष्य-रक्त में स्नान करने का, जिसके फलस्वरूप उदयन को उसके पिता ने एक तपोवन में रखा था, जहां से वह तभी राजधानी को लौटा, जब वह बारह वर्ष का हो गया । उदयन को हाथी पालने का बड़ा भारी शैक था, और बीणा वह ऐसी बजाता था कि हाथी मुख हो जाता था । उसमें सारे लक्षण ऐसे थे, कि उसके प्रतापी राजा होने की शांतिका थी । कुणिक और उदयन ! दो ही थे जिनके विषय में लोगों को बड़ी-बड़ी आशाएं थीं । अभय से लोग मन में अप्रन्त-से थे, क्योंकि वह क्षुभोग्या अम्बिपाली का पुत्र था । अम्बिपाली को वे वेश्या मानते थे । गण-धनियों के दम्भ को मैं भी नहीं चाहता था । सामुद्रिक शास्त्री बनने के लिए कुद्र आषम्बर की आवश्यकता थी और मैं नंगा था, मेरे पास कुछ भी नहीं था । नगर में मजूरी करने का विचार मुझे ग्राह्य नहीं हुआ । अन्ततोगत्वा, मैं उठा पीर नगर की जाट की ओर चल पड़ा ।

रत्न-विक्रेता हंसा और अपने सेवक से बोला, “मण्डूर ! वणिक् श्रेष्ठ आए हैं। दिखा तो ! इन्हें तो बड़ी पहचान होगी !”

मण्डूर भी हंसा। मुझसे बोला, “जाओ भैया ! यह वह दुकान नहीं है। परसों-तरसों की बात है। एक विदेशी ने भांग खाकर किसी दूधवाले के यहां दूध पिया। कुछ कर्पटिका वाकी रहीं। दूधवाले ने दूसरे दिन दे देने का वायदा किया। क्योंकि विदेशी ने कहा कि फिर कल पी जाऊंगा। जब भांग खाकर आया हुआ वह विदेशी चलने लगा, तो दुकान की पहचान के लिए देखा। सामने एक विजार बैठा था। उसे देखकर चल दिया। दूसरे दिन सांकाल, फिर भांग खाकर दुकान ढूँढ़ने चला, तो विजार को ढूँढ़ने लगा। अन्त में विजार मिला एक छुहार की दुकान के आगे। देखते ही विदेशी चिल्लाने लगा, “कोसांबी के दुकानदार साले सब चोर हैं। चार कर्पटिका के पीछे वेईमान रातों-रात घन्धा बदल बैठा !”

रत्न-विक्रेता हंसते-हंसते लोट-पोट हो गया। बोला, “अरे मण्डूर ! तू मुझे ऐसी ही बात करता है। पर हर विदेशी एक-सा नहीं होता !”

“स्वामी !” मण्डूर ने कहा, “कल ही की तो बात है। मैंने देखा एक बंधा बच्चों के कपड़े खरीद रही थी। पूछा मैंने : अरी यह क्या ?—बोली : अरे तो क्या होंगे भी नहीं !”

अब क्या था, श्रेष्ठ! रत्न-विक्रेता तो लोट-पोट हो गया। मण्डूर ने मुझसे कहा, “प्रभु ! इस दुकान पर महाराज शतानीक जैसे दीन-दरिद्र आते हैं। आप आगे कोई स्थान देख लीजिए न !”

वे समझे थे मैं चिढ़ूंगा, गाली दूंगा। परन्तु मैंने हंसकर कहा, “मिथ ! रत्नों के बीच मण्डूर रहे और विदेशी इसपर यहां न टिके तो कहां जाए ! अवश्य यहां रत्न के नाम पर कांच भी होगा। वही मैं ले जाऊंगा। यदि मैं परख न कर सकूं तो तुम जीते। यदि मैं परख कर गया, तो तुम और तुम्हारे स्वामी मुझे क्या देंगे ?”

मण्डूर को चोट पहुंची। वह दिल्ली से ही शायद अपने स्वामी को प्रगति के लिए आया। मेरी बात सुनकर चिढ़कर बोला, “तुम परख करोगे ? मैं इस्ता हूँ ?”

१. लोहे का मैल

रत्न ! रत्न तो कोसांबी में ऐसे हैं कि तुमने देखे न होंगे । महाराज शतानीव के पास एक ऐसा रत्न है कि आज तक कोई उसे परख नहीं सका । उनकी ते धोषणा है कि जो मेरा रत्न परखेगा, वही मेरी पुत्री, सौभाग्यमंजरी का स्वामी होगा । इसी प्रतीक्षा में पुत्री की श्रायु इतनी हो गई और विवाह नहीं हुआ । पुत्री है वह ! स्वर्ग की अप्सरा है हमारी राजकुमारी । पर तुम्हें मैं प्राप्ताद कैसे ले जाऊँ ? यह वस्त्र पहनकर चलोगे तो दण्डधर भीतर नहीं जाने देगे ।"

"वस्त्रों का क्या ?" मण्डूर ने कहा, "बदल लेंगे !"

मैंने हँसकर कहा, "मित्र मण्डूर ! मैं लोहा हूँ मण्डूर नहीं । मैं तुम्हारे महाराज से क्या मिलूँ, जो मनुष्य को वस्त्र देखकर परखते हैं । रत्न कहाँ ? निकलता है श्रेष्ठ ?"

उसपर मेरी बात का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उठा और बोला, "चलै आर्य ! मेरे घर चलें ।"

जब मैं उसके साथ भीतर चला तो पता चला कि वह बहुत बड़ी दूकान थी, जिसमें कई सेवक थे । जहाँ मैं गया था वह तो दूकान का वह भाग था जो पिछवाड़े की छोटी सड़क पर खुलता था । वहाँ सुत्यक एकान्त के लिए दैवकर अपने मुँहलगे सेवक मण्डूर से पांच दबवाता था । हाट में सुत्यक को दैवकर सब प्रणाम करते, तब मुझे पता चला कि मैं अचानक ही कोसांबी के बहुत से श्रेष्ठ से टकरा गया था, वह जिसकी दूकान के पिछवाड़े तक मैं बहुमूल्य रत्न रखे रहते थे । उसके भवन पहुँचने पर उसके दैवभव का ज्ञान हुआ । हाट और सब जगह मुझे सम्मान लेकर वह जब चला, तो मेरे बारे में लोगों को कौतूहल हो गया ।

उसने मेरी बड़ी सेवा की । रात को वह मूल्य पर्यक पर सुलाया और मैं फटे कपड़े पहने उसपर ऐसे सो गया जैसे मैं उससे चिलकुल प्रभावित नहीं था । उसके किसी भी दैवभव ने मुझे चमत्कृत नहीं किया, वयोंकि मैंने भी दैवभव देना था और अब भी अपने को दैवभव का स्वामी समझता था । सुत्यक ने चुनूर दृष्टि से पहचाना और कहा, "आर्य ! नाम तो सुना । धनकुमार ! प्रथम परिचय दें ।"

मैंने कहा, "अक्षात् कुलगोत्र हूँ ।"

"न बताएँ । पर कल बताना होगा । महाराज को गूँवना भिजया थुड़ा ।"

रत्नपारखी ला रहा हूं, एक और।"

मुझे लगा, अब भाग्य फिर करवट ले रहा था।

सुत्यक के जाने पर मैं सो नहीं सका। रात-भर तरह-तरह की यादें आती रहीं।

प्रातःकाल स्नान करके जब मैंने वही वस्त्र पहने, सुत्यक देखता रहा। बोला नहीं। अन्य जीहरी भी आ गए थे। हम सब प्रासाद पहुंचे। महाराज ने हमें भीतर बुला भेजा। स्वयं एक रत्नजटित आसन पर बैठकर उन्होंने हमें पारसीक कालीन पर विठाया। प्रकोष्ठ में भीतों पर उनके हाथ से शिकार किए गए अनेक जन्मुओं के सिर लटक रहे थे, मसालों से भरे।

"परीक्षा कौन करेंगे?"

सुत्यक ने मेरी ओर इंगित किया। जीहरियों को आशा थी कि महाराज हँसेंगे। पर वे हँसे नहीं। क्षण-भर देखते रहे, फिर बोले, "ले आओ!"

एक दासी ने स्वर्ण के थाल में मणि को लाकर रख दिया। मैंने देखा। गंगा-तीरवाले मणि से छोटा था। न उतना मूल्यवान ही था। मैंने कहा, "देव! वह रत्न कहां है जिसकी मैंने इतनी प्रशंसा सुनी थी!"

महाराज का मुख क्रोध से तमतमा उठा। जीहरी कांप उठे। सुत्यक को जगा कि मारा गया।

"यदो?" वे गरजे। "इसमें दोष है?"

"अभय दें देव! पारखी को सत्य का अधिकार दें।"

राज्य के सबसे बड़े पारखी वे स्वयं थे, और वाकी भी ध्रेष्ठ पारखी थे।

वोले, "इसके गुण बताओ श्रेष्ठ!"

मैंने कहा, "देव! इसका एक ही वैभव है, और आप उसीके कारण इसे अमूल्य समझते हैं कि जब इसको चावलों के साथ रखा जाता है, तब इसके रहने तक पक्की पास नहीं आते, और इसके उठाते ही पक्की आकर दाने चुग जाते हैं।"

श्रेष्ठियों ने मुझे आदचर्य से देखा। महाराज का क्रोध लुप्त हो गया। मुझे देगते रहे। फिर पीरे से कहा, "अद्भुत!"

"परन्तु देव!" मैंने कहा, "इस रत्न में एक दोष है। यदि वह मिट जाए

तो यह आपको समृद्धि दे सकता है।”

“रत्न ठीक भी हो सकता है?” शतानीक ने कहा।

मैंने हँसकर कहा, “देव ! पत्थर मनुष्य से अधिक सरल और सहज होता है। वह अपना मोल स्वयं कभी अधिक नहीं बताता।”

महाराज ने मेरी ओर आश्चर्य से देखा और कहा, “आपकी निर्भयता अतियोचित है श्रेष्ठ ! आपका शुभ नाम ?”

“देव ! धनकुमार !”

“कुलगोत्र ?”

“अश्वात्”।

“निवासस्थान ?”

“समस्त पृथ्वी !”

“विवाहित हैं ?”

“तीन बार।”

“सन्तान ?”

“भविष्य के गर्भ में।”

“और अब कहां हैं ?”

“देव के श्रीचरणों में।”

सुत्यक ऐसे बैठा था, जाने कब क्या होगा।

सम्राट ने मुस्कराकर कहा, “मिल गया। श्रेष्ठ सुत्यक ! मिल गा।

“हां देव !” सुत्यक ने कहा, “मिल गया।”

“क्या मिल गया सुत्यक ?” सहसा महाराज ने पूछा।

सुत्यक फिर मरा। इधर देखा, उधर देखा। फिर बोला, “वही देव ! रकी प्रतीक्षा थी।”

“ओह हो हो हो,” करके महाराज हँसे। सुत्यक भी। सहसा महाराज ने कहा, “हां सुत्यक ! किसकी प्रतीक्षा थी ?”

सुत्यक के दांत फिर बन्द। अब क्या कहे ! पर यों भी परता ही था।

स बटोरकर बोला, “देव ! यह तो हमारा सौभाग्य...”

“हमारा नहीं,” महाराज ने हँसकर कहा, “हमारी सौभाग्यमंजरी...”

“देव ! देव !” सुत्यक समझकर मुर्ख हो गया। “यही तो, यही तो...”

महाराज ने कहा, "युवक ! मेरी प्रतिज्ञा जानते हो ?"

"सुना था देव !" मैंने कहा, "परन्तु मैं उसके योग्य नहीं।"

"क्यों ?"

"मेरा वेश !"

"साधु ! धरती किसकी है ?"

सुत्यक ने कहा, "देव ! आपकी !"

"शान्त रहो सुत्यक !" महाराज ने कहा, "हां युवक ! धरती किसकी है ?"

मैंने कहा, "मिट्टी की !"

जौहरियों के मुख से आश्चर्य की ध्वनि निकली। परन्तु महाराज गंभीर है। मैं समझा। महाराज जितने सूखे लगते थे, वास्तव में वे उतने ही कुशाग्र दुष्ट और चतुर थे। बोले, "और राजा उस मिट्टी से सुवर्ण उगाहते हैं ! जानते हो ?"

"सीख रहा हूँ देव !"

"साधु ! विनय और शील भी हैं। जय-काव्य पढ़ा है ?"

"सुना है देव !"

"महावीर कर्ण का कुलगोत्र क्या था ? चीरों का क्या गोत्र ?"

"परन्तु देव ! आप कुरुकुल-भूषण हैं। क्षत्रिय हैं। मैं क्षत्रिय नहीं हूँ।"

महाराज ने कहा, "युवक ! गुणानुसार वर्ण होता है। वृष्णि यादव नंद वैश्य था और वसुदेव क्षत्रिय, परन्तु दोनों का भ्रातृ-सम्बन्ध था। देवकी-पुत्र कृष्ण ने जिस हाथ से कंस का दास्तव करते हुए गायें चराई थीं, उसीसे चक्र उठाकर राजसूय और श्रश्वमेध यज्ञ कराए थे। अब भी तुम्हें कोई संशय है ?"

"देव !" मैंने कहा, "मेरे तीन विवाह हो चुके हैं।"

महाराज ने कहा, "राजा के चार विवाह तो शास्त्रानुमोदित हैं—महिली, परियज्ञ, पाताली और वावाता और अतिरिक्त अतिंद्य ! और अब तो श्रेष्ठ भी प्रगत करते हैं। पुरुष का वया ! पुरुष यूप है, जिससे अनेक स्त्रियां वंधती हैं। तुम जैसा योग्य और सुन्दर पुरुष देखकर यदि सौभाग्यमंजरी 'ना' कह दे तो मैं प्रतिज्ञा भंग कर दूँगा।"

ये उट गड़े हुए। और कहा, "प्रजा देखेगी कि शतानीक वस्त्रों से नहीं, मनुष्य के मुखों से उसकी पहचान करता है। यही परम पवित्र ऋषियों का

मार्ग है, जो कुटियों में रहते थे। आज उसीके भूल जाने से यह असंख्य मानिकल रहे हैं, जिनमें प्रत्येक उपदेष्टा अपने को अन्तिम सत्य का प्रचारक मानते हैं। धर्म की गति कितनी गूँह है, यह शताव्दियों तक नहीं जाना जा सका। यह वे दार्शनिक समझते हैं कि सब कुछ उनके हाथ में है। इसी वेश में मेरे जामाता आएंगे सुत्थक ! तभी मैं इनका विवाह करूंगा अपनी पुत्री से, जिसे मैंने उदयन की अनुपस्थिति में पुत्र से भी अधिक मानकर पाला है।”

उनके नयन भीग गए।

‘ सुत्थक जब प्रासाद के बाहर आ गया, उसने लम्बी सांस ली और कहा—
“ओह ! कमाल हो गया !”

मैंने कहा, “क्या हुआ श्रेष्ठ !”

“अरे जामाता ! अभी कुछ हुआ ही नहीं ?”

“कुछ कहो भी तो !”

“यही क्या कम हुआ कि आज मेरी गर्दन बच गई !”

सब हँस पड़े।

सुत्थक ने कहा, “महाराज बहुत अच्छे हैं, पर एक बात है। जो जम गई मन में, सो जम गई। उदयनकुमार को तपोवन में रखा, तो रखा। उसी पुराने आदर्श पर। पर अब वे ब्राह्मण हैं कहाँ ? गणों के क्षत्रिय कितने भी बन ले परन्तु जो ब्राह्मण वहाँ रहते हैं, रहते हैं ठसक से ही !” किर सुत्थक ने पीरोंने कहा, “बड़ी नरम जाति है ब्राह्मण। वस पूज्य कह दो, चाहे जो करा नो। मैंने देखा था इन्हें पंचाल में। सारे अनार्य मन्दिरों में पुरोहित कौन ? ब्राह्मण ! नारों के तीर्थ हैं। वहाँ पुरोहित कौन ? ब्राह्मण। वैसे पुराने कर्मकाण्डों थोड़े हैं। वे ज़रूर कटूर हैं। महाराज ब्राह्मणों के प्रशंसक हैं !”

मैंने सोचा, महाराज भी कैसे हैं ! एक मणि की परीक्षा से पुत्री का भाग जोड़ रखा था। अगर कोई बुड़ा परख कर जाता, तो ? किन्तु महाराज ने मनुष्य के प्रति आस्था थी। यह कितना बड़ा आश्चर्य था ! ब्राह्मण-गिरिजा का भी ऐसा प्रभाव पड़ता है, यह अनुभव करके परम्परा से थाया दालाल का विरोधी भाव मुझमें दब गया।

दूसरे दिन वृद्ध राजपुरोहित मुझे प्रासाद में ले गया। महाराज उठे हैं। मुझे बिठाया। मैं उन्हीं वस्त्रों में था। बातें चल पढ़ीं। महाराज ने दू-

“युवक ! इस धरती में प्राचीनकाल में मनु प्रभृति बड़े-बड़े महापुरुष हुए हैं । बड़े-बड़े चक्रवर्ती हुए हैं । तपस्त्रियों ने साक्षात् ब्रह्म का अनुभव किया है । फिर भी यह पवित्र भूमि आज खण्ड-खण्ड पड़ी है और मैं देख रहा हूं कि चारों ओर उच्छृंखलता व्याप्त है । युवक घर छोड़ जाते हैं । माता-पिता बुढ़ापे में धन कमाते हैं । स्त्रियों को पति के जीवित रहते हुए वैधव्य सहना पड़ता है । लेकिन व्योंकि क्षत्रियों और द्राह्यणों में दृन्द हैं । क्षत्रिय गण बनाए बैठे हैं, जहां जाति का निर्णय जन्म करता है । गणों में दास हैं । हमारे यहां नहीं । हर नया/विचारक समझता है कि अब तक संसार में सब मूर्ख थे, अब ज्ञान प्रारम्भ होगा । तो ही मुना है राजगृह में कोई बुद्ध और तीर्थकर आए हैं । बड़े-बड़े जानी पहले भी थे । याज्ञवल्क्य, गार्गी, हप्तवालाकि, नारद ! अश्वल जनक कुछ कम पहुंचे हुए थे ! यह संसार कितना प्राचीन है, कोई जानता है !!”

मैं सुनता रहा, वे कहते रहे ।

“देखो न, मनुष्य का धर्म हो क्या सकता है ? वात्यावस्था से यौवन तक पूर्वजों की विद्या का संचय करे, फिर संतान को जन्म दे । फिर ऊब जाए तो नोक को छोड़कर बन में रहे और अपनी आत्मा को शुद्ध करे । अब वानप्रस्थ ही उठ गया । मैं तो उदयन को समय रहते सब देकर चला जाऊंगा । उसमें प्रापुष में प्रेम रहता है । आजकल राजा बुड्ढे हो गए हैं, सड़ गए हैं, मगर कांतामोग नहीं छोड़ते । पुत्र युवक है । पर उसे अधिकार नहीं है । असल में गड़वड़ ही गई कि एक दिन कुरुकुल ने एक अन्धे को गँड़ी पर विठाकर जाति का संहार करा दिया । अन्यथा यह उच्छंखलता काहे को उठाती ! अब युवक हैं जि मूरद निकलने से पहले घर छोड़ते हैं । मनुष्य का सत्य सोजते हैं वे ! आत्मा की शांति ! आत्मा की शांति संतोष में है, शून्य की भटकन में नहीं । आखिर

हुई ? पुरुषार्थ छोड़कर भीख मांगना आत्मा का कल्याण है ? जब बूढ़े हो जाते तब और बात है ! बृद्ध को सम्मान चाहिए, भोग नहीं । यह सृष्टि ! ऋणियों ने कहा है—यथापूर्वमकल्पयत् । —पूर्व क्या था ! पूर्व ! यह सृष्टि उसने ऐसे बनाई जैसे पहले कभी बनाई थी । पहले कब ? जाने कब । ऋणियों ने कहा है कि यह सृष्टि पहली बार नहीं बनी । जाने कितनी बार बन चुकी है ! शास्त्र पहले भी होगी । ये सूर्य-चन्द्रमा क्या इसी बार बने होंगे ? जाने कितनी बार बने होंगे । तभी ऋषि ने कहा : यह तो फिर-फिर बनती है ।—यह विराट सत्य ! और कितना महान् ! और फिर इन नये उपदेशकों का यह दर्शन सब कुछ खोज लिया ! बस, हमसे बढ़कर कोई नहीं ?”

मैंने कहा, “महाराज ! मैं वेद को नहीं मानता । मैं पाश्वनाथ के मत से मानता हूँ । जिनमतानुयायी रहा हूँ ।”

“जिनमत ! जिनमत अनीश्वरवादी है युवक !” महाराज ने विनाविनिष्ठ हुए कहा, “वेद में ऋषभ की तपस्या का उल्लेख है । उस अवस्था, उस ऊर्जावारी को पहुँचने पर मनुष्य सत्य को पा जाता है । ऋषभ ने तप किया और उगए । नंगे रहे । वे सत्य से मिल चुके थे । आत्मा के पथ पर जोर देकर उन्होंने यही प्रमाणित किया था कि दुःख कर्म से है । उस समय कर्मकाळी ग्राहण स्वार्थलिप्त थे । उन्होंने विरोध किया । परन्तु ऋषभ की भाँति श्रेणक ऋषि दूर स्वार्थलिप्त थे । उन्होंने विरोध किया । परन्तु ऋषभ की भाँति लोक-धर्म का तो विरोध वेद को रटना-मात्र काकी नहीं है । परन्तु ऋषभ ने लोक-धर्म का तो विरोध नहीं किया । उनकी अपनी साधना का पथ अलग था । साधना-पथ क्या ऋणियों में एक है ? धर्म और साधना दो हैं न युवक ! शील, आचार, संसार, प्राप्ति, यह सब ही तो लोक की साधते हैं । ऋषभ क्या इनके विरोधी थे ?”

महाराज की बात ने मेरे सामने एक नई दृष्टि जगा दी । फिर यों, “मैंने अपना स्वप्न उदयन में उत्तारने की चेष्टा की है । एक बार फिर युधिष्ठिर का सा विशाल साधारण बने और धर्म की स्थापना हो । ये द्योटे-द्योटे गर्ज की पाप की जड़ हैं । क्षणियों ने गण बनाए, ग्राहणों का विरोध करते हैं । अनाचार फैला । बताओ वत्स ! ये गण जो जगह-जगह हैं, वे पर्याप्त अनाचार फैला । बताओ वत्स ! ये गण जो जगह-जगह हैं, जाति ! यह के अड्डे नहीं ? दास में क्या आत्मा नहीं ? ब्रह्म सबमें एक है । जाति ! यह वर्णनिःसार है, लोक-धर्म को चलाने के लिए । स्वदर्म को सब द्योट दें, तो यह कैसे चलेगा ! जो जहाँ जन्मा है, वह अपने बुल-कर्म को जितना जान महज !”

उतना दूसरा जान लेगा ? लुहार बढ़ई बन जाएगा ? अरे स्वधर्म में
मरना भला । दूसरा धर्म भयानक है । किसान जौहरी बन सकता है ?
रही उन्नति ! वह केवल समर्थ कर सकता है । परशुराम ने क्षत्रियत्व
धारण किया । द्रोण ने शस्त्र उठाया । परन्तु मैं तो फिर भी कहूँगा कि
ऐसी सामर्थ्य ने लोक में प्रायः ही अनाचार फैलाया । एक बार ऐसा करने-
वाले व्यवस्था से ऊपर अपना स्वार्थ देखते हैं, लोक-धर्म से ऊपर महत्वाकांक्षा
देखते हैं । प्राज आर्यों में पहले की शक्ति है ? पहले म्लेच्छ, जंगली जातियां और
ऐसे वर्वर इस प्रजापति की भूमि को सिर झुकाते थे । अब पारसीक सांश्राव्य
नें युझे पता चला है, यह दुरभिमान हो रहा है कि इस आर्यभूमि पर शासन
करे ! वहां, विष्णु और शिव के देश में वे म्लेच्छ शासन करेंगे ? असुरों की
सन्तान !!”

वातें शायद चलती रहतीं ।

तभी परदे के पीछे से आवाज आई, “देव ! राजकन्या ने देख लिया ।
स्थीरत है !”

महाराज उछल पड़े । बोले, “वहां, मैं मनुष्य को जानता हूँ । कार्तिकेय
की जया पहचान थी जो इन्द्रपद तक जा पहुँचा ! अब तुम मेरे जामाता हुए !”
ओह ! इसलिए मुझे यहां विठाया गया था । मैं इतना चतुर बनता था,
पर यास्तव में ये राजा मुझसे अधिक चतुर थे । तभी वे राजा ये और मैं
उनका रुपापात्र-भर ही तो था । वैसे हरएक को अधिकार है कि वह अपनी
मूर्गता में अपने को सबसे बड़ा बुद्धिमान समझता रहे । और महाराज ने मुझसे
भुक्तार कहा, “जामाता ! भ्रम मत करो । आकाश और पृथ्वी के बीच काल
मूर्य के ताप में पुटी बना रहा है । हम सब उसीके भीतर हैं । स्मृतियां अनेक
हैं, भूति का भी एक पथ नहीं । मार्ग अनेक हैं, और धर्म का पथ अत्यन्त गहन
है । मातमा ही सर्वंत है और यह सब जो है वहां ही है । न हम मार्ग का आदि
जानते हैं, न प्रंत । इस लोक में कर्मानुसार फल पाते हैं । जीवित रहना है, तभी
जीव, जीव को राकर रहता है । फिर भी दया, अहिंसा हमारे मन को उठाती
रहे, यही हमारे तिए प्रच्छदा है । आए हैं, तो रहेंगे । ‘भाग्य-भाग्य’ चिलाकर
नहीं मरेंगे, उद्योग से रहेंगे । और कोई चारा नहीं है । तब लोग मर्यादा क्यों
नहीं परें ? देखा करने से भी क्या होगा ? अनाचार होगा, अधर्मी तिर पर

चढ़ेंगे, पाखण्डी और अत्याचारी, दंभी और घृणा के प्रचारक लोक को दवाएंगे। सब देवता ठीक हैं, सब उसीको विभिन्न रूपों में देखते हैं। 'वह' या है? वह सबसे परे है। यह वर्ण-जाति वास्तव में कुछ नहीं, लोक-धर्म के नियम हैं। अन्यथा सब उलट जाएगा। पुत्र पिता को मारेगा, पुत्री भाई से व्यभिचार करेगी। हमें तो वही करना है, जो महापुरुषों ने किया है। पूर्वकाल के मनोरियों ने यह नियम योंही नहीं बनाए। वडे अनुभव के बाद बनाए थे कि स्त्री-भोग वासना तो है, परन्तु फिर भी सन्तान के लिए आवश्यक है। विवाह नहीं करोगे, तो व्यभिचार बढ़ेगा, क्योंकि सब एक-से संयमी नहीं होते। पृथकी किसीकी नहीं। परन्तु लोक चले इसलिए खेती होनी है। तो 'कर' भी चाहिए क्योंकि किसान सेह जोते ताकि सेना उसकी रक्षा करे। इसीसे इसे वीरभोग्या कहा गया है। समझ रहे हो न?"

मैंने देखा कि उनकी बात बड़ी ठोस थी। कितनी मान सका हूं, नहीं जानता। परन्तु लाचारी की स्वीकृति भी इतनी सहज हो सकती है, और यही ब्राह्मण की नई बात थी, यह सोचता हूं तो लगता है कि यह भी यथा गत था! बार-बार मन में गूंजने लगा—यह लोक बहुत पुराना है।

महाराज ने हँसकर कहा, "बत्स! लोक आज से प्रारम्भ नहीं हुआ। प्रब से बहुत पहले हुआ था। मनुष्य जाने कितने मार्ग सोच चुका है और अन्त में वह इसी निर्णय पर पहुंचा! अब मेरी चिन्ता दूर हुई। सौभाग्यमंजरी ने तुम्हें पसन्द कर लिया। पुत्री होती है न? वडे लाड़ की पाली है मैंने। उसे गदा मुख से रखना। अरे, कथ्य ने एक दिन जैसे शकुन्तला की पाला; परन्तु दुष्यन्त की भाँति तुम न बनना!"

महाराज ने आँखें पौँछ लीं। और उठ खड़े हुए।

और तब मैंने सोचा कि राजनीति कितनी दुरी है। उसे राजनीति क्यों कहूं? अपनी पत्नियों और होनेवाली संतान का स्वार्थ क्यों न कहूं, जिनमें कारण मैं ऐसे अच्छे आदमी से भी चाल खेलने को विवश था, और स्वयं उपरा जामाता बनता हुआ? और उधर प्रद्योत, जिससे मुझे छल करना था, उपरा भी मुझे ध्यान था कि कहीं नुकसान न उठा जाए; क्योंकि मेरे माता-पिता, भाई-भाभियों का स्वार्थ मुझे उधर रोके था। उफ! किंगा विद्युता ने मग जीवन हो गया था यह!

फटे कपड़े पहनकर मैं वर बनकर गया । और महाराज शतानीक का जामाता बना । उन्होंने कन्या-शुल्क (दहेज) में मुझे अपने राज्य का एक विशाल भूखण्ड दिया, जिधर आवादी नहीं वसी थी । अब मैं राजा हो गया । धन्य मेरे भाग्य ! तेरे सेल को जिस तरह मैंने भेला, वह मैं ही जानता हूँ । मैं ही या, लोक का कीन-सा मनुष्य नहीं भेलता, या नहीं जानता ।

रीभाग्यमंजरी ने मुझे अपना कीमार्य श्रीपित किया, जैसे दिवस-ज्योति इस लोक को अपनी लालिमामयी ऊपा पहले श्रीपित कर देती है और अन्धकार दूँ ही जाता है । उपरांत उसने पूछा, “मेरी तीन बड़ी वहिनें हैं । सुना है मैंने कौनों है ?”

जानता, न अन्त ही। हम तो केवल बीच में हैं। बीच में उठते हैं औ कुछ चलकर लुप्त भी हो जाते हैं।

महाराज शतानीक ने जब मेरी कल्पना के बारे में सुना तो “जामाता को प्रयोग करने दो। उदयन को अनुभव प्राप्त होगा।”

मैंने नगर का नक्शा खींचा। चैत्यों, उषवर्णों के स्थान निर्धारित और सचमुच नगर खड़ा हो गया। सौभाग्यमंजरी ने उसका नाम रसापुर। और मैं कितना प्रसन्न हुआ! शीघ्र ही मैंने गुप्तचर नियुक्त किए अभयकुमार के लिए लोगों को भेज दिया। परन्तु फिर सोचा, यह मेरे गुव्हयों बने? गुप्तचर जब पकड़ा जाता है तब उसका स्वामी उसे अपना स्वीकार नहीं करता और वह मारा जाता है। ऐसा जीवन मनुष्य वयों स्वरता है? क्योंकि ऐसे जीवन को भी वह अपने वाकी जीवन से अच्छा महान् है। इससे रोटी, नमक और स्वामिभवित उपजती है। जीव जीव को सात नहीं, जीव अपने पेट में जानेवाले जीव के लिए, दूसरे जीव पर निर्भाव करता है। उस निर्भरता के कारण रोटी देनेवाले का स्वार्थ जीयित रोटी पानेवाले का धर्म हो जाता है। तो क्या दरिद्रता ही इस निर्भरता कारण है? या दरिद्रता से भी बढ़कर ही धन को सहज प्राप्ति में रहने की आश्रोतरों को भेलने की ताकत देती है और मनुष्य मौज में रहता है। जीवन से परोक्ष रूप से घृणा करता है! कौसी होती है यह घृणा जिसमें भोग प्रोग ही प्रधान रहता है। मैं भी तो मूलतः एक गुप्तचर ही हूं। स्वार्थ में ही हो हूं। इस स्वार्थ को क्या मुझे भाग्य की गति कहना चाहिए? मैं कोई नहीं सोच पाया।

मैं, मेरा धनपुर दिन-रात बढ़ रहे थे। सौभाग्यमंजरी तो मेरा ही ही, उसे मैं अलग क्यों गिनूँ?

मैंने व्यापारियों को बुलाकर मंथणा की। कर नियत किए। धन-भाग व्यवस्था का प्रवन्ध किया। ब्राह्मणों को मंत्रिमंडल में नियमा। धर्मियों रहे। दासों को श्रेष्ठियों में बांटा और फिर भूत्यों के लिए नियम बनाये। कोई इन्हें मारे नहीं, सेविका को नंगा न करे, उससे व्यभिचार न परे। अपनी सन्तानें का अधिकार हो। मैंने दास-दासियों की हाट ही नहीं ढारी। इतना सब कुछ हुआ, परन्तु जब वर्षा समय पर नहीं हुई, तब अब नहीं ढारी।

मैंने किसानों को कृष्ण दिलवाया, श्रेष्ठियों से; और बदले में उनका कर कम किया; किन्तु बाहर से आनेवाले सार्थों पर कर बढ़ा दिया। फिर भी समस्या नहीं मुलभी। श्रन्त में मैंने पुराने ग्रंथ देखे। सम्राट् युधिष्ठिर ने नहरें खुदवाई थीं। उनमें धन लगता था। कृषि सुव्यवस्थित होती थी। बड़े राज्य थे, तब नहरें खुदवाई जा सकती थीं। छोटे राज्यों के पास इतना धन ही कहां था कि वे ऐसा करते!

सौभाग्यमंजरी ने कहा, “यह कार्य कठिन नहीं है स्वामी। साहस करना चाहिए।”

मैंने आश्वर्य से कहा, “साहस इसमें क्या करेगा?”

बोली, “कहते हैं, आपने तो पौलस्त्यवध काव्य सुना ही होगा। रघुकुल में पहले एक राजा राम हुए थे, जिन्होंने अपनी पत्नी सीता को राक्षस से मुक्त करने को वानरों की सहायता से सागर पर पुल बांधा था। सीता धरती की घेटी थी। तो हम राज्य रखकर धरती पर नहर नहीं बहा सकते?”

मैंने कहा, “दक्षिण पथ में लोग रावण को राक्षस नहीं विद्याधर कहते हैं। वानरों को भी विद्याधर मानते हैं।”

“उससे वया फर्क पड़ता है!” सौभाग्यमंजरी ने कहा, “नहरें क्या रावण विद्याधर हो जाने से नहीं खुद सकतीं?”

मैं निष्टर हो गया।

बोली, “स्वामी ! पिता ने अर्धशास्त्र और धर्मशास्त्र दोनों पढ़ाए हैं मैंने कहा, “ठीक है ।”

“और एक काम सीचती हूँ । पर हो सकेगा नहीं, यह आप दें । राज्यों में दीन-दरिद्र हैं । गणों में दोस हैं जो विकते हैं । किसी तरह उन्हें खबर पहुँचे कि वहां खाने को मिलेगा, उन्हें स्वतन्त्रता मिलेगी, तो उपर भाग आएंगे । हम किसीको भी नहीं रोकेंगे । जो आए काम करे । और करेगा तो हमारी प्रजा होगा, हम रक्षा करेंगे उसकी ।”

“और जो गणस्वामी और अन्य दास-स्वामी इसका विरोध करें वाहर, तो ? जो किसीने बढ़ाई कर दी ?”

वह हँसी और कहा, “जब तक अपने में इतनी शक्ति नहीं कि सबसे टक्के सकें, तब तक यह काम छिपकर गुप्त रूप से करना होगा ।”

मैंने ग्रामों के मुखिया बुलाए और योजना रखी । उन्होंने मुस्कराकर मौं धारण किया । मैं समझ गया, इन्हें विश्वास नहीं हुआ । तब सीभाग्यमंजरी ने कहा, “ग्रामणी हो तुम ?”

“हां महाराजी !”

“जानते हो, प्राचीनकाल में एक राजा थे पृथु । उन्होंने पृथ्यी को गाय फौं तरह दुहा था । तब हिमालय को उन्होंने बछड़ा बनाकर खड़ा किया था । हृषी हिमालय को बछड़ा नहीं बना सकते, न पृथ्यी को दुह सकते हैं; परन्तु पृथु भाना बन सकते थे, तो तुम्हारे महाराज भी धरती खोद सकते हैं । बोतो ! मैं भी विश्वास नहीं कर सकते ?”

एक बृद्ध ग्रामणी ने हाथ जोड़कर कहा, “देवी ! यह सच है, पर राज्युन ने कब हल चलाया है ?”

सीभाग्यमंजरी ने कहा, “ग्रामणी ! धन्त्रिय-परम्परा के जीर्ण होने कहते हो । प्राचीनकाल में राज्य की पांति के लिए, समृद्धि के लिए, जो वंश यज्ञ होता था, उसमें राजा को हल चलाना पड़ता था ।”

ग्रामणी निरुत्तर हो गए ।

श्रीर मैं, धनकुमार, धनसार श्रेष्ठि का पुत्र—जो कई बार मधुरी पर युद्ध था, खड़ा हुआ धीती ऊँची वांधकर । धरती पर मेरा फावड़ा चला । मौभाग्य मंजरी ने मिट्टी तसले में उठाकर फेंकी, एक भीम जयताद के गाथ याद दी

पढ़े और सौभाग्यमंजरी का कार्य प्रारम्भ हो गया । काम की देखभाल के लिए मैंने पास का एक घर अपने लिए चुना, जहां सौभाग्यमंजरी साधारण गृह-पत्नियों की तरह खाना पकाने लगी और मट्टा बिलोती । हम ऐसे उत्तर आए कि मैं कभी सोच भी नहीं पाता । शायद मैं स्वयं वहां न होता, तो अपने बारे में ऐसी कल्पना पर भी मैं विश्वास नहीं कर पाता । फिर मैं तो गरीबी जानता था, लेकिन सौभाग्यमंजरी ! पति के लिए स्त्री क्या कुछ नहीं कर सकती, यह भी ने तब ही जाना । सुना था, सावित्री यम से लड़ी थी, लेकिन वह केवल कहानी १८/। कुछ ही दिन मैं काम चल पड़ा । तब मैं कभी अपने विशाल भवन में रहता, कभी उसी छोटे घर में, क्योंकि दोनों जगह मेरा काम पड़ता था । सौभाग्यमंजरी वहीं बनी रही । मेरे संगीत ने सौभाग्यमंजरी को मुझपर मुख्य कर दिया ।

एक दिन विशाल भवन में था कि मुझे एक गुप्तचर ने श्राकर सम्बाद दिया । वह सप्ताष्ट विवासार का भेजा हुआ था । उसने बताया, “वैशाली, फोसल और अवन्ति का कार्य ठीक चल रहा है । सोमश्री को पुत्र हुआ है, गुगुमधी को कन्या ।”

मैं वड़ा प्रसन्न हुआ । श्वेता था, सो भाव छिपाने की ज़रूरत थी । तुरन्त उसे गले का हार उतारकर दिया । मैंने कहा, “और सुभद्रा के बारे में कुछ

दें।—तीर्थंकर ने कहा : स्त्री को छोड़कर जाने की यह परम्परा अनुचित है। जामालि !¹ कहकर जाना चाहिए। सिद्ध बनने को चलते समय मनुष्य पाप नहीं करता कि पलायन करे। पलायन करनेवाला दड़ा निर्वल होता है।—परन्तु उन्होंने दीक्षा नहीं दी। कह दिया : पहले मन को धैर्य दो, तब आना। आवेश में प्राप्त दीक्षा आवेश में ही चली जाएगी।—तब वे शास्त्रा गौतम बुद्ध के पास गई। कहा : भन्ते ! मेरा पति मुझे बिना कहे छोड़ भागा है। मैं क्या करूँ ?—वे चुप रहे, फिर कहा : हो सकता है वह व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठ कर गया होगा।—सुभद्रा ने कहा : क्या वह कायर नहीं है ? मैं क्या उन्हें सिद्धिपथ को रोक लेती ? या मैं तप नहीं कर सकती ? भन्ते ! मुझे प्रव्रज्या दें।—किन्तु शास्त्रा ने कहा : मैंने संघ में स्त्री के लिए स्थान नहीं रखा था। किन्तु महाप्रजापति गौतमी के कारण मैंने आज्ञा दे दी। तुम आनन्द से कहो।—वे आनन्द के पास गई, किन्तु भिक्षु ने कहा : वासना की अतुरुप्ति के विद्योग में कुछ मत करो। आवेश थमने पर आना।—तब वे घर लौट गई।

वह चुप हो गया। मैंने कहा, “इसमें लज्जा की बात क्या है शंख ?”

शंख ने कहा, “वह यह है कि फिर एक रात वे अपने प्रकोष्ठ में पुरों। एक सेवक ने उनके शयनकक्ष में शालिभद्र के भृत्य सुदाम को पुसते देखा और प्रातःकाल होने पर पता लगा कि स्वामिनी अपने सेवक के साथ कहीं भाग गई थी। सुदाम सुन्दर और स्वस्थ तो था ही, परन्तु घन वे घर से कुछ नहीं ले गई। सुदाम कितना कृतघ्न था ! उसका पिता श्रेष्ठ गोभद्र का अत्यन्त विद्वामग्र अनुचर था। वचपन से सुभद्रा के साथ यह सुदाम खेला था। सम्राट ने वह दुःखवाया। कुछ पता नहीं चला। सोमश्री और कुमुमश्री भी इसी लज्जा में छिपी रहती हैं घर में। श्रेष्ठ शालिभद्र और उनकी माता भद्रा तो नहीं हैं कि सुभद्रा मर गई !”

“हां !” मैंने कहा, “वह मर जाती तो अच्छा रहता।”

इतना दुःखी हो गया मैं कि उसे विदा करके शय्या पर गिर गया। मेरा निर्दय भाग्य हँसने लगा। उसी समय मुझपर एक वज्र और टूटा। धंत के बांहें !

१. महावीर का शिष्य और जामाता था। बाद में महावीर से अलग हो गया था। विचारक बनकर।

दूर्दक थाया । वह मेरा चर था, जो मैंने बत्स से उज्जयिनी भेजा था । उसने कहा, “देव ! उज्जयिनी में मैंने धनसार को बहुत खोजा । आपने पता दिया था, वहाँ मैंने ढूँढ़ा, सारा नगर छान डाला । बहुत तलाश करने पर पता चला कि श्रेष्ठ धनसार के एक पुत्र था, जिसे प्रद्योत चाहते थे । वह चला गया कहीं, तो प्रद्योत बहुत कुछ हुए । श्रेष्ठ धनसार भी बहुत दुःखी हुए । महाराज ने श्रेष्ठ को बुलाकर डांटा । श्रेष्ठ अकड़ गए, क्योंकि वे पुत्र के विषय में कुछ नहीं जानते थे । तब महाराज ने सबको राज्य की सीमा के बाहर निकलवा दिया । पता नहीं फिर उनका बया हुआ ।”

दूर्दक चला गया, परन्तु मैं चक्कर खाकर वहीं बैठ गया । यह भी मेरे कारण हुआ !! मैं ही हूँ वह पापी, जिसके कारण इतना विनाश हो रहा है । तब मुझे क्रोध आने लगा । विवार उत्तरदायी है । वही सुभद्रा के पतन का उत्तरदायी है । प्रद्योत ! प्रद्योत उत्तरदायी है मेरे माता-पिता के अपमान का । वही उत्तर देखा इस अपमान का ।

मैं विलुप्त हो उठा ।

मैं कैसी विचिन परिस्थिति में था ! अपने भाव में किसीपर प्रकट भी तो नहीं कर सकता था । अब मुझे जीवन सूना लगाने लगा । सौभाग्यमंजरी मेरी प्रिया ! और उससे भी मैं नहीं कह सकता । कैसी घुटन थी ! कैसे कहूँ ! जिससे फूँ ! कहाँ भटक रहे होंगे माता-पिता ! बृद्ध ! या भर गए होंगे ! प्यार सुभद्रा ! एक सेवक के साथ ! सेवक ! धृणित ! संभोग का ही तो सुख नहीं था सुभद्रा को । वया उसके बिना वह एक सेवक की शया-गामिनी बन गई ? उसने भाई शालिभद्र की नाक कटा दी ! क्या कहेंगे सम्राट विवार ! कहेंगे कि स्त्री का विश्वास ही क्या ? ऐसी तो समय रहते चली गई सो श्रच्छा हृष्मा, पर्याया कभी गहरा घोखा देती ! सच ही तो है ।

युद्ध नहीं ! धनकुमार ! तू मद में भूला है । जब वैभव मिलता है, तू तुरन्त भूल जाता है । सोमश्री, कुसुमश्री को तो सन्तान मिल गई । अब पति की प्राप्त्यक्ता ही क्या है उन्हें ! उनको धन की कमी ही क्या है ! सब स्वार्थी हैं । सौभाग्यमंजरी भी समय आने पर क्या करेगी—कौन जाने ! मैं अभय-सूमार को गयों सुडाऊं ? विवार के कारण मेरी सुभद्रा खो गई ! मिलने दो रुपे भी बदना । लेकिन नहीं । मैं उसे छुड़ाऊंगा । मैं नमक चुकाऊंगा…

विवसार का । और इस नाते प्रद्योत को दण्ड भी मिल जाएगा उसके 'चण्डत' का । ऐसा है उसका क्रोध ! उसने पिता का श्रपमान किया । राजा है तो उस अमर है ! उसके राज्य की सीमा ! और मुझे मिथिला के उस जनक की याद आई । जिसने एक ब्राह्मण से कुद्ध होकर कहा, "निकल जा मेरे राज्य की सीमा से !" यह सुनकर ब्राह्मण ने कहा, "जाता हूँ राजा, पर तू मुझे श्रपने राज्य की सीमा बता ।" जनक लम्बी सांसें लेने लगा और बोला, "तू ठीक कहता है ब्राह्मण । मेरा राज्य क्या है ? मेरा तो कुछ नहीं ।" और चण्डप्रद्योत ऐसा गव्वी है ? किर भी मैंने उसका नमक खाया है ।

उफ ! मैं पागल हो जाऊँगा । क्या करूँ ? छोड़ चलूँ सब ! श्रपनी देवी मैं मुझे बचा सका तो केवल मेरा संगीत, जो मुझे सब भुला देता था । अब वे नहरें, वह आयोजन ; सब मुझे व्यर्थ लगता । यह सब एक नाटक-सा सागर, कोसांधी की रंगशाला में नित्य नये नाटक होते थे । कभी रंभा-रावण, कभी नल-दमयंती । मेरे धनपुर में भी आनन्द की कमी नहीं थी । पर अब मेरे तिए सब सूना था । सात दिन बहीं रहा ।

आठवें दिन छोटे घर गया । मुझे देखकर सीभाग्यमंजरी प्रसन्न-सी बोनी, "आए तो आर्य ! रोज पूछती तो पता चलता राज-काज में व्यस्त हैं । स्वामी ! राजकुल की स्त्रियों को तो धैर्य की शिक्षा दी जाती है । उनका पति उनका ही नहीं, प्रजा का भी होता है । हम ही तो हैं, जिनका धर्म है रण में जाते समय पति के शरीर पर कवच बांधना । विदुला का पूरा उपाध्यान मुझे पार है । पर हाँ ! मैंने एक काम कर डाला है बिना आपकी आशा के ।"

"वह क्या ?"

"धनपुर के लिए एक विशाल सरोवर की आवश्यकता थी । यो गुद गा है । कुछ विदेशी आए हैं । एक तो पूरा परिवार है । और भी हैं । वह पर्ण वार देखा है मैंने तो अच्छे दिन देखे हुए-सा लगा । मैंने कह दिया है महर्यो से—मेरे पास से मट्टा ले जाया करो ।—आती है श्रीरत्न । वह रीटी रसा लेती हैं । मट्टा ले जाती हैं । मैंने उन लोगों से कहा तो मुझ धरमा-गे गए । मैंने जो बढ़ा है, वह बढ़ा स्वाभिमानी है । बोला, स्वामिनी ! मैंने तो देती है, वह हम श्रपना समझकर लेते हैं । और स्नेह जो पुरुष देगा, उसने लिए हम सिर झुकाते हैं, पर स्वामिनी ! उसे चुकाने फिर जन्म देना होगा ।—

उसकी बात सुनकर मैंने कहा : ऐसा नहीं है। जन्म लेना है तो लेना ही पड़ेगा। मेहनत-मजूरी तो है ही ! पर आत्मा तो सबमें एक है। उसको स्नेह भी चाहिए। तुम वृद्ध हो, इस नाते समझदार हो, पर मैं तो स्त्रियों और बच्चों के नाते कहती हूँ। सब अपने-ग्रपने भाग्य का पाते हैं।—तब एक वृद्धा, शायद उसकी स्त्री थी, बोली : अच्छा स्वामिनी ! तुम्हारी दया बनी रहे। वहूँ को भेजूँगी !”

यह कहकर मुझसे कहा, “क्यों स्वामी ! मैंने ठीक कहा न ?”

मैंने कहा, “तुम इतनी अच्छी हो सौभाग्यमंजरी ! तुम इतनी अच्छी हो कि मुझे डर लगता है। वैसे तो जीवन में मैं सबसे विछुड़ता रहा हूँ—माता, पिता, भाई, भाभी, पत्नियां सबसे। पर मैं क्या तुम्हारे विछुड़ जाने पर जी सकूँगा ?”

मेरी सारी वेदना उमड़ पड़ी और मैं उसकी छाती पर सिर रखकर रोने लगा। उसे भी रोना आ गया हृष्ट और प्रेम से। बोली, “छिः, पुरुष होकर रोते हैं। मृत्यु या परमार्थ के अतिरिक्त हमें कौन श्रलग कर सकेगा !”

सौभाग्यमंजरी, तू धन्य है। मृत्यु की याद है तुझे ! परमार्थ को भी याद रखती है। धन्य है शतानीक, जिन्होंने तुझे ऐसी शिक्षा दी। राजा की बेटी धूलि में बैठी है। तुझे तनिक भी संदेह नहीं मुझपर ! सौभाग्यमंजरी, तू मेरी है !

मैंने कहा, “मजरी ! तुम मुझसे नहीं पूछतीं, मैं कौन था ! कैसे सबसे विछुड़ गया !”

दिया और उसके बाद वैभव ने जीवन को कर दिया बनावटी। ये सब संग काम करते हैं। लड़ते हैं, फिर भी संग रहते हैं। अभाव है न? उसके कारण केवल मनुष्यत्व ही इनके आपस के नाते जोड़ता है। और ये हैं दासत्व से मुक्त हुए लोग ही अधिकरत !

यों सोचता मैं बढ़ता गया अंधेरे में। एक जगह एक कड़कड़ा स्वर सुना, “वेटा! मज़ूर है, मज़ूरी कर। देखकर दूसरों को जलता क्यों है?”

एक बच्चा रो उठा।

स्वर फिर उठा, “मेहनत से धरती जो देती है वह सोना बनता है। मेहनत तपस्या नत की रोटी से मनुष्य के जन्म-जन्मांतर के साप कट जाते हैं। मेहनत तपस्या है। समझा? व्यापार नहीं जिसमें दूसरों का भाग अपना लाभ बनता है, यात करने के कौशल से धन खनखनाता है। यहां तो लोहे से प्रथर टकराते हैं। जितना मिले उसे खा। कोई चिन्ता नहीं। ऊपर आसमान, नीचे धरती। नीन की नींद।” वह हँसा। फिर कहा, “तू तो खैर तब भी मूर्ख ही था, पर मैं जानता हूँ। तब सब कुछ था तो धन का डर था। राजा, कर्मचारी, मन्त्री, चोर, डाकू—सबका डर था। अब यम का भी डर नहीं वेटा। तब व्यर्थ आदाना थी, धर-भर को पालने का अहंकार था, और अब! सब अपने हाथों रोटी कमाते हैं। अब दूसरों को पालने का घमंड भी नहीं। तब एक या भाग्य क्या कमाते हैं। अब सबका भाग्य है। तब दो हाथ थे, आज सोलह हाथ हैं। बोल, तब सुखी थे कि आज हैं?” वह फिर हँस उठा। किर वे सब बातें करने लगे। समझ में आना बन्द हो गया।

मैं चला आया।

तीसरे दिन पहुँचा तो सीभाग्यमंजरी ने कहा, “आज एक स्त्री शार्दूली। और अब वह भी उसी परिवार के साथ मिल गई है। स्त्री के साप एक शेर है। उसका पति ही होगा। वह आती है मट्ठा लेने। और भी शेर आती हैं।”

मैंने सोचा कि इसने यह मट्ठे का व्यापार और वह भी यिन नाम दे दिया। अपने लिए खूब निकाल लिया है। आज मैं यकान्सा था। मैंने वहां मुहिम से अभयकुमार को छुड़ाने की तरकीब सोची थी और आदमी भेजे थे। तो उपादा बातें न कीं। खा-पीकर सोने लगा। सीभाग्यमंजरी मेरी धृत्या पर दा

देखी और मेरे बालों में उंगलियों से कंधो-सी करने लगी। मैंने उसकी ओर देखा तो उसने हाथों में मुँह छुपा लिया मुस्कराकर। मैंने कहा, “क्यों मंजरी !”

“हटो चुप भी रहो !”

“क्यों आखिर !”

“मुझे पिता के घर भेज देना थोड़े दिन बाद !”

“क्यों, तुम भी ढढ गई ?”

उसने हाथ हटाए और कहा, “पहली बार तो जाना चाहिए न ?”

मैं एकदम स्फुरित हो गया।

“सच ! कव !”

“छिः ! यह क्या पूछते हैं ?”

मैं स्वयं लज्जित हो गया। तो सौभाग्यमंजरी अब मां होनेवाली है। और तब मैं उदास हो गया। तो क्या अब यह भी मुझसे बिछुड़ जाएगी !!

हवा से दीप बुझ गया था। मैंने उसे अपने अंक में भर लिया और कहा, “मंजरी ! तुम्हारी संतान बहुत अच्छी होगी, क्योंकि तुम बहुत अच्छी हो !”

“और तुम स्वामी !!”

रात की हवा सियराने लगी थी। आज मेरे दो दांव थे। श्रम्भकुमार को छुड़ाने की चाल। सौभाग्यमंजरी के गर्भ में मेरी संतान ! दो दांव ! और मेरा कुटिल भाग्य !!

तीन महीने योही चीत गए। तालाब आधा-सा खुद गया। उस दिन मैं गोभाग्यमंजरी के यहां से कहीं नहीं गया। रात सोया वहीं। दूसरे दिन दोपहर थी बेना थी। मैं साथा पर पतली चादर से मुँह ढांके लेटा था कि श्रांगन में एक स्त्री पा लड़ी हुई। उसके साथ एक पुरुष भी था।

“शा गई ?” सौभाग्यमंजरी ने कहा, “इसे भी ले आई ?”

“प्राप्ते ही तो कहा था स्वामिनी !”

मैंने प्राप्त पर से चादर जरा हटाकर देखा। देखूँ तो, सौभाग्यमंजरी ने किसे बुनाया था।

देना तो लगा कि जैसे मैं जीवित नहीं था !

यह पतन ! यह सीमा ! सीमा ! यह तो सीमा का भी अतिक्रमण था !

सुभद्रा अपने प्रेमी सुदाम के साथ । दोनों मेरे ही ताल में मजूरी कर रहे हैं सुभद्रा है यह ! गोभद्र की बेटी ! शालिभद्र की बहिन ! सुवर्ण, मरकत, तीत और रत्नों के ऊपर पांव रखकर चलनेवाली सुभद्रा एक मजूरित बन गई है ऐसा है सुदाम ! इसके प्रेम में ऐसी दृढ़ता है । प्रेम कि वासना !

तभी सुभद्रा ने कहा, “स्वामिनी ! मैंने इससे कहा । इसने कहा : कहाँ दूँगा ।”

सुदाम ने कहा, “यह जो कहे मैं करूँगा स्वामिनी ! मैं इसका वचन दास हूँ ।”

सीभाग्यमंजरी हँसी । कहा, “तो मुझे यह पता लगाकर ला कि वह परिवार कौन है ? मैंने पूछा उन स्त्रियों से । कहने लगीं कि हम तो मजूर हैं । पर वे मजूर लगते हैं ? तुम हो । देखकर कोई भी कह देगा कि मजूर हो ।”

सुभद्रा मुस्कराई । कहा, “स्वामिनी ! धनी नहीं छिप सकते ।”

सुदाम ने सुभद्रा को देखा और हँसकर कहा, “इसे देखकर कोई प्रगर कहे कि यह बड़ी धनवाली है तो समझो आसमान के पंख निकल ग्राए ।”

सीभाग्यमंजरी हँस पड़ी । और कहा, “अच्छा, कैसे पता चलाएगा तू ?”

सुदाम ने कहा, “यह है पिप्पली । यह उनकी स्त्रियों से मेल बढ़ा लेगी । किर मुझे बुना लेगी ।”

“ठीक कहता है उपक । यही ठीक रहेगा । पर स्वामिनी ! हम यहां यित्ते दिन के ! हम तो धूमते-फिरते हैं ।”

“क्यों ?” सीभाग्यमंजरी ने पूछा ।

“इसकी धून है ।” सुदाम ने कहा ।

“तू नहीं रोकता इसे ?”

“स्वामिनी ! पिप्पली की वात मैं कैसे टाल सकता हूँ !”

“तुम्हें ऐसा कहते लाज नहीं आती ?” सीभाग्यमंजरी ने हँसकर कहा । पर मजा ले रही थी । प्रायः स्त्रियां पत्नी के दास को देखकर हँसती हैं और परन्तु पति की उससे तुलना करती हैं ।

जब सीभाग्यमंजरी ने मट्टा डाला तो सुभद्रा ने कहा, “और दो स्वामिनी ! हम गरीब लोग हैं । ज्यादा खाते हैं ।”

दोनों चले गए । मुझे रोम-रोम में विष पुर गया-मा लगा । गाया

बांक ली । सौभाग्यमंजरी आई और एक चौको पर बैठ गई । चंदन की थी वह चौकी ।

मैंने कहा, “मंजरी ! ये कौन थे ?”

“मंजूर थे बेचारे !”

मैं धृता से अपने मुख की विश्विति नहीं छिपा सका । वह चौकी । कहा, ‘यों ? क्या बात है ?’

मैंने कहा, “ये दोनों स्त्री-पुरुष हैं ?”

“वह तो हैं ही ।”

“तुम इन्हें जानती हो ?”

“मैंने बताया था न पहले । पिपली स्त्री का नाम है, और पुरुष का नाम है उपक ।”

मैंने कहा, “और वह परिवार कौन-सा है ?”

“एक बूढ़ा है । खूब काम करता है । जवान बेटा बैठ जाता है तो बूढ़ा कहता है : काम कर बेटा ! पुराने पापों का प्रायशिच्छत कर ! देख ! आकाश के सूर्य को देख । कभी यकता है ? बेटा ! पानी निकलेगा । कभी देखा था ऐसा चमत्कार ! धरती का पानी खींचकर निकाल, आंख का पानी बेकार मत भेदा । बेटा ! जवानी में यक गया है । काम कर ! रो मत ! स्वामिनी भली मिली है तो उसका ज्यादा फायदा न उठा । घनपुर मनुष्य के सत्य के लिए बन रहा है । भला ही स्वामिनी का । कहते हैं, महाराज शतानीक की पुत्री है । इस पर में रहती है आकर ! और तुम्हारे लिए मट्ठा बिलोती है ! खून को पानी मत कर बाघरे ! खून को भेहनत में बदल !—सच, जानें कैसी-कैसी बात करता है । महूर न होता तो कोई बड़ा ऊंचा आदमी बन सकता था वह । उसका माया ! यों रहता है ऊंचा । उदयन भेया जिस तपोवन में थे, वहाँ मैंने ऐसा ही एक तपस्यी देखा था । अभी मैं औरों के बारे में कुछ जान नहीं पाई हूँ ।”

जब अपनी यंत्रणा से कांपता हूँ, तब लोग समझते हैं कि मैं हवा में भूम रहा हूँ। मैं बड़े-बड़े सुपनों से भरे पक्षियों को अपने ऊपर विठाता हूँ, जहाँ वे धोते बनाते हैं। लेकिन मेरी जड़ में दीमक लगी है और मेरे कोटर में सांप है जो उन पक्षियों के अंडे चुरा लेते हैं। फिर भी मैं खड़ा हूँ, क्योंकि मेरी जड़ें धरती के भीतर धुसी हुई जाने कहाँ-कहाँ का पानी छूस रही है। सब कुछ ठीक सही, किन्तु मेरी पत्ती अपने सेवक के साथ मिट्टी ढोए और मस्त रहे! मेरा ऐसा अपमान! और मैं देखता रहूँ? कुछ कर न सकूँ? इसे पकड़कर कटवा दूँ। पर यह तो मेरे लिए ऐसे अपमान की बात होगी कि मुंह न दिखा सकूँगा, क्योंकि लोग तो जान जाएंगे! तब क्या चुपचाप इसकी हत्या करा दूँ?

नहीं, नहीं। मैं सुभद्रा की हत्या नहीं कर सकता, सुभद्रा को मैंने पार किया है। आज वह इस तरह सुखी है, तो इसी तरह रहे; परन्तु मैं ऐसा पार नहीं कर सकता। मैं राजा नहीं हूँ। मैं वही धनकुमार हूँ। मैं वही दीन-दरिद्र हूँ। मैं अभागा हूँ।

राज्य खोटा था, परन्तु फँसले तो करने ही पड़ते थे। और मैंने देश कि यहाँ भी झूठ था, मक्कारी थी। धनपुर एक धन का नगर ही निकला। मेरा आदर्श नगर कहीं नहीं था। तो क्या संसार सदैव ऐसे ही चलेगा? इस विचार ने तो मुझे बिलकुल ही कहीं का न रखा। बाहर के श्रेष्ठियों पर 'कर' अधिक लग गया था सो वे अब धनपुर कम आते थे। स्थानीय व्यापारी अब माल बें लाम बढ़ाते थे। किसानों पर उनका ऋण था, इसलिए वे धी की कटीती करने लगे। कमंचारी व्यापारियों से घूस लेते और हद तो यह हुई कि सेना के घासिय मजूरिनों पर ढोरे डालने लगे। सब व्यर्थ था। जो दास भागकर आए, वे यहाँ खाना पाते तो काम करते, ताकि काम ज्यादा दिन तक चलता रहे। बनभाग में डाकू फिर उठने लगे थे; क्योंकि बाहर के व्यापारी कम पाते थे, सेना को घूस कम मिलती थी, वह ध्यान कम देती थी और परिणामतः दमरे सार्थ ही लुट जाते थे। सेना से प्रश्न होता था तो वे ग्रामणियों पर ढोप रखते थे कि ग्रामणी ही डाकुओं से मिले हुए हैं और ग्रामणी कहते थे कि यह मामूल है। गणराजाओं के भेजे आदमियों का हो सकता है, जिनके दास भाग आए हैं।

मेरा बालू का घरांदा ढह रहा था। और मेरे मन में ग्राग जल गया था। उधर अभयकुमार के बारे में कुछ पता नहीं चला था। माता-पिता ना गायदे

हो, और सुभद्रा मेरे सामने ही आई थी उस दिन। विवाह की तरफ से पत्ता तक नहीं खड़क रहा था। एक आशा थी सौभाग्यमंजरी! और वह मातृत्व के भार से लदी, ऐसे स्वप्नों में डूबी थी कि मुझे लगता था, वह किसी दूसरे लोक में चली गई थी। यों मैं मज़ूरों की भीड़ देखता। पर अब मैं क्या कर सकता था! मनुष्य के भविष्य में से मेरा विश्वास उठ चला था। मैं प्रायः राजकाज के बहाने से विशाल भवन में रहता। एकान्त मुझे अच्छा लगता। सौभाग्यमंजरी देचारी उसी लगन और विश्वास से उसी छोटे घर में रही आती। पन्द्रह दिन बीत गए। मैं और मेरी बीणा। यही दो थे उस जीवन के उन नीरव और सूने क्षणों में। सोलहवें दिन मैंने सौभाग्यमंजरी के पास चलने का इरादा किया कि एक रथ धीरे-धीरे आकर भीतर घुसा और गर्भभारालसा सौभाग्यमंजरी उतारी। मैं चाँक उठा।

उसने एक सेवक से पूछा, “स्वामी कहां हैं?”

प्रणाम करके उसने कहा, “ऊपर हैं देवी।”

वह ऊपर आई। मैंने कहा, “क्या बात है? घबराइ-सी कैसे हो?”

वह कुछ उत्तेजित-सी थी। आते ही बैठ गई और बोली, “पानी!”

मैंने पानी दिया। पीकर मुझे देखती रही और फिर कहा। “धनपत्र च

“उपक !”

सोचा, कितना अच्छा किया उन्होंने !

कहा, “उपक ने कुछ किया भी तो होगा ?”

सौभाग्यमंजरी आश्चर्य से देख उठी और बोली, “आप यह कह रहे हैं ? उन्होंने बलात् पिप्पली को उठा ले जाना चाहा । वह तो कहो कि उस परिवार से वह हिल गई थी, संग ही उठना-बैठना था । आवाज सुनकर वह बूढ़ा निकल आया और लड़ने लगा । उसके भी चोटें आई हैं । बूढ़ा सैनिकों से क्या लड़ता अकेला ! तब उसकी स्त्री ने लड़कों और बहुग्रीं को ललकारा । बड़ी मुश्किल से पिप्पली बची है । घायल हो गई । सबके चोटें लगी हैं । मजूरों में बड़ा भारी रोप है । उन्होंने मुझे भेजा है कि स्वामी को तुरन्त सूचता दें । और आप हैं कि किसी स्त्री के सम्मान और पातिक्रत का ध्यान ही नहीं करते ?”

“पातिक्रत !” मैंने विषाक्त फूत्कार किया, “पिप्पली और पातिक्रत !”

“हाँ, हाँ, वह पातिक्रता है ।” वह चिल्लाई, “आपने देखा भी है उसे !”

“देखना ही तो चाहता हूँ ।” मैंने कहा, “उसे एक बार सामने लाओ यदि वह मेरे सामने खड़ी हो सके तो देखूँ ।”

सौभाग्यमंजरी ने ताली बजाई । एक सेवक ने प्रणाम करके धूपते हुए कहा, “आज्ञा स्वामिनी !”

“नीचे रथ में एक मजूरिन है । उसे यहाँ छोड़ जाओ !”

वह अवरुद्ध-सी, क्रुद्ध-सी बैठी रही । मैं छाती पर हाथ वांधे रखा रहा । द्वार पर सेवक आया और बोला, “चली जा भीतर ! स्वामिनी हैं ।”

सेवक चला गया । पिप्पली धुसी । मैंने वातायन से बाहर भाँकते हुए उसकी ओर पीठ करके कहा, “हाँ पिप्पली ! तुम्हारे साथ अन्याय हुआ है । स्वामिनी ने मुझे सूचना दी है ।”

“स्वामी !” सुभद्रा ने प्रणाम करके कहा, “मेरा भाई मारा गया है ।”

भाई ! भाई !!

मैंने मुड़कर कहा, “झूठ मत बोल ! तू कौन है क्या मैं नहीं जानता ?”

मुझे देखा उसने और हाथ उठाकर पागल-सी हँसी और भाटकर मेरे पांव पकड़कर रोने लगी, “छलिया, तुम यहाँ हो !”

मैं घृणा से पीछे हट गया ।

“मत दिखा यह त्रिया-चरित्र मुझे पापिनी ! तूने कुल की मर्यादा छुवा दी ।”

सुभद्रा दोनों हाथों पर टिककर बैठ गई । और मुझे देखकर मुस्करा उठी । सीधार्यमंजरी अवाक् दैठी थी । मेरे क्रोध का जैसे सुभद्रा पर प्रभाव ही नहीं पड़ा था । उसने सीधार्यमंजरी की ओर देखा और मुस्कराकर कहा, “मेरी सीत !”

सीधार्यमंजरी ने भपटकर सुभद्रा को छाती से लगा लिया और कहा, “यही हैं । शरी ! तूने मुझसे पहले क्यों नहीं कहा ! इन्हींके लिए तूने कुल को अपमान सहा । इन्हींके लिए तेरे दास ने अपना सब कुछ, प्राण तक बलि-दान कर दिया । इन्हींके लिए श्रेष्ठि गोभद्र की पुत्री, श्रेष्ठि शालीभद्र की वहिन, लोकलाज त्यागकर दर-दर भटकी ! इन्हींके लिए तूने मिट्टी ढोई । अभागिन ! पर तुझे मिला वया आखिर ! जिसके लिए इतना किया, वह तो विविक से भी ग्राधिक क्लूर-सा तुझे मार डालने को उद्यत है । यही हैं जो तुझे बिना कहे छोड़ आए थे, और पुरुष के उस दंभ को तोड़ने को तूने जीवन के इतने कठिन संघर्ष में ले ? तू मेरी सीत नहीं, मेरी स्वामिनी है ।”

मैं चबकर खाकर बैठ गया । जब संभला तो सुना सुभद्रा कह रही थी, “गेट जाशो स्वामिनी ! तुम्हारी हालत ऐसी नहीं है ।”

“मैं तेरी स्वामिनी नहीं वहिन ! तू मेरी बड़ी वहिन है । है न ? पर वे तुमार विश्वास नहीं करते न ? न करें । तू मेरे पास रह । मैंने देखी है तेरी दिन-दिन की घुल-घुलकर तड़पती वेदना ।”

सीधार्यमंजरी लेट गई । पर कहती गई, “सुभद्रे ! पुरुष की यही परंपरा रही है । इनका यथा विद्वास ! स्त्री तो जैसे कुछ ही नहीं । रघुकुल के राम ने यथा वेदेही को कम सताया था ।”

सुभद्रा मेरी ओर देख भी नहीं रही थी । जैसे उसे मेरी उपेक्षा की चिन्ता नहीं थी । सीधार्यमंजरी ने सुभद्रे कहा, “अग्नि-प्रवेश कराऊं इसका ?”

मैं येठा रह गया । तो यह जानती है कि सुभद्रा कौन है ? पर यह नहीं जानती थी कि मैं ही इसका पति था । मैंने अपना परिचय ही इसे कब दिया था । फिर मंजरी का धर्षण ही वया था ! स्वामी की पुत्री का विपाद न देख सकने के बारें सुशम ने उमड़ी सेवा की, हर हालत में उसके साथ रहा और

अन्त में जान तक दे दी ! गोभद्र की पुत्री ! शालिभद्र की वहिन ! वैभव ! सुवर्ण-
रत्न ! उपवत्त ! आनन्द ! क्या नहीं था इसके पास ! सब छोड़कर निकल गई।
क्यों ? मेरे लिए ! नहीं सह सकी अपने नारीत्व का अपमान ! पुरुष को दिया
देना चाहती थी अपनी शक्ति । और कुलनारी के रूप में छिप नहीं सकती थी।
इसलिए इसने मजूरी की । सूखी रोटी खाई । उसने सूखी रोटी खाई, जिसकी
गायों के नीचे की घरस्ती धूप से चिपचिपी रहती है ।

मैंने देखा । वह अब भी अभिमानिनी थी । उसपर मैंने लांछन लगाया
था । वह पर्वत जैसी थी जिसपर वह बज नष्ट हो गया था । मेरी मूर्खता पर
उसने ध्यान ही नहीं दिया ! उसके सामने मैं अपराधी हूँ । वह क्षमा मांगते हैं
किसकी ?

मैंने सिर पकड़ लिया और चिल्ला उठा, "श्रो निर्दयी भाग्य ! श्रो निर्मंप !
क्या-क्या देखना है अभी ! ले क्यों नहीं जाता ! एक दिन भरे-पूरे परिवार को
छोड़ शाना पड़ा था भाइयों के कारण, क्योंकि वे अपनी ईर्ष्या से मेरी हत्या
करना चाहते थे । वैभव को उस दिन छोड़कर भिखारी बना था ; सोचकर कि
अब सुख से रहूँगा । परन्तु मैं हूँ वह पापी कि मुर्दे में से मुझे निकालकर देव ने
रत्न दे दिए । अवन्ति का वैभव मेरे पांवों पर लोटने लगा । वह भी धोझ
फेर, भाइयों के हृषे और चण्डप्रयोत की क्रोधपयी हिंसा के कारण । फिर वह
राह का भिखारी, और राजगृह आया । और भाग्य ने मुझे उठाकर आकाश
पर धर दिया । किसीके पाप को पुण्य बनाने चला था कि स्वयं पाप बन गया ।
गागना पड़ा, रातोंरात, राज्य के लिए, राज्य के नमक का मूल्य तुकाने को ।
दूसरा राजनीति और अभयकुमार को छुड़ाने के लिए सबको छोड़ना पड़ा । और
आया था कोसांवी महाराज शतानीक को मगध का मिश्र बनाने, परन्तु क्या
या ? मेरे अहंकार का सर्वनाश मंजरी । सुभद्रा....."

मैं नहीं जानता मेरे स्वर में क्या था कि उस मानवती का मान टूट गया ।
तो मेरे दोनों ओर बैठ गईं और मुझे पकड़ लिया जैसे मैं गिर रहा था ।

सुभद्रा ने कहा, "इतना अविश्वास था तुमसे । सब कुछ करने ही, मैं
किसीपर मन नहीं खोलते ! किसीको भी धपता नहीं समझा आज तक !"
उसकी आँखों में शांसु भर आए । सीमारथमंजरी चुप येथे मुझे देखती
रही ।

“मैं बहुत श्रभागा हूँ सुभद्रा ! मुझे क्षमा करो । मुझे क्षमा कर दो सुभद्रा !
मैंने सदेव छल किया है । मंजरी से भी……”

“छिः !” सौभाग्यमंजरी ने मेरा मुंह अपने हाथ से बन्द करके कहा, “छल
करो तुम मेरी मौत से । मुझसे क्यों ?”

यह सुनकर सुभद्रा हँसी और सौभाग्यमंजरी भी ।

वाहर कोलाहल होने लगा था । एक सेवक ने आकर कहा, “देव ! बहुत-
से मजूर आए हैं । श्रमिक कहते हैं पिप्पली कहाँ है । पिप्पली का न्याय राजा
ज़ो देना होगा ।”

मैंने उसी श्रावेश में कहा, “जाकर कह दो कि पिप्पली राजा की है । मेरे
पास वह आई है, वह मेरी है । इसे मुझसे अब दैव भी नहीं छीन सकता ।”

सेवक चला गया । पता नहीं वाहर क्या हुआ । सुभद्रा ने कहा, “मुझे
जाने दो स्वामी ! वे मुझे देखकर शान्त हो जाएंगे ।”

“तुम बैठो सुभद्रे ! आज बातें करने दो मुझे । मैं तुम दोनों को अपनी
कहानी सुना दूँ, वर्ना मेरा मन फट जाएगा । न्याय फिर हो जाएगा । भीड़
नहीं गई लगती है ।”

वे दोनों मेरे पास बैठ गईं । मैं सुनाने लगा । क्या-क्या कहा । कब तक
‘हा ! पर वे रोने लगीं और मैं सुनाता रहा ।

द्वार पर मेरा विश्वस्त भूत्य नील दिखाई पड़ा ।

मैंने पूछा, “क्या है नील ?”

“देव भीड़ चली गई । दण्ड-प्रहार करना पड़ा । एक बूढ़ा और उसके पुत्र-
बहूत उत्तेजित थे । बूढ़े ने कहा, ‘तुम्हारा राजा लोलुप भेड़िया है, जिसने उसे
स्त्री जानकार पकड़ लिया है । किन्तु हम शान्त नहीं रहेंगे । राजा है तो क्या
पर प्रजा की बहु-वेटियों की लाज लूट लेगा !’ ऐसे राजा को हम पानी कहते
—देव ! बैहटा तो दिए गए, परन्तु उन्होंने हाट में जाकर पुकारा और नगर
मंभान्त घटकित तीचे आए हैं । वे देव के दर्शन चाहते हैं ।”

मैं उठ गड़ा हृषा । मैंने कहा, “मंजरी ! पिप्पली को स्नान कराओ ।”

क्षण-भर वे बगलें भाँकते रहे फिर वयोवृद्ध श्रेष्ठ कंठाभरण ने कहा, “आर्य ! प्रजा में आज विक्षेप व्याप्त हुआ है ।”

मैंने कहा, “कारण ?”

“आर्य ! वे कहते हैं कि किसी स्त्री का स्वयं आपने ही अपहरण किया है ।”

“मैंने ? नहीं । वह स्त्री स्वयं मेरे पास रहना चाहती है । कौन कहता है मैंने उसे अपहृत किया है । वह स्वयं मेरे पास आई है ।”

वे एक-दूसरे का मुंह देखने लगे ।

तब क्षत्रिय जयभास ने कहा, “आर्य ! फिर भी क्या वह परस्त्री नहीं है ?”

“कौन कहता है वह परस्त्री है ? उसका कोई पति हो तो बुलाइए । आपने किसने कहा ?”

वे बड़े चकित हुए । जयभास ने कहा, “देखते क्या हैं आप लोग । उन्हाँ नेता वह बूढ़ा है जो दुहाई पर दुहाई दे रहा है, उसे बुलाइए !”

सेवक को इंगित हुआ । वह एक वृद्ध को लाया जो उत्तेजित था । उसने दूर ही से मुझे देखा और चिल्लाया, ‘‘यहीं है तुम्हारा राजा ! इसीने आपने धन के मद में एक कुल-नारी का अपहरण किया है ? वह पतिव्रता थी । हमने देखा है कि वह किस तरह जीवित थी ।”

वह शायद और भी बहुत कुछ कहता, पर मैंने उसकी ओर धीठ गोड़कर उठकर कहा, “क्या कहना है तुम्हें वृद्ध ! व्यर्थ कोलाहल मत करो । आपने मेरे साथ, और देखो कि जिस स्त्री को तुम देवी बना रहे हो, वह एम गम्य कैसा शृंगार कर रही है ।”

वृद्ध अवाक् रह गया ।

मैं भीतर चला । तब श्रेष्ठ कंठाभरण ने कहा, “जाग्रो ! जाग्रो !” वे परस्पर तरह-तरह की बातें करने लगे । वृद्ध खोया-गोया-गा मेरे ही चलने लगा । जब हम भीतर के प्रकोष्ठ में पहुँचे, मैंने मुड़कर कहा, “हाँ बैठिए । वह आती है ।”

वृद्ध ने घृणा से मेरी ओर देखा भी नहीं ।

तब मैंने कहा, “वैठ जाइए श्रेष्ठ धनसार !”

धनसार !! वृद्ध कांप उठा ! फिर देखा मुझे !!

‘तू !’

“मैं ही हूँ पिता !”

“धनकुमार ! धन वत्स ! श्रीर ऐसा काम ! आज तू मुझे इस वैभव में
मिला है पुत्र ! तुझे देखकर मेरे भाग्य धन्य हो गए ! मैंने जीवन में कुदाल
चलाई, यह देदाना भी चली गई। तेरे भाई, भाभियां और मां पेट के लिए दर-
दर भटकते रहे, यह दुःख भी चला गया। तेरा भतीजा सूखी रोटियां खाता है,
यह भी गुच्छ नहीं। पर कोई चरित्र-ब्रष्ट नहीं हुआ। श्रीर तू अधिकार और
वंशव पाकर ऐसा हो गया। विकार है तुझे। तू कुत्ता हो गया मेरे पुत्र ! क्या
तू सचमुच मेरा ही पुत्र है ! अकस्मात् ऐसे वैभव में मिलने पर भी तू मुझे ‘तू’
नहीं नहीं दीखा। तू मुझे भिखारी ही मिलता तो लाज से मेरा सिर तो नहीं
भुगता। श्री दंव ! तूने इसे भी एक कुदाली दी होती तो मेरा गीरव तो
शपराजित रह जाता !”

तभी द्वार पर राजस वेश में सुभद्रा आई। उसने कहा, “स्वागत पिता !”

पिता ने उसे देखा श्रीर वियाक्त फूत्कार किया, “कुलटे ! विक गई ! तू
तो कहती थी कि तू अच्छे घर की है। अपने पति को खोज रही है श्रीर आज
मूँहा है तेरा वह विरह, वह पीड़ा। भाई मर गया है इसकी सेना के हाथ, श्रीर
तू इससे विलास करने को खड़ी है ! उपक न मरता श्रीर तू ही मर जाती तो
स्त्री पर कलंक तो न लगता ! वस यही है तेरी पति की खोज का अन्त !”

“हां पिता !” सुभद्रा ने कहा, “यही अन्त है। राजगृह के श्रेष्ठ गोभद्र

मैंने कहा, “मंजरी ! पिता को स्नान कराप्रो । मैं वहीं जाता हूँ ।”

मुझे लौटने में देर हो गई । नागरिक कुछ सशंक थे । मैंने अपने स्थान पर बैठकर कहा, “उन्हें कोई विरोध नहीं है । वे तो प्रसन्न हैं । आप चाहें तो देख सकते हैं ।”

उपस्थित समुदाय को बड़ा ही श्राव्य हुआ, जैसे क्या यह जाटगर है ? या बंदी कर देता है ले जाकर ? क्या बात है ?

मैंने कहा, “आप देखिए । कोई और तो उस स्त्री का रक्षक नहीं बनता । वे एक-दूसरे को देखने लगे । जयभास ने कहा, “देख डालो । देख डालो । यह हमारे राजा पर दोष लगाया ।”

वह लजिजत था, सभी झेंप रहे थे, पर सन्देह सबके मन में था ।

सेवक लौटा तो दो युवक और एक वृद्धा साथ थी । उसकी गोद में एक बालक भी था ।

मैंने किसीको बोलने का अवसर न देकर कहा, “चले आओ इधर ! स्वयं देख लो कि जिस स्त्री और वृद्ध के तुम रक्षक बने हो, वे स्वयं इस बात से चाहते हैं कि वह स्त्री मेरे पास रहे ।”

वृद्धा ने कहा, “ओ तेरा नाश हो पावी ! ऐसा मत कह । यह न एम कि तू राजा है तो हम डर जाएंगे ।”

एक युवक चिल्लाया, “धिकार है ! आप नगर के सम्प्रति पुण्य हैं । पोंचुप बैठे हैं ।”

दूसरा युवक पुकार उठा, “राजा बैठ भी नहीं रहा, फिर यह चीज़ है ?”

मैंने कढ़कर कहा, “समय नष्ट न करो । इधर आओ ।”

लोग बोले, “आगे जाओ । पहले देखो तब बात करो ।” वे युद्ध पद्धति बढ़ आए । भीतर के प्रकोण में ले जाकर मैंने पुकारा, “मंजरी ! इन्हें भी मैं जाओ ।”

“स्वामिनी !” मंजरी को देखकर वे कह उठे ।

मैं नहीं रुका । बाहर आ गया ।

फिर अपनी जगह बैठकर मैंने कहा, “आप नगर के गीर्य हैं । आज

श्रीर मेरा गौरव एक है। आप उनको बुचाकर पूछ सकते हैं। कोई असतुष्ट नहीं है।"

भीड़ बाहर जमा थी। मैंने कोलाहल भी सुना। फिर कहा, "और कुछ?"
जयभास ने कहा, "किन्तु श्राव्य! भीड़ तो अशांत है।"

"आप शांत करिए। आप ही उसे लाए हैं।"

वे चबकर में पड़ गए।

"देविए", मैंने कहा, "जो विरोधी थे, वे अब विरोधी नहीं रहे।"

"प्रमाण!" कण्ठाभरण ने कहा।

मैंने ताली बजाई।

नील आया। मैंने कहा, "भीतर जाओ। और स्वामिनी से रेशम लेकर उगपर हमारे विरोधियों के हस्ताक्षर ले आओ कि वे हमारे विरोधी नहीं हैं। वह बालक घोड़ देना। वह हस्ताक्षर नहीं कर सकेगा।"

नील मुस्फुराकर चला गया। और जब नील ने काष्ठ को खींचकर, डंडे सीधे करके, पत्त पर लेख दिखाया, उपस्थित जन उठ खड़े हुए। वृद्ध कण्ठाभरण ने कहा, "इसे हमें दो नील! बाहर दिखाना होगा।"

इसके बाद वे भव चल गए। मैं वहीं खड़ा रहा। सेवकों ने द्वार बंद कर दिए। सेनिग पहरा देने लगे। नील ने आकर कहा, "प्रभु! भीड़ छंट गई।

इंगित किया। मैं रुक गया। उसने हाथ से मुझे बगल के प्रकोण में तुलाय

मैंने पास जाकर कहा, “क्या है माघ ?”

“राजा !” उसने कहा, “तुरन्त चलें।”

“अभी मिलकर इनसे...”

“विलम्ब घातक है। इसी क्षण चलें।”

मैंने कहा, “बात क्या है ?”

“मार्ग में कहुंगा। अभयकुमार का विषय है।”

हम नीचे आ गए। माघ ने वहाँ खड़ी प्रतिहारी से कहा, “देवी से कह कि विशेष कार्य से स्वामी माघ के साथ गए हैं। अभी !”

यह कहते हुए उसने धोड़े की लगाम पकड़ ली। और हमने धोड़े वधाए

तिहद्वार से निकलते ही मैंने कहा, “किधर ?”

“दक्षिण दर की ओर !”

धोड़े दीड़ने लगे। हमारे लटकते खड़ा धोड़ों के दीड़ने से हितकर उनकी गीठों पर लगते और वे और वेग से भागते। हम इस तरह नगर के बाहर पा ए। तब माघ उत्तर गया और बोला, “उतरिए स्वामी !”

मैं उत्तर पड़ा।

तब माघ ने कहा, “स्वामी ! गजब हो गया।”

“वह क्या ?”

“प्रभु ! यहाँ मिलने को कहा था राजहंस ने। परन्तु वह श्रव है नहीं।”

हम निश्चित नहीं कर सके। दूर एक धोड़ा तेजी से दीड़ता हुआ था। ह इधर ही आ रहा था। हम पेड़ों की आड़ में हो गए। वहाँ आकर धोड़ रु गया और एक व्यक्ति ने गरगलाते भर्ते स्वर से पुकारा : “माप !”

“प्रभु ! राजहंस है !”

हमने देखा वह लहूलुहान था। मुझे देखकर उसने धोड़े का रहारा प्रोटर गाम किया, किन्तु वह इसमें गिर गया।

माघ ने संभाला। मैं बार्या छुटना टेककर छुक गया। राजहंस की शर्म द गई।

माघ ने पुकारा, “राजहंस !”

राजहंस ने आंखें खोलीं। वह इतना धायल था कि दोनों भी नहीं पा गा।

“उस शादी का नाम धनदेव है। बड़ा हठी है। महाराज शतानीक के यहां जाकर अड़ गया। उन स्त्रियों में से एक चिल्ला रही थी, “अरे, उसने मेरे बच्चे को भी बन्दीगृह में डाल दिया है? धिक्कार है ऐसे राज्य को! हम कोई बात नहीं। हम नागरिक हैं। क्या गरीब जानकर तुम हमारी सुनवाई नहीं करते! — अन्त में प्रजा इकट्ठी हो गई और महाराज शतानीक तक बात पहुंची। मैं भीतर नहीं जा पाया। जो सुना है उससे यही पता चला है कि वे आपपर बहुत मूँह फुए और अपनी पुत्री पर भी।”

मैंने हँसकर कहा, “वह तो मामूली बात है। सब ठीक हो जएगा।”

वाहर से एक सेवक ने प्रवेश करके कहा, “प्रभु! महाराज शतानीक का पत्र लेकर एक घुड़सवार आया है।”

“ले आओ।” सुनकर वह चला गया। पत्रवाहक ने मुझे प्रणाम किया और पत्र दे दिया। कपड़े का पूर्लिदा खोलकर मैंने पढ़ा। सारांश यह था कि महाराज शतानीक राज्य में इस अन्याय को देख बहुत विसुद्ध हुए हैं और वह भी अपने जामाता और पुत्री के हाथों। स्त्री को बालक लौटाया जाए और वन्दियों को छोड़ दिया जाए और उस व्यभिचारिणी स्त्री को, जिसके पीछे इतना काढ़ हुआ है, उचित दण्ड दिया जाए। और भी बातें थीं कि ऐसी तो उन्हें आशा न थी इत्यादि। और यदि आज्ञा का, पारिवारिक सम्बन्धों का अनुचित नाम उठाकर, तुरन्त उचित पालन नहीं किया गया तो महाराज शतानीक स्वयं ही, जामाता और पुत्री, दोनों को न केवल महाराज होने के नाते दण्ड देंगे, बल्कि ससुर और पिता होने के नाते भी। सब बन्दी साथ लेकर कोसांधी में उपस्थित हुआ जाए।

मुझे कुछ बुरा भी लगा, परन्तु महाराज की कर्तव्यनिष्टा, मुझ तक ही नहीं, पुत्री तक थी; इससे अपमान-सा नहीं लगा। मैंने कहा, “उत्तर संचया तक पहुंच जाएगा, तुम जा सकते हो!”

पत्रवाहक प्रणाम करके चला गया। मैंने पत्र नील को दे दिया। उसे पढ़ा तो चेहरा सफेद पड़ गया।

बोला, “अब!”

“मैं महाराज को समझा दूँगा।”

हम बातें समाप्त भी नहीं कर सके थे कि माप बाहर पोड़े गे उस।

दिलाई पड़ा । यह कैसे आया ! मैं सोचने लगा ।

मेवकों से पूछता वह सीधा मेरे पास आ गया ।

“इतनी जलदी कैसे आ गया माघ !”

“व्रभु ! आकृत आ रही है । महाराज शतानीक तक संवाद पहुंच गया है कि अवन्ति की सेना ने उनकी सीमा के पास बैशाली का सार्थ लूटा । वे अवन्ति के सैनिकों को दण्ड देना चाहते हैं । मैंने सुना है अवन्ति की और भी सेना आ रही है । इस समय दण्ड से आहुति पड़ जाएगी और होगा युद्ध । और युद्ध होने पर पता चलेगा महाराज को कि वत्स से गुप्तचर गए थे अवन्ति में । तब भण्डा पूट जाएगा ।”

मैं गहरे सोच में पड़ गया ।

आगे जो हुआ उसे मैं भाग्य का ही खेल समझता हूं, वह मेरा क्या था ?

माघ को भेजा कि अवन्ति से आनेवाली सेना की टुकड़ी का वह वत्स सैन्य द्वारा स्वागत कराए । इसके लिए सीमा के सेनानायक को अपनी मुद्रांकित आज्ञा दी । और नील के द्वारा महाराज का ध्यान इधर से बंटाने को उनसे कहनवाया कि जामाता धमकी से नहीं डरते । वे न्याय-पथ पर हैं । महाराज का फोध भड़केगा इसलिए जम्बूक को भेजकर चुपचाप राजपुरोहित से कहल-यापा कि याप महाराज को रोकिए । यह जामाता का पारिवारिक मामला है । गप स्वयं जांच करिए । जो हो, इस कोसांधी और धनपुर की सनसनी और हत्यनल में महाराज शतानीक को मैंने कोशल से इतना समय ही नहीं मिलने दिया कि वे अवन्ति के सैनिकों को दण्ड दे पाते । सीमा पर अवन्ति की नई गेना दा स्वागत हुआ । अवन्ति की सेना का नापक मेरे पास लाया गया । मैंने उसे ठहराया । मुझे वह पहचान गया । मिलकर बहुत प्रसन्न हुआ । वृद्ध राज-पुरोहित ने महाराज शतानीक को रोक दिया । जांच करने स्वयं आए । मैंने धमनी बात यताई । भवसे मैंने और बोले, “ठीक है । धनदेव को तो तंग उत्तरा उचित है । उसीने परिवार-भर को खलाया है, पर उन भाभियों ने वजा दियाएँ है...”

“यहो तो मैं मरी जाती थी सोच-नोचकर !” मां ने कहा ।

राजपुरोहित थोले, “तो जामाता ! मैं निमन्वण भिजवाता हूं कोसांधी राजर । मध्यस्त्रो खेल लाना । वहां प्राह्लाद में तुम सब भीतर पहुंचो, तुम्हारी

भाभियां वहीं भेजी जाएंगी। धनदेव को तुम जानो। महाराज को मैं सभा दूंगा।"

संध्या के समय तक हम सब चल पड़े। दूसरे ही दिन कोसांवी की राजसभा में खचाखच भीड़ हो गई। मैंने ऐसे बहुमूल्य वस्त्र, और किरीट पहना कि शांत चौंथ जाती थीं। सभा में महाराज को प्रणाम किया और कहा, "देव! अपराध क्षमा हो। वादी को बुलवा लें।"

आया धनदेव! किरीट से लटकती मणिमालाओं ने मेरा मुंह कनपटी पर ढंक-सा रखा था। धनदेव मुझे नहीं पहचान पाया। मैंने कहा, "देव! मेरा अपराध!"

धनदेव दूर खड़ा था कुट्टिम पर। बोला, "न्याय दें महाराज! यहीं यह व्यक्ति है जिसने मेरे पिता, माता, भाइयों और भतीजे को बंदी किया है योंकि वे उस स्त्री को छुड़ाने गए थे, जिसे इसने पकड़ लिया था और जो..."

मैंने ऊंचे स्वर से कहा, "तुम्हारी कौन थी वह स्त्री!"

धनदेव अचकचा गया। उसने कहा, "वह हमारे साथ काम करती थी। वह दासी नहीं थी। यदि केवल रक्त-सम्बन्ध की बात की जाए तो शायद घर्म और न्याय ही उठ जाए।"

मैंने कहा : "महाराज! यह भूठ बोलता है। इसके साथ श्रीर भी कोई है?"

धनदेव ने कहा, "मेरी भाभी हैं, पत्नी है और मेरे छोटे भाई की वूँ है देव!"

मैंने कहा, "बुलवाएं देव! और उन्हें अपने संरक्षण में भेजें। राजपुरोहित के हाथ मैंने अपना सारा परिवार दे दिया है। इस समय मैं स्वामी नहीं, राजपुरोहित स्वामी हैं। आप परीक्षा लें महाराज! यदि इस वादी के गाय पी स्त्रियां मेरे परिवार को देखकर कह दें कि मैंने कहीं बल-प्रयोग किया है या श्रनौचित्य, तो मैं प्राणदण्ड का प्रार्थी हूँ।"

महाराज शतानीक ने कहा, "क्या कहते हो वत्स?"

मैं कृत्रिम बनता गया। मैंने बिखरकर कहा, "न्याय दें महाराज! मैं श्रादमी मुझे झगड़ालू लगता है। उन स्त्रियों को बुलवाइए।"

सीखे-सिखाए राजपुरोहित ने तीनों भाभियों को भीतर पहुँचा दिया। पौर कुछ ही देर में आकर कहा, "देव! उनमें सुभामा श्रीर ग्रन्तका नामक तिरनं

तो वाकी सबसे मिलकर बड़ी प्रसन्न हुईं। एक सुमुखी है जो बड़ी प्रसन्न है, परन्तु बड़े सोच में पड़ी-सी रोती है, पर लज्जित-सी मुस्कराती है, और कहती है—जो हो ! मैं ठिकाने तो आ गई, परन्तु पति ही मेरे सब कुछ हैं। क्या कहूँ ! किधर जाऊँ !”

“सुन लिया महाराज !” मैंने स्वर उठाकर कहा।

महाराज ने वादी से कहा, “और कुछ कहता चाहते हो !”

धनदेव समझ नहीं सका। स्तव्य खड़ा रहा। फिर उसने हाथ उठाकर कहा, “देव ! आज मैंने सीखा कि जब तक मैं पाप में लगा रहा, तब तक मैं गुणी था। जब मैं स्त्री की मर्यादा, परिवार के लिए न्याय और नागरिक के आत्मसम्मान के लिए उठ खड़ा हुआ, मैं आज अकेला हूँ। मेरी स्त्री भी बिक गई लगती है। देव ! मैंने राज-जामाता पर भूता दोष लगाया है। मुझे दण्ड मिलना चाहिए।”

वह घुटनों के बल बैठ गया और हाथ उसने आगे रख लिए घुटनों पर।

मैंने विश्वोभ और समर्पण देखा। भाग्य से समर्पण। धर्म पर विश्वोभ।

मैंने कहा, “देव ! यह मेरा अपराधी है। मुझे दिया जाए।”

महाराज शतानीरु कुछ भी नहीं समझे थे। बोले, “वादी ! क्या यह रुक है ?”

वेदना में तड़पा करे। आर्य !” मैंने राजपुरोहित से कहा, “बन्शी बुनवाए जाएं।”
सभा चित्रलिखित-सी खड़ी थी।

बन्दी आ गए।

मैंने कहा, “वह स्त्री आए जिसके पीछे झगड़ा है।”

वहमूल्य वस्त्रों से सजी सुभद्रा आई। साथ में थी सौभाग्यमंजरी।

“स्वामिनी ! तुम भी !” धनदेव ने आश्चर्य से कहा और फिर सुभद्रा को देखकर मुंह फेर लिया अस्थन्त घृणा से।

मैंने कहा, “शेष बन्दी भी लाए जाएं।”

महाराज को नाटक-सा लग रहा था। सब आ गए। बालक ने धनदेव से कहा, “पितृ !”

यह पितृव्य का तोतला रूप था। धनदेव ने बालक का स्वर सुनकर थांसों में आँसू भरे हुए देखा तो सबपर हिट पड़ी; पिता पर भी, तब वह व्यंग से हसकर बोला, “श्रेष्ठि की जय ! आज आप मुझे कुछ उपदेश नहीं देंगे ?”

“आज वह देगा !” कहकर पिता ने मेरी ओर उंगली उठाई। सुमुखी थी हालत अजीब थी। डरी हुई कातर-सी शलग खड़ी रो रही थी।

मैंने कहा, “मैं दूंगा धनदेव ! मैं दूंगा !”

यह कहते हुए मैंने कहा, “महाराज ! चादी धनदेव का नाम आपने नहीं चताया, पर मैं जानता हूं। यह स्त्री जिसके पीछे झगड़ा हुआ है, राजगृह के श्रेष्ठ गोभद्र की दुहिता और श्रेष्ठ शालिभद्र की भगिनी है। यह मेरी पत्नी है। मैं इसे छोड़ आया था, इसकी परीक्षा लेने। तभी यहां मैं अज्ञात कुनौन रहा। मेरे लिए ही इस पतिक्रता ने यह श्रपार वैभव छोड़कर मिट्टी सोदी।”

सबमें प्रशंसा का भाव दौड़ गया।

मैंने किर कहा, “यह सुभद्रा मेरी पत्नी है, धर्मपत्नी। जैसे हैं प्राप्ती पुत्री सौभाग्यमंजरी। उस सुभद्रा को मिले हैं श्रपने श्वसुर धनसार श्रेष्ठि, सास, जेठ धनदत्त, जेठ धनचन्द्राधिप, भाभियां सुभामा, मुपुखी और श्रमण। एक भतीजा। फिर धनदेव को क्या आपत्ति है। आपत्ति है तो मुझे देंगे, मुझसे बदला लो धनदेव ! आओ ! मैं खड़ा हूं यहां !”

यह कह मैंने किरीट उतार दिया और तब मेरा मुख दिलाई दिया।

धनदेव चिल्लाया, “धनकुमार !”

वह दीड़कर मेरी ओर बढ़ा। वह शायद मेरे पांवों पर गिरना चाहता था, परन्तु मैंने उसे वक्ष से लगा लिया। जब तक हम अलग न हुए महाराज शतानीक देखते रहे। फिर वोले, “जामाता! तुम तो बड़े छलिया हो। स्वागत है तुम्हारे परिवार का। आज हम तुमसे बहुत प्रसन्न हैं। मांगो।”

मैंने झुककर कहा, “देव! जो मांगूंगा मिलेगा?”

“तुम्हे अदेय ही क्या है वत्स!”

“देव, मुझे वत्स की प्रजा का कल्याण दें। सभा भरी है। मुझे जीवन दें, मृत्यु नहीं।”

“हम समझे नहीं।” महाराज ने कहा।

मैंने कहा, “देव! महाराज तक खबर पहुंची है कि अवन्ति की सैन्य ने वैशाली का सार्थ लूटा है। देव ने इसीसे उस सैन्यगुल्म को पकड़ लिया है। देव! अवन्ति और वत्स मित्र-देश हैं। यह भगड़ा अवन्ति और वैशाली का है। वत्स इसमें दयों बोले! संवाद मिला है कि अवन्ति ने वैशाली पर अकाशण प्रहार नहीं किया। मगधराज विवसार के पुत्र अभयकुमार अवन्तिराज के बन्दी थे। अभयकुमार की माता अंवपाली वैशाली की हैं। इसलिए कहते हैं कि

बुरा तो नहीं माना, हमारे व्यवहार से ? हमने अनुचित तो कुछ नहीं किया ?

मैंने कहा, “देव ! आप क्या कहते हैं ! आप मेरे पिता जैसे हैं। मैं आपसे पांव पूजवाकर भी आपके चरणों की धूल हूँ ।”

ये धनदेव को लेकर मैं घर आ गया। उस आतन्द का क्या वर्णन कहने ! वाप-नेटे, पति-पत्नी, सास-बहू, सौत-सौत, जिठानी-देवरानी, भाई-भाई, पुग सबके वर्णन करने बैठे तो कोई कवि न जाने कितने इलोक बना डाले। किन्तु मुझमें वह सामर्थ्य कहाँ । अब मेरे संगीत में उल्लास फूट निकला। सुभद्रा ने कभी नहीं सुना था, सो चकित रह गई। वाकी सब जानते ही थे।

आज सोचता हूँ कि उस समय क्या अभाव था ? मन तृप्त था। वल्कि मुझे श्रव राजगृह लौटने की जल्दी थी। वहाँ कुसुमश्री, सोमधी थीं। मेरा पुत्र था। मेरी पुत्री थी। सोच ही रहा था कि वहाना मिल गया। राजाद्विवसार का पत्र आया—चले आओ।

मैं महाराज शतानीक के पास गया। निवेदन किया। वे बोले, “तुम्हारा हाराज विवसार से क्या सम्बन्ध है ?”

“देव ! मैं उनका जामाता हूँ ।”

“जमाता !” वे चौंककर बोले, “तुम तो पहेलियाँ बुझा रहे हो जामाता !”

मैंने सुनाया। परन्तु यह नहीं कहा कि वत्स देश में क्यों आया था। केवल, “सुभद्रा की परीक्षा लेने चला था, परन्तु भाग्य को यही स्वीकार था, यहाँ हो गया ।”

महाराज हंसे। कहा, “मेरा जामाता बड़ा खिलाड़ी है। इस नाते महाराज इसार हमारे संबंधी हुए, वल्कि भाई। क्योंकि तुम्हारी पत्नियाँ तो यहाँने न ? अच्छा। जाना चाहते हो अपने पुत्र और पुत्री को देखने ? तो प्रथम प्रो परन्तु धनपुर का क्या होगा ?”

मैंने विनीत उत्तर दिया, “देव ! मेरे पिता, भाई-भतीजा सब आपकी धरण हैं।”

महाराज मान गए। मैंने पिता से कहा।

वे बोले, “धन वत्स ! अब मैं आप तेरी माता तो चलैं ।”

“कहाँ पिता ? अभी नहीं। अभी मैं नहीं जाने दूँगा ।”

पिता राजा हुए। राज्य में प्रबन्धक हुए मेरे भाई, उत्तराधिकारी हुए। जा—धनराज ।

और मैं अपनी पत्नियों के साथ लौट चला। सीभाग्यमंजरी सुभद्रा को इतनी इज़ज़त से रखती कि मुझे देखकर आश्चर्य होता। सुभद्रा कहती, “भगिनी ! तुम इतना काम मत करो। तुम्हारे भीतर एक प्राण और है।”

काम तो था ही क्या ? सेवक-सेविकाओं की क्या कमी थी ! मेरा कार्य पूरा हो ही चुका था। इस सुख की समृद्धि को देखकर मुझे डर लगने लगा। किन्तु यह आशंका मुझमें क्यों थी, यह मैं नहीं जानता था। श्रव मेरा यश फैला हुआ था।

जब हम लक्ष्मीपुर पहुंचे वहां का राजा जितारि मेरे स्वागत को सीमा पर मिला। किन्तु जब हम लक्ष्मीपुर से चले तब मेरे साथ दो की जगह द्वयः पत्नियाँ थीं।

सुभद्रा कहती, “पुरुष का यश भी युरा। लोक ऐसा है कि जिसके अधिक पत्नियाँ नहीं, उसका गौरव कम माना जाता है। ऐसे में हम करें भी क्या ? यही घब्ढा है कि मिल-जुलकर रहें। गीतकला, सरस्वती, लक्ष्मी, गुणवंती ! वर्ग स्वामी श्रव नहीं। एक पक्ष में चार पड़ेंगी ! और स्वामी ! श्रव और ठीक नहीं है।”

बुरा तो नहीं माना, हमारे व्यवहार से ? हमने अनुचित तो कुछ नहीं किया ?”

मैंने कहा, “देव ! आप क्या कहते हैं ? आप मेरे पिता जैसे हैं। मैं आपसे पांच पुजवाकर भी आपके चरणों की धूल हूँ ।”

यों धनदेव को लेकर मैं घर आ गया। उस श्रान्ति का क्यां वर्णन करें ! बाप-बेटे, पति-पत्नी, सास-बहू, सौत-सौत, जिठानी-देवरानी, भाई-भाई, पुत्र सबके वर्णन करने बैठे तो कोई कवि न जाने कितने इलोक बना डाले । किंतु मुझमें वह सामर्थ्य कहां । अब मेरे संगीत में उल्जास कूट निकला । सुभद्रा ने कभी नहीं सुना था, सो चकित रह गई । वाकी सब जानते ही थे ।

आज सोचता हूँ कि उस समय क्या अभाव था ? मन तृप्त था । वल्कि¹ मुझे अब राजगृह लौटने की जल्दी थी । वहां कुसुमश्री, सोमश्री थीं । मेरा पुत्र था । मेरी पुत्री थी । सोच ही रहा था कि बहाना मिल गया । समाद् विवसार का पत्र आया—चले आओ ।

मैं महाराज शतानीक के पास गया । निवेदन किया । वे बोले, “तुम्हारा महाराज विवसार से क्या सम्बन्ध है ?”

“देव ! मैं उनका जामाता हूँ ।”

“जमाता !” वे चौंककर बोले, “तुम तो पहेलियां बुझा रहे हो जामाता !”

मैंने सुनाया । परन्तु यह नहीं कहा कि वत्स देश में क्यों आया था । केवल, कहा, “सुभद्रा की परीक्षा लेने चला था, परन्तु भाग्य को यही स्वीकार था, जो यहां हो गया ।”

महाराज हंसे । कहा, “मेरा जामाता बड़ा खिलाड़ी है । इस नाते महाराज विवसार हमारे संवंधी हुए, वल्कि भाई । क्योंकि तुम्हारी पत्नियां तो वहाँ हुई त ? अच्छा । जाना चाहते हो अपने पुत्र और पुत्री को देखने ? तो परन्तु जाओ परन्तु घनपुर का क्या होगा ?”

मैंने विनीत उत्तर दिया, “देव ! मेरे पिता, भाई-भतीजा सब आपकी शरण है ।”

महाराज मान गए । मैंने पिता से कहा ।

वे बोले, “धन वत्स ! अब मैं और तेरी माता तो चलें ।”

“कहां पिता ? अभी नहीं । अभी मैं नहीं जाने दूँगा ।”

पिता राजा हुए । राज्य में प्रवन्धक हुए मेरे भाई, उत्तराधिकारी भट्टीजा—धनराज ।

ओर मैं अपनी पत्नियों के साथ लौट चला। सौभाग्यमंजरी सुभद्रा को इतनी इच्छत से रखती कि मुझे देखकर आश्चर्य होता। सुभद्रा कहती, “भगिनी! तुम इतना काम मत करो। तुम्हारे भीतर एक प्राण और है।”

काम तो या ही क्या? सेवक-सेविकाओं की क्या कमी थी! मेरा कार्य पूरा हो ही चुका था। इस सुख की समृद्धि को देखकर मुझे डर लगने लगा। किन्तु यह आशंका मुझमें क्यों थी, यह मैं नहीं जानता था। अब मेरा यश फैला हुआ था।

जब हम लक्ष्मीपुर पहुँचे वहां का राजा जितारि मेरे स्वागत को सीमा पर मिला। किन्तु जब हम लक्ष्मीपुर से चले तब मेरे साथ दो की जगह छः पत्नियां थीं।

सुभद्रा कहती, “पुरुष का यश भी बुरा। लोक ऐसा है कि जिसके अधिक पत्नियां नहीं, उसका गौरव कम माना जाता है। ऐसे मैं हम करें भी क्या? यही अच्छा है कि मिल-जुलकर रहें। गीतकला, सरस्वती, लक्ष्मी, गुणवंती! वह स्वामी अब नहीं। एक पक्ष में चार पड़ेंगी! और स्वामी! अब और ठीक नहीं है।”

मैंने घेड़ा, “और अपने भाई शालिभद्र की भी तो कहो जो मास में, प्रतिदिन एक के बाद भी, दो को फिर भी बाकी पाता है!”

“प्रेरे स्वामी! भाई है तो क्या, है तो तुम्हारी ही जाति का? स्त्री का पया है। स्त्री होती ही मूर्ख है! मैं ही कौन कम हूँ?”

वह हँसती और हम सब हँसते। सचमुच, कैसे अजीब ये ये विवाह!

युद्ध भी नहीं। हम सब बैठे थे। राजा जितारि ने अपनी पुत्री गीतकला से गाने को कहा, केवल मनोरंजन के लिए। जितारि के मंत्री शंकुक की पुत्री सरस्वती भी वहीं उपस्थित थी।

फिर जितारि ने मुझसे कहा, “यह मेरी पुत्री है। यह है सरस्वती। दोनों एक प्राण दो देह हैं। सरस्वती की प्रतिज्ञा है कि वह उसी व्यवित से विवाह करेगी जो इसकी सगी गीतकला का पति होगा।”

मैंने हँसार कहा, “वड़ी विचित्र प्रतिज्ञा है।”

“प्रतिज्ञा की न कहें प्रायं! बालहठ का बदा ठिकाना! हमारी गीतकला

ऐसा गाती है, ऐसा गाती है कि उसका-सा गानेवाला आज तक कोई नहीं हुआ।"

"शायद ऐसा ही हो!"

"हो नहीं आर्य! स्त्री के विषय में तो गीतकला मान लेती है कि शायद ऐसा कोई स्त्री भले ही गा ले। परन्तु पुरुषों के विषय में तो यह कहती है कि ऐसा कोई गा ही नहीं सकता!"

मुझे कचोट हुई। कहा, "राजन् आप भी ऐसा स्वीकार करते हैं! जब मैं कोसांबी में यमुना-तीर पर था मैंने एक पुरुष का गाना सुना था। मैं आपसे क्या कहूँ! वैसा मैंने शायद कभी सुना ही नहीं।"

"सुना ही नहीं।" राजा बोले, "यही तो मेरे साथ दुख है। एक बार यदि मैं सुन लेता तो क्या गीतकला की बात सुन सकता था! गत वर्ष उज्जयिनी में एक विराट उत्सव हुआ था। आप तो जानते हैं महाराज चण्डप्रद्योत महारोत की पट्टमहिषी ग्रंगारवती की एक ही कन्या थी—वासवदत्ता, जिसके कारण उनकी अन्य सोलह रानियों को अपने-अपने पुत्र के विषय में शज्वरिहासन की बड़ी प्राप्ति थी। उस श्राशा पर तुषारपात करके पट्टमहिषी ने एक पुत्र को जन्म दे दिया। पुत्र का नाम रखा गया—गोपालक। उसीके नामकरण-संस्कार के दिन मैं एक गायक गया था वहाँ, जिसकी बड़ी भारी प्रशंसा हुई थी। वही गायक महारोत भी आया था एक महीने पहले। परन्तु गीतकला ने योंही हरा दिया, पोंही!"

राजा ने चुटकी बजाई।

मुझे कौतूहल हुआ।

"तब तो अवश्य ही सुनकर आभारी होऊंगा।" मैंने कहा।

गीतकला मुझे देख रही थी। सरस्वती ने चिकोटी काटी उसके हाथ पर और राजकन्या चिहुंक उठी।

सरस्वती ने मुस्कराकर कहा, "प्रतिशा वैसे ही भंग मत कर सकी। तो सही!"

राजकन्या का मुख लाल हो गया, किन्तु सुभद्रा ने मुझे तीसी पांचों से देखा। मैं नहीं समझा।

गीतकला गाने लगी।

सचमुच उसका कंठ वहृत ही मीठा था। उससे वातावरण ऐसा ही रहा।

जैसे हम किसी बड़ी पवित्रता में निमज्जित हो गए थे। चांदनी रात एक विशाल श्वेत कमल-सी खिली हुई थी। उसका संगीत एक भ्रमर की मधुर गुंजार-सा गूंजता चला गया।

जब उसका गीत थम गया। मैंने कहा, "आर्य ! निस्सदेह आप धन्य हैं, आपकी पुरी धन्य हैं, जो ऐसे स्वर्गिक संगीत को आपने पाया है। अहाहा ! जीवन एक बोझ है आर्य ! यदि मनुष्य के पास श्रपने-आपको भ्रुलाए रखने का साधन नहीं है। कवि होते हैं कुछ लोग ! वे क्या धन-वैभव की चिन्ता करते हैं ? सच्चा संगीतज्ञ कभी प्रतिस्पर्धा में नहीं लगता। राजकन्ये ! सर्पधा की दृणों में मत लगी रहो। संगीत की साधना करो, श्रपने अन्तःकरण को निर्मल बनाने के लिए। राज्य, धन, वैभव, मर्यादा, यश, ये सब हैं मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों के द्वारा जाने जानेवाले कार्य। इनको एक-दूसरे की इच्छा होती है। इन सबको व्यक्ति श्रपने अहंकार को तुष्ट करने के लिए श्रपनाता है। किन्तु संगीतज्ञ, कवि, और चित्रकार अहं को तुष्ट नहीं करते, वे अहं को उदात्त करके व्यापक बनाते हैं। उन्हें गवं नहीं होना चाहिए। संगीत में स्त्री-पुरुष का छन्द वयों ?"

मुमद्रा ने मेरी ओर देखकर कहा, "संगीत आपको बहुत प्रिय है न ? श्वामी ! राजकन्या का गीत सुनकर मुझे बड़ा धानन्द हुआ है। परन्तु स्वामी ! आपने जो उस दिन गया था न, वह मैं नहीं भूल पाती। इसलिए नहीं कहती कि आप मेरे स्वामी हैं। एक बार गाकर सुनाइए न ?"

"हाँ, हाँ, प्रथम !" जितारि ने बीणा मेरी ओर सरकाई।

मैंने संकोच से कहा, "पर मैं प्रतिद्वन्द्विता नहीं चाहता राजन् ! मुझे कोई ऐसा प्रम्याम नहीं है।"

मुमद्रा ने सोभाग्यमंजरी की ओर देखा, जिसने मुस्कराकर कहा, "स्वामी ! आप जीतने को बजाएं, यह कौन कहता है ? यह तो मन बहलाने की बात है। हार-जीत की बया बात है ! गाना क्या सब जानते हैं ? मुझे ही लीजिए ! सुनने की बहुत प्रच्छा लगता है, परन्तु कंसे गाते हैं, यह मैं इतनी शिक्षा के बाद भी सीत ही न सकी।"

मैंने उत्तर दिया, "संगीत समझने की क्या आवश्यकता है देवी ! वह तो नाड़ की अनुभूति है। उसके लिए मन चाहिए।"

सरस्वती ने गीतकला की ओर देखकर मुझसे लड़खड़ाते स्वर में कहा,
“गाएं श्रार्य !”

गीतकला ने एक बार मेरी दोनों पत्नियों को देखा और फिर घृटनों पर हाथ टिकाकर उसपर मुख रखकर श्रांत्ये झुका लीं। जितारि राजा ने कहा,
“सरस्वती ! मृदंग तू ले ।”

श्रामात्य शंकुक ने रहस्य-भरे नयनों से अपने राजा को देखा और कहा,
“राजन् ! सब कुछ देव के हाथ है ।”

मैं नहीं समझा । गीतकला चुप बैठी रहीं। सुभद्रा ने मुस्कराकर कहा,
“शारम्भ करें देव ! आपको मेरी सौगंध है, जो मन लगाकर न गया। मैं राज
कन्या को पराजित करने को नहीं कहती । देखिए, उपवन में यह मृग और मृगियाँ
विचरण कर रही हैं, इस कलधौत चन्द्रिका में सारी सृष्टि एक स्वप्न-सोक में
हूँची हुई है । ऐसे में वह नाद छेड़िए कि ये मृग विभोर हो जाएं । स्वामी !
आप ही तो कहते थे कि नाद में असीम शक्ति होती है । सौंदर्य जब प्रस्तु हो
जाता है तब यह नाद बन जाता है ।”

वेह रात । वह चांदनी । मखमल के गढ़े । रेशमी बहुमूल्य वस्त्र ! कलाका
पर पड़ती चांदनी की चमक ! सुगन्धियों से गमकता श्वेत पाताण का स्तिष्य
चंचूतरा । सामने चांदनी में कभी-कभी झूम जाते कुसुमों से लदे वृद्ध । कीर्ति
कहता है कि लोक में दुःख है, दारिद्र्य है, रोग है । यह तो एक कलाना थी
सृष्टि थी ! सम्मोहन ही इसका सौंदर्य था । प्रकोष्ठ के खुले हार में से, दरिया
समुद्र और महोदयि (बंगाल की खाड़ी) की सीपियाँ धीवारों पर जड़ी हुईं
दीपालोक में चमक रही थीं । और रत्नाकर (शरव सागर) की मरियों में
दीपक का आधार जटित था ।

मैं गाने लगा । और गाते-गाते सब कुछ भ्रूल गया । दुःख में भी मैंने गाय
था । गाया था अपने मन को बहलाने को, कभी दूसरों को सुनाने को नहीं । मैंने
मेरे जीवन का ऐसा अकेला साथी था, जिसने मेरे जीवन के भवसाद में हुए
एक सार्थकता का संतोष दिखाया था । मैं कि धनकुमार, जो क्या था, यों
क्या हो गया था, इस परिस्थिति-चक्र में धूमते हुए, उत्थान और पतन में यों
विकल प्राणी—का एक ही सौंदर्य था, वह था संतीत ! आज मेरे पास दो मरियों
मंजरी का स्नेह था समर्पण-भरा, आज मेरे पास सुभद्रा का स्नेह था सार्थक-

प्राज मुझे पास से याद आ रही थी कुमुखी की वह तृप्ति कि स्वामी की सामर्थ्य ग्रापार है, और मेरे भीतर तक गूंज रही थी सोमश्री की वह सांस—वह सांस जो एक दिन पुंस्कोकिल की श्रनावृत पुकार में भोर की कली की तरह कांप उठी थी। अब मुझे लग रहा था कि मैं दुःखी नहीं था। साक्षात् आनन्द था। इतने दिन मैंने त्याग, वैभव से घृणा और प्रज्वलित वेदना में विताए थे। वह मेरी भूल थी। भूल थी मेरी। मैं अब अच्छा हूं। अब जबकि प्राप्ति का स्वामी हूं। संघर्षों की उच्चावस्था ने मुझे विजय दी है। क्या मैं हार गया हूं? मेरी हार वह कहां है? श्रो मेरे संगीत! यह सब कुछ शो हो, है दुःखद ही। और तब मैं उसमें फ़ूब गया। फ़ूब गया।

गीत जब रुका, जितारि चौंके। शंकुक भी।

सुभद्रा ने कहा, "अरे!"

सौभाग्यमंजरी हँस दी। हरिण स्तब्ध खड़े थे। अब वे भी हिल उठे। सरस्वती ने उठकर मुझे प्रणाम किया, घुटने मोड़कर, अपने माथे को अपनी ग्रंजलि पर धरती पर टिकाकर, उसपर समर्पित करके। परन्तु गीतकला चुप बैठी रही।

जितारि ने कहा, "दुहिते! श्रो मेरी राजदुलारी! क्या हुआ तुझे! तू जी सदा ही हँसती थी दूसरों को गाते देखकर! क्या अब तू अपने निस्संतान पिता को छोड़ जाएगी हड़ीली!"

यह भर्या स्वर; गीतकला की नींद फूट गई। श्रांखों में श्रांसू आ गए। कहा, "पिता……"

फिर लाज से मुंह छिपा लिया।

मैंने कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया।

सुभद्रा ने देखा, "राजकन्ये! गीत हचा?"

गीतकला ने उठकर सुभद्रा और सौभाग्यमंजरी के पांच छुए और एक बार भेरी और कन्धियों से देसकर लड़ी हो गई; फिर देखा पिता को, जो सरस्वती को देखकर हँस उठे। सरस्वती का मुख एकदम आरक्ष हो उठा। और दोनों भीतर भाग गई।

सौभाग्यमंजरी ने मुरक्कराकर कहा, "स्वामी! राजकन्या अप्रसन्न हो गई वहा?"

“होगी ही !” राजा ने कहा, “आपके स्वामी ने क्या कम आपत्ति खड़ी की है ! किस पुत्री को अपने पिता से बिछूड़ते हुए दुख नहीं होता !”

“आह !” श्रमात्य ने लम्बी सांस खींची। मानो राजा ने उनके मुँह से बात छीन ली हो !

वह चांदनी मुझमें भर गई थी। मैंने कहा, “आज की रात कितनी सुहावनी है ! यह प्रकृति कितनी सुन्दर है ! सब कुछ कलह है, भूठा है। यह प्रासाद मुझे अच्छा लगा है राजन् !” और मैंने सुभद्रा से कहा, “देवी ! क्यों न हम भी ऐसा ही एक स्थान एकान्त में बनवाएं और वहीं रहें। शांत ! न यश की वृष्णा, न वैभव का दास्तव !”

सुभद्रा ने कहा, “ऐसा स्वप्न मैं न जाने कितनी बार देखती हूँ। मेरे भयंकर शालिभद्र कहा करते थे मुझसे, ‘सुभद्रा ! मैं कहीं दूर चला जाना चाहता हूँ, जहाँ हम सब हों। शांति हो ! न श्रहंकार हो, न धृणा !’”

सौभाग्यमंजरी ने कहा, “बहिन ! ऐसी ही ज्योत्स्नामयी विभावरी में प्रह्लादपने आनन्द को प्रगट करता है !”

‘सुभद्रा’ को जैसे तृप्ति नहीं हुई। कहा, “जब वीतराग जिनेन्द्र का गम-वशरण होता है, तब इससे भी अच्छी रात होती है।”

दोनों ने एक-दूसरी को आँखों में तोला। जीवन के दो दृष्टिकोण। परंपरा मैंने कहा, “नहीं। सबसे परे है शांति। क्यों राजन् ! आप क्या सोचते हैं ?”

राजा जितारि अपने ध्यान में गमन थे। श्रमात्य उठकर चले गए थे।

“राजकन्या कहां गई ?” सुभद्रा ने पूछा, “उनके बिना तो सभा ही गूरी हो गई !”

“श्रेष्ठकुल की स्त्रियों से ऐसी ही आशा होती है !” राजा ने कहा, ‘पर मेरी चिन्ता दूर हो गई। इस लोक में यह जो विवाह होता है यह पहले तो दैर के हाथों निश्चित रहता है। अन्यथा अनजाने स्त्री-पुरुष वर्षों मिलते हैं। सौर स्त्री ! कैसे वह अपने को समर्पित कर देती है ! उसके उल्लास में इतना बन होता है कि वह माता-पिता के बिद्योह की वेदना को भी भूल जाती है। परमपूर्ण कन्या पराया धन ही होती है।”

राजा का स्वर उच्छ्वसित हो उठा।

सुभद्रा ने प्रसन्न होकर कहा, “राजन् ! आप मेरे पिता-तुल्य हैं। आपने जो कहा वह प्रशंसनीय है। स्त्री की वेदना स्त्री ही जानती है। सच, विधाता ने स्त्री को विचित्र बनाया है। उसके नयनों में आंसू और अधरों पर मुस्कान देकर भाग्य उसे सदैव लेल खिलाता रहता है।”

मैंने सुभद्रा को इतना गम्भीर नहीं जाना था। प्रकोष्ठ में से निकली गीतकला, पीछे सरस्वती, पीछे श्रमात्य। दीनों के हाथों में सुन्दर मालाएँ—वरमाला।

आई। मंथर गति से। आंखों में आंसू ! होंठों पर मुस्कान और मेरे गले ५ ढाल दीं।

मैं श्रवाक् रह गया। सुभद्रा और सौभाग्यमंजरी भी।

“राजन् !” मैंने अचकचाकर कहा।

किन्तु वृद्ध जितारि ने मेरे हाथ पकड़कर कहा, “आर्य ! यह मेरे जीवन की साधना का प्रश्न है। गीतकला की प्रतिज्ञा थी कि जो उसे संगीत में हरा देगा, वह उसकी ही पत्नी बनेगी, चाहे वह कैसा भी हो, क्योंकि कला ही उसकी जीवन की एकमात्र साधना है। और उसे कोई चाहना नहीं। और...”

श्रमात्य ने कहा, “यह मेरी सरस्वती की प्रतिज्ञा थी कि गीतकला सदैव उसकी स्वामिनी रहेगी, इसीलिए उसकी सेवा करने को वह भी उसीको पत्र मानेगी, जो गीतकला का पति होगा।”

मैंने कहा, “किन्तु राजन् ! मेरे पत्नियां हैं, यहीं दो नहीं, दो और हैं...”

जितारि हतप्रभ हो गए। मेरे हाथ छोड़कर सुभद्रा से हाथ जोड़कर कहा, “देवी मेरी बेटी का जीवन नष्ट हो जाएगा !”

गीतकला और सरस्वती ने सिर झुका लिए। गीतकला ने कहा “जाने दें, पिता ! मेरा स्वन्न पूर्ण हुआ। कष्ट न दें। सप्तनी का दुःख कौन नहीं जानती, कौन चाहती है उसे ? पर मेरा विवाह हो गया। अब मुझे क्या श्रावश्यकता है। मैं और मेरी ससी, मृत्यु की सुहागिन दन गई है ! आपके रोकने पर भी मैंने हठ लिया था न ? हठ तो दैव ने निभा दिया, परन्तु गुलजन की आज्ञा उल्लंघन करने या जो दण्ड दिया है, वह भी हम ही भेलेंगे !”

सरस्वती ने कहा, “ससी ! क्या हम दासी बनकर भी नहीं रह सकेंगी यद्यने वर के साथ ?”

मैं उत्तर नहीं दे पाया ।

जितारि देखते रहे सुभद्रा को । सुभद्रा देखती रही । फिर उसने उठकर कहा, “मैंने कहा था राजन् ! आप मेरे पिता-तुल्य हैं ! कहा था न ? तब ये मेरी बहिनें हुईं और भगिनी-पति तो पति सहशं ही होता है !”

सौभाग्यमंजरी अब आश्चर्य से वाहर निकली । कहा, ‘स्वागत है ! आपे राजकन्ये ! आओ अमात्य कन्ये !’ फिर हंसकर कहा, “स्त्री का हृदय वहन संकुचित होता है न ? इसीलिए उसे दैव इतना विशाल बनाने का उपदेश दिया करता है !”

यह भी कोई बात हुई । मैं जैसे कुछ था ही नहीं । एक राजकन्या ने प्रतिज्ञा की है, एक अमात्यकन्या ने ! कोई मुझसे कुछ पूछ रहा है कि मैं प्या सोच रहा हूँ ?

सौभाग्यमंजरी शायद मेरे भाव समझ गई । उसने गीतकला को अपने पास बिठाकर कहा, “कैसी सुन्दर है !”

गीतकला भुक्ती बैठी रही ।

और मैं ! वह चांदनी जहां-कहां चली गई थी । अब मुझे वह प्रान्त नहीं मिल रहा था । किन्तु क्या इस प्रकार मुझे इनका अपमान करना उचित है ? मेरी किकर्तव्यविमूढावस्था को देखकर सुभद्रा ने मुझसे कहा, “स्वामी ! संगीत आपका जीवन है, और हममें से कोई भी उसे आपको नहीं दे सकी । यह विवाह और स्त्री का प्रश्न नहीं । यह है नारी के गीरव का प्रश्न । आप तो गाते हैं और राजकाज में लगे रहते हैं । हमें भी कोई मन बहलाने की चाहिए न ?”

मैं नहीं समझ पाया कि यह व्यंग्य था, या सत्य ।

सौभाग्यमंजरी ने कहा, “स्त्री प्रेम देने को जन्म लेती है, और पृथग पांडे को । उसे देना ही क्या है जो आप डरते हैं !”

मुझे लगा कि मैं अब कुछ नहीं था । जितारि अपने हाथ जोड़े देय थे, थे । मैंने सबकी और देखा और हठात् न जाने मेरे भीतर से कौन हंसकर रह उठा, “मैं धन्य हुआ राजन् ! मुझे स्वीकृत है !”

देखा कनखियों से सुभद्रा को, सौभाग्यमंजरी को । या वे सचमुच ही :

थीं ? थीं, तो मैं मानता ही हूँ । नहीं है, तो अपने बोए को काटें । पुरुष हूँ मैं । मेरा क्या ? लोक यही करता है । और ये दो स्त्रियां ! इनसे मुझे प्रेम करना होगा अब ! कितना विचित्र था यह विचार ! किया ही तो है मैंने चार-चार से ! अब ही यह कैसी रुकावट है मुझमें ? तब मुझे लगा कि मैं एक पात्र था । जब तक खाली रहा तब तक उसे भरता रहा, भरता रहा । परन्तु स्रोत नहीं रुका । पात्र भर गया और तब रस बाहर फैलने लगा । भीरत भरा था, भीतर गीला था । अब बाहर गीला तो हो गया, परन्तु अब रस मुझमें रुक नहीं सकता था । उसका बहना ही अब अनिवार्य था ।

और विवाह हुआ । प्रजा ने मंगल गया । सबने मेरी प्रशंसा की । सुभद्रा और सीधायमंजरी भी हँसीं । मुझे दो नये तन मिले, किन्तु मैंने अनुभव किया कि उनमें भी प्राण थे । तब मुझे लगा कि मेरी तृष्णा अभी और थी, अभी और थी... वह और क्या थी... सुभद्रा और सीधायमंजरी से कचोट, या अपनी स्ववृत्ति के अहं का प्रसार... या नयी प्यास... और नयी प्यास... जो कहती थी कि यह सब कुछ नहीं है... यह एक विराट क्षेत्र है ।...

परन्तु वे नील नयन, वे गन्धित चिदुक, वे मांसल तन, वह वैभव... अब मेरे बन्धन खुल गए ।

राजा जितारि के आग्रह से मुझे लक्ष्मीपुर में रुकना ही पड़ा । योंही उपवन में घूमता हुआ सोच रहा था कि यह क्या हुआ ? क्या मैं वही धनकुमार हूँ जो एक दिन पुरपड्ठान को छोड़ आया था ! और ग्रचानक मुझे पज्जा अम्मा की याद हो आई । वह क्या कहती मेरे इतने विवाहों को देखकर । मेरे विता और भाईयों ने तो ऐसा नहीं किया । किन्तु उनके पास इतना वैभव भी कहां पा ! तो प्यास विवाह वैभव से होता है ? दरिद्र भी तो कई-कई विवाह करते हैं ! यह तो लोकधर्म है । जाने क्यों मुझे लगा कि मैं अपने-आपसे भूठ कह रहा था । मेरा प्रेम कहां था ! वैभव आया था मेरे सामने और मैंने उसे ढुकरा दिया था । वह बार-बार ढुकराया हुआ भी मेरे पास लौट-लौट आया । किन्तु वैभव मुझसे बोलता नहीं था । मुझपर शासन करना चाहता था । परन्तु स्त्री ! क्या वह भी निर्जीव है ! वह शासन नहीं करती, समर्पण करती है ! मेरा सिर किर भारी हो गया ।

दूसरे दिन मैं राजा जितारि के साथ उनकी सभा में चला गया । आज

एक विचित्र मामला आया था। श्रावक पत्रामलक लक्ष्मीपुर का एक श्रेष्ठि था। उसके मरने पर उसके पुत्रों में सम्पत्ति के बंटवारे के पीछे झगड़ा हो गया। मरते समय पत्रामलक ने अपने चारों पुत्रों—राम, काम, श्याम और गुणधाम को बुलाकर मिले रहने की सलाह दी, और कहा कि यदि तुम मिलकर न रह सको तो इसी भवन के चारों भागों में रहने लगना। ऐसा ही बनवाया है मैंने यह भवन। मेरे प्रकोष्ठ के चारों कोनों में मैंने तुम्हारे हिस्से का धन अलग-अलग तुम्हारा नाम साथ लिखकर गाड़ रखा है। उसे निकालकर देख लेना। यही उसका अन्तिम आदेश था। इसीसे चारों जब साथ नहीं रह सके तो अपने-अपने मकान के भाग में वे सरक गए और गड़ी हुई वसीयतें निकालीं। परन्तु झगड़ा वहीं प्रारम्भ हुआ। सबसे छोटे गुणधाम के हण्डे में रत्न, मणि, सुवर्ण आदि दो करोड़ की सम्पत्ति निकली। लेकिन राम के हण्डे में घूल-मिट्टी; काम के में पशु की हड्डियां और श्याम के में भूर्जपत्र और रेशम के टुकड़े निकले। यह देखकर तीनों ने सिर पीट लिया और न्याय के लिए दौड़े आए; वयोंकि वे चाहते थे कि गुणधाम का धन चारों भागों में बांट दिया जाए, जिसे गुणधाम स्वीकार नहीं करता था। उनकी बहिन लक्ष्मी की इस लडाई से विचित्र परिस्थिति थी। उसकी बात कोई भी नहीं सुनता था और रो-रोकर उसने माँस सुजा ली थीं।

राजा जितारि ने जब सुन लिया तब लक्ष्मी ने हाथ जोड़कर कहा, “देव ! चारों कह चुके। यदि आज्ञा हो तो मैं भी कुछ निवेदन करूँ ।”

राजा ने माथे पर बल डालकर कहा, “कह दे पुत्री ! तू क्या कहती है ?” “महाराज ! इनके कलह से, व्यापार में, खेत में, धन्धे में तो विष है ही, घर भी श्मशान हो गया है। मुझे इनसे मुक्ति दिलाएं। गाता-पिताहीना मैं एक दीन कन्या हूँ। मेरा अब कोई नहीं। ये लोग आपस में एक-दूसरे का मूल पीने को तैयार हो रहे हैं। देव ! मुझे प्रासाद में दासी रख लें ।”

लक्ष्मी की यह बात सुनकर सबने उन भाइयों को घिकारा, परन्तु मैंने देखा कि वे अन्धे हो रहे थे। किसीने भी इस विषय का उत्तर नहीं दिया। राम ने कहा, “आर्य ! यदि पिता पक्षपात करे तो क्या राजा भी मर्माद करे ?”

राजा जितारि ने राज्य के धर्माधिकरण से न्यायाधीश को बुलवाकर पूछा।

ब्राह्मण ने सिर खुजाया और कहा, “देव ! यह पैतृक सम्पत्ति नहीं, श्रावक पत्रामलक की श्रृंजित संपत्ति थी । पत्रामलक तो पहले फेरी लगाता था । भार्गव ने उसे करोड़पति बना दिया । अपना उत्तराधिकार उसने स्वयं लिखा है । इसमें कोई रास्ता नहीं है ।”

राजा जितारि ने ऊपर देखा, किर नीचे, और तब कहा, “श्रच्छा तुम लोग बाहर प्रतीक्षा करो । हम अभी विचार करते हैं ।”

वे चारों चले गए, पीछे-पीछे, लक्षमी भी ।

मैंने कहा, “राजन् ! तो मुझे आज्ञा हो ।”

“कहा वत्स !” राजा ने कहा, “बैठो, बैठो, देखो ! कुछ देखते हो ?”

“क्या देव !”

“श्रव क्या किया जाए ! किन्तु मनुष्य चाहता है कि सब कुछ उसे ही मिल जाए ।”

“नहीं देव ! यह कार्य क्या कठिन है । जब पत्रामलक ने भवन के चार भाग बराबर के बनवाकर इन चारों को दिए हैं तब श्रवश्य उसने ऐसा अन्याय नहीं किया होगा !”

राजा जितारि ने चौंककर देखा और कहा, “तो ?”

“धाप मेरे सामने एक-एक कर बुलवाइए उन्हें । मैं पूछकर तो देखूँ ।”
राजा जितारि ने कहा, “तो लो तुम ही संभालो !”

श्राया राम ! लंबी श्रांखें । मुख पर ईर्ष्या और घृणा ।

मैंने कहा, “श्रेष्ठ राम ! गुणधाम की माता क्या तुम तीनों की माता से रोटी धीं !”

राम ने कहा, “क्या कहते हैं श्रार्थ ! हमारी एक ही माता थी ।”

“श्रच्छा, जब तुम्हारे पिता का देशन्त हृष्णा या तब यह गुणधाम कितना पदा था ?”

“दो वर्ष पूर्व ? ऐसा या पन्द्रह का । यह तो देलता था । काम तो हम तीनों करते थे ।”

“क्या काम करते थे तुम ?”

“मैं गेती की देखभाल करता था । सारे चेतों की देखभाल मैं ही किया करता था । उसीका फन है कि मुझे पिता ने क्या दिया है ? पूल ! मिट्टी !”

मैंने पूछा, “कितने खेत हैं तुम्हारे पास ?”

“आर्य ! मुझे क्या ऐसे याद हैं !”

“बता सकते हो कितनी भूमि है ? उनमें कितने किसान हैं ? वे तुम्हें क्या देते हैं ? राज्य को तुम कितना देते हो ? भूमि का मूल्य क्या है ?”

“देखकर बता सकूँगा आर्य !”

“तो जाओ देखकर आओ !”

इसी तरह श्याम से पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह लेन-देन का हिसाब रखता था ।

मैंने कहा, “लेन-देन था । वह घन तुमने वसूल कर लिया ?”

“अभी तो नहीं आर्य !”

“होगा कितना ?”

“देखकर बता सकूँगा आर्य ! अभी जाकर देखता हूँ ।”

अन्त में आया काम । हड्डियां देखकर उसके नथुने फड़कते रहते थे । पूछने ज्ञात हुआ कि वही पत्रामलक के पश्चु-घन की देख-रेख करता था ।

“क्या-क्या पशु हैं तुम्हारे पास ?”

“आर्य ! यों तो गाय, भैंस हैं । पर वे भेंडे भी रखते थे, बकरियां भी हैं, र भी अनेक पशु हैं । ऊंट भी रखते थे । श्रेष्ठ ऊं का भारी व्यापार ले रहे थे ।”

“कुल कितने का घन होगा ?”

“आर्य ! देखकर बताऊंगा मैं ।”

“जाओ, शीघ्र आना ।”

जब वे चले गए, राजा जितारि उठे और द्वार पर पहुँच गए । द्वार पर लक्ष्मी ने उनके चरणों पर सिर रखकर कहा, “देव ! मुझे दाढ़ी बना जिए ।”

राजा जितारि की आंखों में आंसू आ गए । कहा, “तू पत्रामलक की पुत्री । पत्रामलक मुझे कंबल देने आता था । आज तू इन मूर्ख भाईयों के बीच स्थहाय है ! करोड़ों का घन रखकर भी वे तुम्हे नहीं रख सकते ?”

मैं चला आया ।

संध्या का समय हो गया । कामकंदला प्रतिहारी ने मुझसे कहा, “पारं !

महाराज ने स्मरण किया है।”

पहुंचकर देखा कि राजा जितारि सिंहासन पर बैठे थे और तीनों भाई सामने खड़े थे।

मुझे देखा तो राजा ने कहा, “मुझसे नहीं, उनसे कहो।”

और इससे पहले कि मैं समझूँ तीनों भाइयों ने मेरे चरणों पर शीश रख दिया। राजा जितारि ठाकर हँसे और बोले, “जामाता! देखा नुमसे! मूर्त्त! इनका वाप फेरी लगाता था, करोड़पति हो गया अपनी बुद्धि से, परन्तु ये मूर्ख श्रद्ध उस घन का नाश कर देंगे।”

मैंने कहा, “आर्य हुआ क्या?”

“होना क्या था। एक कहता है कि खेतों का मूल्य है कोई दो करोड़ का। दूसरा कहता है कि पशु-घन भी कम नहीं है। तीसरा कहता है कि लेन-देन इतनी ही होगी! मैं कहता हूँ कि पत्रामलक ने क्या बुराई की? वरावर तो बाट गया है।”

मैं भी हँस दिया।

मेरे फैसले की बात सब जगह फैल गई। दूसरे ही दिन देखता क्या हूँ कि श्रेष्ठ गुणरत्न लुटे हुए से आकर मेरे सामने बैठ गए। वे राजा के पास आया-जाया करते थे।

“क्या हुआ?” मैंने पूछा।

यताने लगे। पिंडोल नामक एक व्यक्ति ने उन्हें एक रात चोरों से बचाया पथ पर। श्रापों की रक्षा की। गुणरत्न ने उससे कहा कि जो इच्छा हो मांग से। वह चुप रहा। गुणरत्न आवेदा में बोल उठे, “धर दे हाथ चाहे जिसपर मेरे भवन में, जिसपर भी पहले हाय धर देगा, वही तेरा होगा।” श्रव यह हाय नहीं धरता किसी वस्तु पर। गुणरत्न को लगता है कि वह उनकी ही या पुत्री गुणवंती पर हाय रखना चाहता है। पिंडोल धूर्त है। कैसे करें, कैसे बचें। लट्टकी युवती हो गई है। सुन्दर है, विवाह योग्य है, पर क्या धूर्त

मैंने मुझाव दिया, “भगा दीजिए धूर्त को।”

“किन्तु मैंने वचन दे दिया है। वचन के लिए तो बड़े-बड़े मिट गए। वचन

हार जाने पर मुझे नगर में पूछेगा ही कौन ? मैं तो यों भी मिट्ठी में मिल जाऊंगा !”

मैं जब श्रेष्ठ के साथ उनके घर पहुँचा तो भीड़ जमां थी। लोग पिंडोल को मना रहे थे और वह कह रहा था, “मुझे तो बचन दिया है श्रेष्ठ ने ! जिसपर भी मैं चाहूँगा हाथ रखूँगा। आप लोग कौन हैं जो मैं आपके मन की वस्तु पर हाथ रख दूँ ?”

मैंने देखा श्रेष्ठकन्या और पत्नी दुमंजिले की खिड़की से डरी हुई सी भाँक रही थीं।

मैंने कहा, “पिंडोल ! यह धनरत्न कुछ नहीं चाहते ?”

पिंडोल ने बड़ी नभ्रता से भुककर कहा, “आर्य ! मेरी इच्छा है। श्रेष्ठ यदि कहते हैं कि मेरे घर की किसी वस्तु पर हाथ रख दे वह तेरी होगी, तो मैं वस्तु तक बढ़ रहता। पर ऐसा नहीं कहकर उन्होंने कहा, ‘जिसपर मेरे भवन में हाथ पहले घर देगा, वही तेरा होगा।’ अब तो मेरी इच्छा है।”

मैंने समझ लिया कि धूर्त पक्का गुह था।

“यही होगा !” मैंने कहा। धूर्त मेरी जय-जयकार करने लगा। भीड़ का मुँह उतर गया। मैं गुणरत्न को भीतर प्रांगण में ले गया और बोला, “श्रेष्ठ ! काम हो गया।”

वे मुँह देखते रहे मेरा।

“देखो !” मैंने पूछा, “नसैनी है ?”

“सीढ़ी बांस की ? हाँ, यह धरी उधर !”

“उधर लगा दें चलो। तुरन्त ! सेवक नहीं, हमनुम उठा जाए।”

“आर्य आप ? रहने दें, मैं उठाता हूँ।”

परन्तु श्रेष्ठ में इतना बल कहां था ? नसैनी खड़ी करवाके मैंने कहा, “अब स्त्रियों से कह दें कि नीचेवाला द्वार बन्द कर लें। और सामने जो खिड़की है, ठीक नसैनी के ऊपर वहां खड़ी हो जाए।”

इतना काम शीघ्र हो गया। और मैंने भीड़ और पिंडोल को वहीं बुनापर कहा, “पिंडोल ! अपनी शर्त दुहरा दो।”

“आर्य !” पिंडोल ने स्त्रियों की तरफ देखकर वही कुटिलता से मुहरापर कहा, “श्रेष्ठ गुणरत्न ने कहा है कि मैं उनके भवन में जिस वस्तु पर भी पर्ते

हाथ धर हूं वही मेरी है ।”

“वस !” मैंने कहा, “धर दो ।”

धूतं सीढ़ी की ओर गया । द्वार बन्द था । बोला, “इसे खुलवाइए ।”

मैंने कहा, “यह तो श्रेष्ठ ने नहीं कहा था । स्त्रियां मानती नहीं । क्या करें ! परन्तु श्रेष्ठ ने फिर भी नसेनी धरवा दी है कि कदाचित् तुम्हें ऊपर कुछ लेता हो ।”

पिडोल हँसकर बोला, “श्रेष्ठ वडे अच्छे हैं । अभी धरता हूं हाथ । आर्य ! याद रहे । जिसरर भी मैं पहले हाथ धरूं वही इस भवन में मेरी है ।”

भीढ़ के गण्यमान्य क्रोध से देखते रहे । परन्तु वचन से वे कैसे हट जाते ! देने को कहकर न देना तो घोर पाप था ! शिवि ने तो अपना मांस काटकर दे दिया था !

पिडोल बढ़ा । और नसेनी पर पांव रखा, पर नसेनी पर विना हाथ का सहारा लिए कोई नहीं चढ़ सकता । उसने ज्योंहीं हाथ से उसे पकड़ा, मैंने कहा, “उत्तर आओ पिडोल ! अपनी वस्तु ले जाओ ! श्रेष्ठ के जिस भवन में तुमने अत्यन्त बहुमूल्य वस्तुओं के रहते हुए भी सबसे पहले इस नसेनी पर हाथ रखा है, तो लोभ की अति और सोजन्य का अनुचित लाभ उठाने की धूरत्ता का फल देखो । नसेनी ले जा सकते हो !”

भीढ़ ठाकर हँसी । स्त्रियां तो ठाकर हँसती ही चली गई और पिडोल नीचे उतरकर सिसियाना-सा चिल्लाने लगा, “आर्य ! यह तो अन्याय है !”

परन्तु उसका चिल्लाना व्यर्थ गया । सबने उसका खूब मजाक ही नहीं उड़ाया ; बल्कि उससे नसेनी उठवाई और पथ पर उसे ले गए, जिससे नगरवासी खूब हुसे और सुशी में सो-पचास ने पिडोल के चपते भी लगाई, जो बेचारे को तहनी पड़ीं । मैं पर आ गया ।

इन कपों को सुनकर मुझद्रा, सौमान्यमंजरी, गीतकला, सरस्वती, राजा जितारि, अमात्य दांकुक कैसे-कैसे हुंसे ! सारे नगर में ठहाके लगे । स्त्रियों ने गाने बना डाले । पिडोल याम को ही नगर ढोड़ भागा ।

और इन्हा पत्त हमा ऐसा कि पिडोल की तरह मैं भी वह नगर ढोड़ भागा । यहां यहां है कि गण्यमान्य सज्जनों के साथ ध्रेष्ठ गुणरत्न, सर्वथ्रेष्ठ राम, पाम, राम, युग्मपाम आए और राजा जितारि के पांवों पड़ गए । नगर की

स्त्रियां आकर मेरी पत्नियों के चरणों पर लोट गईं। मैं मना करता रह गया, पर किसी ने नहीं सुना। गुणवत्ती और लक्ष्मी मुझसे व्याह दी गई। बल्कि इस अनेक पत्नियोंवाले पुरुष से यदि किसीका विवाह करने का विशेष आग्रह था तो इन दोनों का ही। पुरुष का क्या ! रो-रोकर श्रांखें सुजा ली थीं दोनों ने। और मैंने सोचा। विवाह क्या है ? धनी के लिए खेल ! स्त्री स्वयं क्या है ? मूर्खा ! उपकार का बदला है ऐसा समर्पण !! और मुझे लगा कि यह परिवार नहीं था। यह मान-मर्यादाओं का रखना-रखाना था। मैं क्या सचमुच किसीको चाहता था ! और तब उठी एक आङृति। वह जो मेरे बराबर थी। सुभद्रा !!

एकान्त में मैंने पूछा, “सुभद्रा ! यह सौतें तुम्हें सुहाती हैं ? मैं तो सच कहता हूं, तुम्हें दूसरे पुरुष के प्रति आसक्त देखकर उसकी हत्या कर दूँगा।”

हँसी और कहा, “झूठ कहते हो तुम ! उपक को क्यों न मार दिया ?”

“वह ? मैं समझा था, तुम उसे चाहती हो। और जिसमें तुम सुखी हो वही मेरा सुख है, समझकर !”

वह मुझे देखती रही, देखती रही। फिर धीरे से बोली, “स्वामी ! मैं भी तो तीसरी हूं, फिर रोकने का मुझे क्या अधिकार है ? पर कोई समर्पण करे तो क्या मुझे अपने स्वार्थ में रोकना उचित है ? पुरुष का मन, कहते हैं, विभिन्नता चाहता है। यही पिता में देखा, यही भाई में। लोक के सारे समर्थ, यही करते हैं। मैं नहीं जानती। किन्तु मेरा पुरुष मुझे नगण्य समझे, तिरस्तूत करे, यह मैं नहीं सह सकती। उसकी सारी निर्वलताओं को धमा कर सकती हूं, दम्भ को नहीं। मैं उपेक्षिता बनकर रह सकती हूं, परन्तु नारी के स्वप्न में घृणित बनकर नहीं।”

‘सुभद्रा की बात सुनकर मुझे लगा कि यह स्त्री सचमुच बहुत गहरी थी। किन्तु परिवार ने मुझे वांध लिया। मेरी सन्तान मेरे पास थी। बातिना बसुन्धरा और बालक शिरीष मुझे सब भूला देते थे।

आंज सोचता हूं। क्या था वह सब ! परन्तु जब वैभव, स्त्रियों और राजमर्यादा के मद में भूला हुआ मैं मगध में पहुंचा, उसी दिन कुणिक, जो धर्य दर्शन कहलाता था, पिता हुआ था, पदावती का। प्रजा और राजकुल ने दुगुना उत्तम मनाया। दानशूर मलयदास मुझसे गले मिला और उसने लोगों को नींज दिए। मित्रों के अद्वृहास गूँजने लगे। कोलाहल में सब कुछ प्रतिघटित होने सता।

मिली कुसुमश्री। बोली, “समर्थ आ गए।” कहा सोमश्री ने, “पिता ने भी अच्छा जामाता ढूँढ़ा। मैं जानती थी कि आप क्यों गए हैं। मैंने कुसुमश्री से कह दिया था। हमें वह चिन्ता तो नहीं थी। परन्तु यह भीड़ लेकर आएंगे, यह नहीं मालूम था। सुभद्रा कहती थी कि महीने में डेढ़ दिन हमारे लिए भी होगा। पर स्वामी! हमने कह दिया कि तीसों दिन तुम्हीं रखो उन्हें। पटरानी तो सुभद्रा ही होगी। उसीने स्त्री की मर्यादा का निर्वाह किया है। मानती ही नहीं वह। कहती है, ‘मैं कुसुमश्री का अधिकार क्यों छीनूँ?’”

“मानना होगा उसे।” कुसुमश्री ने कहा, “सारा राजगृह उसका गौरव गा रहा है।”

राजहंसनियों-सी ये स्त्रियां उस प्रासाद में ऐसी किलकारियां मारतीं एकान्त में, कि मैं विभोर हो उठता। सुभद्रा को उन्होंने पटरानी बनाकर ही छोड़ा। शब्द सुभद्रा बहुत ही विनम्र रहती।

किन्तु कथा सब इतना ही था! राजगृह में हलचल मच रही थी। शास्ता युद्ध के संघ में क्रृष्णी और सेनिक प्रव्रज्या ले रहे थे। क्रृष्णी प्रव्रज्या लेते ही शृण से मुक्त हो जाते थे। सीमा-प्रान्त पर निरन्तर युद्ध की सी परिस्थिति के प्रायेश से तंग आकर सेनिक सब जोड़कर संघ में शामिल होते और वे स्वतन्त्र हो जाते। मैंने देखा। युद्ध का संघ एक घर्म-भाव नहीं था। वह तो एक संसार, नये प्रकार के राज्य की व्यवस्था थी। जगह-जगह इसीकी चर्चा थी। इसी समय पता चला कि देश्याएं जाकर प्रव्रज्या लेने लगीं और कई जगह तो सौतों के खपकार से परेशान घर-गिरिस्तने भी जाकर प्रव्रज्या लेकर संघ की शरण में जाने लगीं।

सम्माट विवसार ने मुझे बुलवाया। अपने ऊंचे सिहासन पर बैठे थे। मुझे देखा तो पहा, “माश्रो धनकुमार! बैठो।”

मैं पास पढ़े फलक पर बैठ गया जो स्फटिकों को जोड़कर बनाया गया था। “मूझे मूता!” सम्माट ने कहा, “शास्ता के संघ ने कथा ऊंचम मचा दिया है। देश्याएं संघ में गईं। मैंने कहा, जाने दो! गिरिस्तने गईं, मैं चुप रहा। एसी गए, मैं नहीं चोला। परन्तु शब्द सेनिक जा रहे हैं।”

मैंने पहा, “देव! शास्ता नम्भवतः नये प्रकार का राज्य बना रहे हैं।”

“मूत यना रहे हैं। शास्ता घर्म-प्रचार करें।” सम्माट संघम द्वे बैठे,

“किन्तु राज्य संघ बनाएगा ! मैं सैनिकों को प्रवर्ज्या देनेवालों का सिर कटवा दूंगा । कोई खेल है ? शास्ता महान हैं, मैं सिर झुकाता हूँ । वेश्या का पाप बे छुड़ाते हैं, छुड़ाएं । स्त्री को प्रवर्ज्या दें । मैं नहीं बोलता । लोक बोलेगा । अर्णी की बात वे जानें जो अृण देते हैं, मैं नहीं देता । परन्तु राज्य क्से दिकेगा यदि वेतनभोगी सैनिक ही सेना छोड़ देगा ? शास्ता धर्म के रक्षक हैं, तो मैं राज्य का रक्षक हूँ । यह नये प्रकार का राज्य है ? चण्डप्रोद्योत योही निगल जाएगा, शास्ता गणक्षत्रिय हैं । वे गण के अतिरिक्त कुछ सोच नहीं पाते । वे दंचारे, इन छलछन्दों को क्या जानें । म्लेच्छ, वर्वर, वन्यजातियां, गणराज्य, कोसल, वत्स, एक दिन में मगध को निगल जाएंगे श्री प्रद्योत और शतानीक फाटक फेंक देंगे इन भिक्षुओं को । राज्य बना रहे हैं । ऐसा राज्य जिसमें सब तिर मुँडाकर बैठे संयम करते रहेंगे । खाना कौन देगा इन्हें । हल चलाता है कोई ? हल की रक्षा कौन करेगा यदि सेना नहीं रहेगी ? सेना नहीं रहेगी तो लोक उलट जाएगा । मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि जाकर भिक्षुसंघ को रोक दो अपनी ओर से !”

अपनी ओर से ! मैं रोकूँ ! बुरा मैं बनूँ । सम्राट फिर भी शास्ता के सामने भले बने रहना चाहते हैं । बाद में कह देंगे कि भन्ते ! मैं क्या करूँ । वह जैन नहीं माना । कहेंगे—लोक में सब तो हम-आप जैसी ऊँचाई पर नहीं पहुँचे हैं । न अभ्य को भेजा जा रहा है, न कुणिक को; क्योंकि शास्ता पर प्रतिबन्ध लगावाकर सम्राट इन दोनों को बदनामी से लदवाना नहीं चाहते, न प्रकारान्तर से ही सही, वे गणक्षत्रियों से बैर बांधना चाहते हैं ।

और सम्राट ने कहा, “समझे धनकुमार ! जिस प्रकार मेरी योजना पर चलकर तुमने अभ्यकुमार को मुक्त करने में अच्छी तरह कार्य किया, वैसे ही करना होगा !”

तो वह सब भी सम्राट की योजना थी ! मेरी नहीं ! धनहीन मुझे भेजा ! मेरा राजहंस जैसा सेवक मर गया । दुनिया-भर की उथल-पुथल हो गई । ग्रीष्म वह कुछ नहीं !!

तभी सम्राट ने फिर हँसकर कहा, “जो वैभव मैंने तुम्हें पद दिया, उससे भी अधिक पाग्रोगे !”

मैं जड़ हो गया । मुझे लगा कि मैं एक कीड़ा था । ‘न’ करने का पद इसमें जड़ हो गया ।

या ! मृत्यु ! परिवार का विघ्वंस ! स्त्रियों का वैधव्य या दासत्व या वेश्य-वृत्ति ! और मेरा क्षिरीप ! और मेरी वसुंधरा ! तब मुझे छृणा हुई । मैं तो एक दास था ! वैभव में विभोर, परन्तु था क्या मैं ! दास !!

वाहर से प्रतिहारी ने मुक्कर कहा, “आर्य शेष ! दानशूर मलयदास मिलना चाहते हैं !”

“मेज दो !” सम्राट ने कहा और मुझे देखकर बोले, “यह आया है मलय-दास ! जानते हो क्यों ? अभी सुन लोगे । राज्य की आय है सीमित, इन वृष्टियों की असीम । परन्तु किसके बल पर ? राजा के खड़ग पर, बल के आधार पर ! ग्रहिसा-ग्रहिसा चिल्लाते हैं ये महावीर वर्द्धमान के स्वर में स्वरं मिलाकर ! इनके वैभव का कुछ अनुमान कर सकते हो ! एक आया था कंबल-वाला ! रानी मृगावती ने लेना चाहा एक । मूल्य पूछा तो वणिक ने कहा, ‘एक लाख मुद्रा ।’ एक लाख ! रत्न, हीरक, और सुवर्ण के तारों से कढ़ा कंबल, भीतर हिमालय के वन्य जन्तुओं की बालदार ऊन !—मैंने कहा, ‘फिर ले लेंगे ।’ —वह चला गया । रानी का मन छोटा हुआ तो मैंने कंबलवाले को तलाश कराया । उससे पता चला तीन कंबल थे, तीनों तुम्हारी सास भद्रा ने खरीद लिए । मैंने एक मूल्य देकर देने को कहा तो वोलीं कि वहुओं ने पांच पोंछकर काट-काटकर फेंक दिए । सुना तुमने ! कहती थीं, राजा को क्या अदेय है । पर लाचार है ।—मैंने कहा, ऐसा वैभव है मेरे राज्य में ।—मैं राजा हूं, और ये मुझमें धनी हैं ! मैं रक्षा करूं और यह वैभव भोगें ! देखने गया उनके घर ! तुम्हारा साला शालिभद्र ! कल का लड़का । ऐसा भद्र हो गया उसे कि जब मैं पहुंचा तो शीघ्र मेरा स्वागत करने को उत्तरा भी नहीं । मैं तो वैभव देखना ही चाहता था । पहली मंजिल देखी, सब कुछ सुवर्ण था वहाँ । शालिभद्र फिर भी न उत्तरा, तब मैं दूसरी पर घड़ गया । देखा सब कुछ सोती और होरों का था यहाँ । शालिभद्र फिर भी नहीं उत्तरा । तब मैं तीसरी मंजिल पर चढ़ा और देखा कि रत्नों की वहाँ दिखाली थी । और शालिभद्र तब भी नहीं आया । अन्त मैं चोथी मंजिल पर गया । तुम बहुत दिन वाहर रहे हो धनकुमार ! अभी शालिभद्र मिने नहीं शालिभद्र से !!”

“ऐ ! वे मुझदा के प्रति अनजानते मैं किए अपराध के लिए अपनी माता के ग्राम मुझमें और मुझदा से धमा मांगने आए थे । अभी नहीं जा पाया हूं ।”

“हां ! हां, उसका मुझे भी खेद है धनकुमार !” सम्राट ने कहा, “उस समय सुभद्रा के विषय में मैंने भी कुछ ऐसा ही कह दिया था । पर स्त्री पर विश्वास भी कैसे करे कोई ? कैसी विवशता है कि वह पुरुष की वासना को अच्छी लगती है । सच तो यह है कि महावीर और गौतम में यही पक्ष मुझे महान लगता है कि वे स्त्री का त्याग कर चुके हैं ।” सहसा बदलकर बोले, “हां, तो चौथी मंजित का वैभव देखकर मैं चमत्कृत रह गया । मुझे सब पता रहता है कि शालिभद्र श्रपनी माता के बहुत कहने से वहां मिला मुझे । कौन लाता है यह धन इन श्रेष्ठियों के पास । श्रेणिक विवसार की भुजा का पराक्रम ! और उस व्यापार को इतना गर्व ! किर भी तुम्हारे कारण मैंने कुछ नहीं कहा उससे । जानते हो क्यों ? क्योंकि वह तुम्हारा साला था ।”

अब मुझे विश्वास हो गया कि सम्राट के बारे में जो मुझसे शालिभद्र ने कहा था वह सत्य ही होगा कि वैश्य की बेटी का क्या ठीक ! वह रहता है दूकान में, सार्थ में । वैश्य की स्त्री के पुत्र होते हैं उसके दास के ।

धृष्णा से लगा, मेरा हृदय भीतर ही भीतर गल जाएगा । ऐसे ये सम्राट ! श्रपने स्वार्थ में यह आदमी कैसा निर्मम था । श्रपने को यह इतना ऊँचा समझता था । तब शालिभद्र के लिए भय हुआ । वह इस व्यक्ति के चरणों पर ही तैरता था । क्या उसका वह वैभव व्यर्थ ही नहीं था ।

दानशूर मलयदास ने द्वार पर ही प्रणाम किया ।

“आएं महाश्रेष्ठ !” सम्राट ने कहा, “आसन ग्रहण करें ।”

श्रेष्ठि बैठ गया ।

“कहिए ! कैसे कष्ट किया श्रेष्ठ !”

“देव !” मलयदास ने कहा, “राज्य में अब व्यवस्था नहीं रही । शृणी फूट लेकर जाते हैं, संघ में प्रब्रज्या ले लेते हैं । फिर उनका कुछ नहीं होता ।”

“तो ?” सम्राट ने कहा । अविचलित । कठोर ।

“देव !” यह क्या उत्तर हुआ ?” मलयदास ने पूछा ।

“मर्यादा के भीतर रहो श्रेष्ठ !” सम्राट ने स्वर उठाकर कहा ।

मलयदास विफरे हुए सिंह-सा हिला । वह क्या दानशूर ! परतु पा थंडा !

पी गया ।

“सम्राट ! मर्यादा मलयदास जानता है । मर्यादा का अतिशय पूरा !”

तभी तो आया है न्याय मांगने।"

"न्याय!" सम्राट ने कहा, "यह लाभ, यह असीम वैभव है न? इसीने अव्यवस्था फैलाई है। वैश्यों ने कृष्णी को दास बनाया है।"

"दास!" मलयदास ने शांति से कहा, "देव! वैश्य का दिया दासत्व धन देकर छूट जाता है, परन्तु क्षत्रिय का दिया दासत्व पीढ़ी दर पीढ़ी चलता है।"

"महाश्रेष्ठ!" सम्राट भल्ला उठे, "क्षत्रिय का जब पराक्रम था तब वैश्यों को संपत्ति रखने का भी अधिकार नहीं था। गाय पालते थे और सेवा करते थे वैश्य। न हो तो पूछो प्राचीन शास्त्रों के जातकारों से।"

मैं अवाक् बैठा रहा।

दानशूर की आंखें जलने-सी लगीं। उसने कहा, "सम्राट! राज्य वैश्यों की समृद्धि पर जीवित रहता है! किसके साथीं का कर राज्यकोष को भरता है? वया सेती से इतनी आय होती है? किसके बल पर है यह राजा का वैभव! कोन देता है संकट में राज्य को ऋण!"

विवसार सहसा ही हँस उठा। अप्रत्याशित। दानशूर ने सिर झुका लिया। मानो अपनी उत्तेजना के तिए लजिज्जत हो।

"तो!" सम्राट ने कहा, "वैश्य लोगों को ऋण देकर उन्हें निचोड़ भी ले? धर्म से डरो मलयदास। संग न ले जाओगे।"

"हाँ सम्राट!" मलयदास ने हाथ जोड़कर कहा, "राज्य और धन! यह कोई संग नहीं ले जाता।"

विवसार का मन जैसे तिलमिला उठा। परन्तु मैंने उसका असीम धैर्य ऐसा। उसने कहा, "दानशूर मलयदास!"

"सम्राट!"

"वैश्य व्यापार करता है। राजा रोक नहीं सकते। वैश्य कर देता है, राजा उसके धन की रक्षा करते हैं। न्यायाधिकरण खुला है। परम्परा से जो हुआ है, दान्य में है, उसका अपने-ग्राप निर्णय होगा। मुझसे क्या निवेदन करना जारी हो?"

"देव! भिक्षु पर दण्ड लगेगा?"

"भिक्षु यदि हत्या करे तो क्या होगा श्रेष्ठ?"

मलयदास सोच में पड़ गया। सम्राट ने फिर कहा, "संयम से श्रवरुद्ध भिक्षु

यदि किसी क्षण विभ्रांत होकर किसीसे बलात्कार कर दे तो क्या होगा श्रेष्ठ ! भिक्षु-संघ क्या आर्यवित्त में नया है । क्या पहले से ही जिनमुनि नहीं होते आए हैं ? कुटीचक, वृद्धक, यायावर आदि नहीं होते आए हैं ? उनके लिए क्या है नियम ?”

“देव ! वे व्यक्तिरूप में थे यह संघ है ।”

“संघ धर्म के लिए है कि वह एक राज्य में ही एक और दूसरा राज्य है ? शास्ता बुद्ध हैं कि सम्राट ! वे तो सम्राटों का भी शासन करनेवाले हैं न ?”

“देव ! मैं नहीं जानता वे क्या हैं ? राजपुत्र होकर गृहत्यागी हैं, परन्तु मैं समझता हूँ कि उनकी महानता है । संघ में सब जातियाँ हैं, किन्तु शाश्वतों का रक्तगर्व अविदित नहीं । सम्राट का लिङ्घवियों से सम्बन्ध है । धार्यि लिङ्घवियों का अहंकार कौन नहीं जानता ? मैं महावीर वद्धमान का भी अनुयायी नहीं हूँ । परन्तु इतना जानता हूँ कि सम्राट स्वयं उनके मौसा लगते हैं । फिर भी वह तपस्वी दीन-दुःखियों, कुम्हारों के साथ रहता है । महावीर पर्म की बात कहते नहीं थकता और वह भी मनुष्य के मार्ग का प्रदर्शक है, परन्तु उससे हमें क्या ? प्रश्न है कि राज्य का ऋणी को दण्डित करने का भाग क्या होगा ? मैं सम्राट की आज्ञा चाहता हूँ । क्योंकि राज्य के कर्मचारी, संप्र में जाकर ऋणियों को नहीं पकड़ते । इसका उत्तरदायित्व किसपर है ? श्रेष्ठियों पर कि सम्राट पर ?”

“किसीकी स्त्री संघ में जाए तो उस स्त्री के लिए कौन लड़ेगा श्रेष्ठ ! सम्राट कि पति ?”

“देव ; तो निवेदन कर दूँ कि सेना भी राज्य का त्याग कर रही है । वाद एक तरफ नहीं ; हर तरफ आ रही है ।”

सम्राट ने हँसकर कहा, “सेना ! नहीं श्रेष्ठ ! ऐसा नहीं हो सकता । सेना को खूब मिलता है । अवश्य लूट नहीं मिली वहुत दिनों से । वह इसमिए कि मैं हिंसा नहीं चाहता । सेना ऋणियों की भाँति भूखी नहीं है ।”

“तो देव !” मलयदास ने झुककर कहा, “ऋणी भी भूता नहीं रहेगा । इतना ही काफी है ।”

वह प्रणाम करके चला गया । सम्राट उस ओर देखते रहे । फिर ए-

“मलयदास को कितना गर्व है ! शायद यह भूल गया है कि इसके सार्थ मेरे मुजबल के आंतक से चलते हैं ।”

और सप्राट ने रहस्य-भरे ढंग से सिर हिलाया और उठकर कहा, “हाँ, धनकुमार ! यह कार्य शीघ्र हो जाए ।”

अलिद में आया तो मेरा मन अपमान, विक्षोभ और घृणा से व्याकुल हो रहा था ! यह कौन बोला था मुझसे ? सप्राट ! किससे ? मुझसे ! धनकुमार से ! वह जिसने वैभव को ठुकराया ! जिसने जीवन को हथेली पर रखा ! आज मैं भृत्य हो गया ! हाँ, मैं अपने वैभव का दास हूँ। मैं दास हूँ। मैंने आदर्श नगर चासाया था ! वह नष्ट हो गया । परन्तु यह राजशक्ति इतनी कुटिल है, इतनी हृदयहीन ! मह सब मैं क्या सोचने लगा ? याद आया । कुमुमश्री, सोमधी, सुभद्रा, सोभाग्यमंजरी, गीतकला, सरस्वती, लक्ष्मी, गुणवन्ती और मेरी वसुंधरा, मेरा शिरीप ! क्या होगा इनका । तब मेरे साथ कौन था ? जन्म दिया था जिस माता ने वह नहीं रोक सकी और रोक रही है यह स्त्रियां जो मेरे वैभव ने जीती हैं ? क्या मैं इस कारण परतन्त्र हूँ ? एक-एक बात याद आती थी, एक-एक फौल-सी हृदय में गड़ जाती थी । तो क्या कहूँ ?

मुझे सेना को रोकना होगा । पर कैसे ? सप्राट का नाम भी नहीं आए, ऐसे !

मैं उपयन में धूमता रहा । वातायन से मुझे सुभद्रा ने देखा । मुझे गंभीर देराकार बोली नहीं । नील को देखा सामने धूप सेंक रहा था, मौलसिरी के पेड़ के सामने बैठा । मैंने कहा, “नील ! रथ बुलवा ।”

रथ में घेटकर मैं सीधा गया शास्त्र के पास । वे उस समय बीच में बैठे थे एक और । सामने प्रनेक भिक्षु थे । अनेक श्रद्धावान थे, स्त्रियां भी, पुरुष भी । मैंने प्रणाम किया । शास्त्र गीतम बुद्ध ने मेरी ओर देखा । गंभीर, करुण-भरे नयन । गोर वर्ण, उन्नत लताट, सिर पर सिंधाड़े जैसे बाल । चीवर में रो फूटता शरीर का गोरापन । सिंह के समान बैठे थे वे ।

“आवुस !” बुद्ध ने कहा : “अच्छे हो ?”

मैंने कहा, “भन्ते ! याप लोक-कल्याण के लिए धर्म की दुङ्कुमी बजा रहे हैं, किन्तु मुझे माझा दे तो मैं कुछ निवेदन करूँ ।”

भिक्षु भानुर, बुद्ध के भाई लगते थे, बोले, “सप्राट ने भेजा है ?”

“नहीं भन्ते,” मैंने कहा, “मैं श्राया हूं ज्योकि भिक्षु-संघ ने राज्य व्यवस्था में कुछ व्याधात डाल दिया है।”

बुद्ध ने मेरी ओर देखा। उस हृष्ट में अथाह गौरव था, पर ये निविका: “आवुस कहो।”

“भन्ते ! देश्याएं परम्परा और जन्म, कर्मफल और वासना के प्राधान्य वेश्या बनती हैं। वे यदि मुक्त हों तो अवश्य ध्यानिचार बढ़ेगा, शायद ऐसा भी हो, परन्तु अवश्य ही किर भी यह श्रेष्ठ ही होगा कि वे मुक्त हों। वै चक्रव्याज से ऋणी को जन्म-भर निचोड़ते हैं, ऋणी संघ में मुक्ति पा जाए तो व्यापार को अवश्य धक्का लगेगा, फिर भी मुझे आपत्ति नहीं। पत्तिय प्रव्रज्या लें—सप्तनी दुःख से विह्वल होकर, तो सम्भवतः पुरुषों में प्राचीन जिन परम्परा लौट आए कि एक पुरुष के एक स्त्री हो।”

जिन-परम्परा सुनकर श्रानन्द मुस्कराए। बुद्ध शांत रहे।

“किन्तु भन्ते ! सेना भिक्षु-संघ में विना स्वामी की आज्ञा के प्रवेश पा जाए। यह लोक की व्यवस्था को नष्ट कर देगा। जब तक सब ही संघम का पालन न करें, तब तक यह कैसे सम्भव हो सकेगा। मगध न रहे न सही, परन्तु विद्युद्यि, शाक्य, कोसल, विदेह, वत्स, अचन्ति, काशी तो रहेंगे और इनके पास सेना भी रहेगी। वन-जातियां रहेंगी। अनार्य रहेंगे। सेना के विना खेतों की, साधों की, रहेगी। नगरों, पशुओं की, डाकुओं और चोरों की व्यवस्था कौन करेगा ? भिक्षु-संघ व्यापार नहीं करता, खेती नहीं करता। भिक्षु-संघ कैसे रहेगा यदि सेना नहीं होगी ? मगध की सेना भी लूट चाहती है जैसे अन्य देशों की। हमारे सम्राट् श्रीहिंसा का पालन करते हैं। बाहर के देश नहीं। ऐसे समय में यदि सैनिक भिक्षु-संघ में आ जाएंगे तो सब कुछ नष्ट हो जाएगा।”

भिक्षु श्रानन्द ने कहा, “आवुस ! शास्ता का धर्म प्राण-मात्र के लिए है। इसमें किसी प्रकार का भी भेद मनुष्य के सामने नहीं है।”

“हाँ भन्ते !” मैंने कहा, “जो सुना है कहता हूं। जिस समय मेरी पत्नी सुभद्रा प्रव्रज्या लेने आई थी, तब शास्ता ने स्वयं कहा था कि जो वे नहीं चाहीं थे कि स्त्री को संघ में लिया जाए, उन्होंने महा प्रजापती गौतमी के पास श्राज्ञा दे दी। मैं इस मगध के लिए शास्ता की करणा चाहता हूं। वे प्राण-मात्र को लोक में जगाएं, सद्धर्म की ज्योति जगाएं। वे सैनिक को भी प्रशंसा

दें, परन्तु केवल इतनी आज्ञा दें कि सैनिक अपने स्वामी की अनुमति के बिना प्रव्रजित नहीं हो पाए। भन्ते ! यही प्रार्थना है।”

आनन्द ने बुद्ध से कहा, “भन्ते ! आज्ञा !”

बुद्ध ने मेरी ओर देखा और धीरे से कहा, “लोक में सब मनुष्य समान हैं आवृत्ति। यह कहना अनुचित है कि व्राह्मण ही सर्वश्रेष्ठ हैं और अधिकारी हैं।”

फिर मुड़कर कहा, “भिक्षुओं में कौन श्रेष्ठ है ?”

एक भिक्षु, जो शाक्य क्षत्रिय था, बोला, “भन्ते ! मनुष्यों में श्रेष्ठ है शक्ति।”

मैं मुस्करा दिया। बुद्ध ने कहा, “नहीं भिक्षु ! कोई जाति श्रेष्ठ नहीं, मनुष्य का शील श्रेष्ठ है।”

भिक्षुओं ने सिर झुका लिया। फिर बुद्ध ने मुझसे कहा, “आवृत्ति ! सब मनुष्यों में शील श्रेष्ठ है। विनय श्रेष्ठ है। भिक्षु-संघ का निर्माण लोक में ज्ञान की ज्योति फैलाने के लिए है। इसीलिए बुद्ध, धर्म और संघ से ऊपर कोई नहीं। किन्तु भिक्षु-संघ भौतिक सुखों के लिए नहीं है। वह धनलिप्सा और राज्य-वैभव के ऊपर है। यहां कर्मों का क्षय है, कर्मों का जात नहीं। दुःख से छुटकारा पाया जाता है। भिक्षु-संघ उनके लिए है जो विनय को आचार का आधार मानते हैं। जिससे विनय भंग हो, वह भिक्षु-संघ के लिए नहीं। आनन्द ! आज से जो स्त्री अपने पति, पुत्र, पिता से, जो दास अपने स्वामी से, जो सैनिक अपने वेतनदाता से, जो गृहणी अपने गृहणदाता से सविनय आज्ञा लेकर स्व मुक्त होता नहीं आता, उसे प्रदर्श्या मत दो।”

मैंने प्रणाम करके कहा, “सद्गमं की पताका फहरे ! संघ की उन्नति हो।”

मैं लौट पड़ा। सीधे स्माट के पास गया। कहा। सुनकर प्रसन्न हो उठे और कहा, “वस्त्र ! शास्त्र महान हैं। क्या कहते हो ? उत्तरवाले वन में यदि शास्त्र के लिए, भिक्षु-संघ के लिए एक विशाल आराम (वाग और उसमें मात्रान) वनवा दिया जाए तो कैसा रहे ?”

मैंने झुककर कहा, “देव ! मैंने आज्ञा का पालन कर दिया। अब आज्ञा हो।”

“इस समय विश्राम करो जामाता, कल किर संध्या समय मुझसे मिल सेना।”

“जो आज्ञा !” कहकर मैं श्रासाद की सीढ़ियां उतरने लगा। इस समय

सम्राट ने मुझसे जामाता कहा था। मुझे एक गतिहासी हो रही थी। मैं कितने दिन से अपने बारे में भ्रम में था!

अपने भवन पहुंचा तो द्वार से ही सुना भीतर हाहाकार मच रहा था। मुझे लगा मेरे हाथ-पांव सुन्न पड़ गए थे। किसी प्रकार अपने को खींचते हुए भीतर पहुंचा और जो देखा, वह मेरे लिए शायद, सैनिकों, दासों, सपत्नियों, वेश्याओं और ऋणियों ने सौगात भेजी थी।

सुभद्रा रो रही थी। रो रही थी। कुसुमश्री छाती पीट-पीटकर, आशक्ति खड़ी थी आंसू बहाती सोमश्री, गुणवंती पकड़े थी कुसुमश्री को अपने आंसू गिराती। और गीतकला, सरस्वती और लक्ष्मी रोती हुई कह रही थीं, “हाय रे विधाता ! श्रो निर्दयी……”

परिचारक, सेवक, सेविकाएं… सब उदास, कोलाहल… मुझे देखकर सुभद्रा ने रोते हुए कहा, “आओ स्वामी ! यह है तुम्हारी वसुधरा ! कुछ नहीं बोलती। नहीं सुनती हमारी एक भी पुकार। तुम शायद, बुलाओ इसे, यह तुम्हारी आवाज सुनकर, उत्तर दे। स्वामी ! यह तुम्हारी बहुत लाड़ली थी न ? मह कभी तुम्हारे बुलाने पर घुटनों के बल चलकर तुम्हारे पास पहुंचने से नहीं रुकती थी।……”

‘हाय !’… के मर्मभेदी स्वर से वे फिर रोने लगीं। वसुधरा ! मेरी बच्ची मेरी फूल-सी बच्ची। दुधमुंही, तुतलाती बच्ची ! नीलम-सी आंखोंवाली मेरी नयनों की दुलारी बिटिया ! इस समय सो रही थी।

कुसुमश्री ने भराए स्वर से कहा, “धारेयिका को भेज दिया था मैंने, स्वयं देख रही थी इसे। अचानक यह बातायन पर चढ़कर झांकने लगी। मैं हमस्ती रही कि बिटिया खड़ी हो रही है, तभी एकदम पांव उठ गए और नींवे जा गिरी। देखा जाकर। कहीं चोट नहीं। खून नहीं, पर बोतती नहीं। परं मैं हृत्यारी मां ! मैंने अपनी बच्ची को मार डाला।……”

फिर हाहाकार !

और मैं देखता रहा। यह वसुधरा ! चली गई ! कितनी देर लगती है मृत्यु को आकर आत्मा को ले जाने में। रोया नहीं मैं। देखता रहा। पाग जाश व बच्ची को छुआ और उठाकर छाती से लगा लिया। किन्तु देह ठंडी हो गई था। क्यों मरी यह ! मैंने बच्ची को स्थियों के करण ग्रन्दन के दीन दिया

दिया। और मन ने कहा, 'संतान का सुख-दुःख पिता और माता के पाप-पूण्य से तो नहीं बंधा रहता। मृत्यु में आत्मा का आवागमन-भाव है। उससे जो दुख होता है वह पास रहनेवालों को होता है।

तो वसुधरा मर गई थी।

बच्ची को वहुमूल्य कपड़ों में लपेटकर सेवकों ने गाढ़ दिया। मैं देखता रहा, अपने मित्रों और सम्बन्धियों के साथ। मेरे साले शालिभद्र के अतिरिक्त सब ही थे। वह क्यों नहीं आया? समझ नहीं पाया मैं। शायद सचमुच ही उसे गर्व हो गया था! किसका गर्व! इसी दैभव का, जिसका अन्त इतना थण्डिक और आकस्मिक था! श्रेष्ठि कुसुमपाल की आंखें बार-बार भर आती थीं।

और फिर हम बैठ गए। मित्र भोजन लाए। स्नान करके आए तो वे जीवन खिलाने लगे। कोई नहीं चाहता था, परन्तु उन्होंने कहा, "खाओ, खाओ! जीवन और मृत्यु में भेद है। यह दो अलग-अलग हैं। मरनेवाला तो गया, लेकिन जीनेवाले को जीना ही होगा। उसे जीते के लिए खाना भी होगा। अपनी-अपनी देवना सब भोगते हैं। जिसका समय आ जाता है, वही जाता है। कोई निसीके बदले में नहीं जा सकता। जीवन और मृत्यु में सब अपना-अपना भोगते हैं। सब अलग-अलग हैं। यह सम्बन्ध, पह ममता इस पृथ्वी के हैं। आत्मा तो याची है। वह इनमें फंस जाती है तो मृत्यु के बाद भी संस्कार और स्मरण के कारण जीवन में किए पाप-पूण्यों को भोगती है।"

वे दंर तक समझते रहे। कुसुमश्री ने नहीं ही खाया। बांकी ले थोड़ा-बहुत चबाया। और कुसुमश्री के लिए सबने कहा, "कुछ भी हो, मां तो मां ही है। उसके बराबर कौन होगा?"

मुभदा ने कुसुमश्री को अपने सिर की कसम दी और सुलाकर उसके सिर पर हाथ फिराने लगी।

सोमश्री ने शिरीप की लाकर कुसुमश्री के पास लिटा दिया। कुसुमश्री ने देखा तो द्याती से चिपकाकर उसे छूम लिया। और मैंने देखा। हर मौत को काम करने के लिए एक नये जीवन की आवश्यकता थी। शायद आदमी मौत को न भेज पाता, भगव नये जन्म ने उसे सहारा नहीं दिया होता।

मैं एकान्त प्रकोष्ठ में आ गया। अपने-आप मेरे हाथों ने बीजा संभाली और मैं जिनेन्द्र की स्तुति गाने लगा। यह गीत कितना हल्का था। कितनी बड़ी

सांत्वना थी मेरे भटके हुए हृदय को ।

तभी द्वार पर कुमुखी ने कांपते स्वर से कहा, “वसु ! आपके पास है या ?”

वह सुपना देखती उठ आई थी । उसको न देखकर श्रव सुभद्रा भी आई । उसने कुमुखी को अपनी छाती से चिपका लिया और कहा, “रो ते भागिन ! रो ले ! तेरी बच्ची मर गई है !”

और वे दोनों रो पड़ीं । मेरा गीत थम गया । रात बीत गई । प्रभात ने दासी से प्रवेश किया ।

संवाद फैल गया । राज्य के महत्वपूर्ण लोग आने लगे अपनी व्यथा प्रगट रहे ।

मुझे नहीं मालूम वे क्या कहते थे । मैं केवल सुन रहा था । सुन रहा था । बन में अग्राध नीरवता छा रही थी । कभी-कभी कुमुखी का स्वन सुवक डता था और सुभद्रा की लम्बी सांस उसका पीछा करती थी । आए सम्राट बसार । व्यथा में तृष्णा होती है, यह तभी मेरी समझ में आया । सम्राट आगमन मेरी वेदना की चरम सांत्वना थी, जैसी सबकी समझ में इसके बाद भी सफलता की कोई कोर अद्भूती नहीं रह गई थी । मध्याह्न हो गया । और र संघ्या हो गई । मैं अपने चतुर्षाल में बैठा था । नील ने चरणों के पास कर कहा, “आर्य ! आपके दुःख के कारण नहीं कह सका । नगर में श्रेष्ठियों में मध्याह्न के समय हलचल मच गई । आज मलयदास के घर में ऐसी चोरी हुई कि कहा नहीं जा सकता । वे तो यहाँ आए थे । उनका भवन तो नगर के किनारे है ही । चोर किसी तरह भीतर बुझे और उन्होंने स्त्रियों को बांध टाला और सब ही ले गए । उनके पास तेज घोड़े थे । जब वे भाग रहे थे, मलयदास के सेवकों को पता चला । युद्ध भी हुआ, किन्तु कोई पकड़ा नहीं जा सका । दिन-दहड़े और मलयदास का सब कुछ लुट जाना वया मामूली बात है ग्राम्य ?

मलयदास का वैभव श्रेष्ठ शालिभद्र से भी अधिक है । मलयदास ने वया किया, सम्राट से मिले और वया उत्तर पाया, कुछ नहीं जान सका हूँ मैं । परन्तु सम्राट ने लुटे घर की रक्खा को सेना तैनात कर दी है और इधर अभी-अभी गुना हि मलयदास के तीन सार्थ, जिनके बल पर मलयदास ने नगर के श्रेष्ठियों से देना-पावना तय कर रखा था, वे नगर के बाहर बन-भाग में उजाले में ही गुट

गए। आर्य ! कितने श्राश्चर्य की वात हो गई। और ऐसी हृदयहीन है व्यापारी की जाति ! उस अवस्था में भी एक तरफ सहानुभूति जताते थे और दूसरी ओर उनका भाव था कि चलो अच्छा हुआ, बहुत बनता था। बड़ा गर्व था इसे ! भूल गया था कि दैव भी ऊपर है। धन के एकाधिकार में सबसे मनमाना लाभ लेकर दानशूर बनने का ढोंग करता था। आर्य ! संध्या तक तो मलयदास का टाट उलट गया। वह दिवालिया हो गया, क्योंकि मांगनेवाले आ जुटे। जब उसने कहा कि उसके पास कुछ नहीं था तो बोले, 'अभी सम्पत्ति है, घर है, बाग है, दुकानें हैं।' 'आर्य ! करोड़ों का देनदार है मलयदास। वह क्या करता ? व्यापारी सम्राट के पास गए। सम्राट ने कहा कि क्षमा कर दो।—व्यापारी बोले, 'कर देंगे आर्यथेष्ठ ! आप हमारा कर क्षमा कर दें।' तो सम्राट ने कहा, 'कर तो छोड़ दू, परन्तु मैं अपने लिए नहीं, राज्य के लिए लेता हूं। राज्य कैसे चलेगा ?' आर्य ! यह सुनकर एक ने कहा, 'सम्राट को बड़ी दया है, सम्राट हैं, हष्टि में वंभव है, फिर आप ही चुका दें। आखिर तो दिन में चोरी हो, यह सम्राट का नया कोई उत्तरदायित्व नहीं है कि अवस्था की देख-रेख हो।' सम्राट ने कहा, 'मेरे जामाता की पुत्री कल मर गई। यह भी मेरा उत्तरदायित्व है ? मैंने श्राकाल मृत्यु पर्यों होने दी ? शास्त्रानुसार राज्य कहता है कि कोई भूठ न बोले। कोई भूठ बोलता है तो वह मेरा उत्तरदायित्व है ? चोरी मत करो। कोई करता है तो उसे मैं भरू ? मैं क्या हूं ? मैं राजा हूं। राज्य चोरियां भरे तो इतना कर भी प्रजा दे कि उसका कोप भरा रहे। चोर ढूँढ़े जाएंगे, दण्ड दिया जाएगा, यह मैं कर सकता हूं।' तब व्यापारियों ने कहा, 'सम्राट ! फिर हम क्या करें ? हम तो मर जाएंगे।' सम्राट ने कहा, 'जब कोई दिवालिया होता है तो क्या होता है ?' वे बोले, 'दैव ! उसकी सम्पत्ति को राज्य नीलाम कराता है और पहले कृपा चुकाए जाते हैं। परन्तु मलयदास आपके कृपापात्र हैं।' सम्राट ने कहा, 'यह न कहो श्रेष्ठिगण ! राजा का कायं बड़ा कठोर होता है। उसे तो राज्य के लिए पुरा का बनिदान देना पड़ता है। यदि तुम्हें विश्वास न हो, तो मैं परन्तु ही अभिन्न हिसी राजकुन के व्यक्ति को यह काम सौंपूँगा जो विना गहानुभूति के, तुम्हारा काम करने को, राज्य की मर्यादा उठाने को, मलयदास वो मरणि का दोरा-न्यारा कर दे।'—यह सुनकर श्रेष्ठियों ने सम्राट का जयजय-गार दिया।'

“तो वह कौन व्यक्ति है सम्राट् का अभिन्न ?”

“पता नहीं आर्य ! सम्राट् का कोई विशेष कृपापात्र होगा ।”

मैं सब सुन गया । श्रेष्ठियों ने मलयदास को काटा है । जैसे कहते हैं कि बर्फनी रात में भूखे भेड़िये किसी गुफा में बैठे रहते हैं । एक भी कोई सो गया तो सब उसपर टूट पड़ते हैं और खा जाते हैं । इससे अधिक मैं कुछ भी नहीं सोच सका । कौन लुटा ? कौन ले गया लूटकर ? कौन बरदाद हुआ ? किसने किसे बरदाद कर दिया ? राजा ने वया किया ? मलयदास का वया हुआ ? कुछ नहीं । कोई भाव नहीं जागा । सब सूना-सूना-सा था । अब अंधेरा धना हो गया है । अंधेरा भी दाहण होता है । सूनेपन की गहराई एक बहुत बड़ी शिला की तरह कठोर होती है ।

सुभद्रा मेरे पास बैठी है । क्यों बैठी है ? यह मेरी कौन है ? लोग कहते हैं यह मेरी पत्नी है । क्योंकि मैं इसके साथ रातों को सोया हूँ । क्या किया था हमने साथ सोकर ? एक पशुवृत्ति । उसमें आनन्द खोजा था । परंतु वह एक आवेश ही था । वह स्थिर नहीं रहता । चढ़ता है, उतर जाता है । स्त्री कुछ न करके भी आनन्द लेती है । स्त्री !! क्यों करती है वह सब, जब वह कुछ न करके भी आनन्द लेती है । सुभद्रा पुरुष का ! है, कहीं भूल हो गई है । कहाँ है वह भूल ! एक लिलीना मात्र है पुरुष का ! है, कहीं भूल हो गई है । पर मैं नहीं सोया हूँ । मैं क्यों रात बीत रही है । सुभद्रा शय्या पर सो गई है । पर मैं नहीं सोया हूँ । मैं क्यों अब मैं बैठा हूँ । क्या इस समय सृष्टि चल रही है ? तब मैं ही कैसे स्थिर रह सकता हूँ । यानी मैं भी चल रहा हूँ, लेकिन जान नहीं पाता । अंधेरा जो ढांगा है । यह अंधेरा कब तक ढांगा रहेगा ? जब तक सूर्य नहीं निकलेगा ।

सूर्य कब निकलेगा ? जब उजाला होगा । मैं तब तक बैठा रहूँगा ? हाँ, अब मैं बैठा हूँ । क्या इस समय सृष्टि चल रही है ? तब मैं ही कैसे स्थिर रह सकता हूँ । यानी मैं भी चल रहा हूँ, लेकिन जान नहीं पाता ।

सुभद्रा जागकर कहती है, “अरे ! आप सोए नहीं ?”

हाँ वह ठीक कहती है । मैं नहीं सोया हूँ । कहता हूँ, “जागकर भी तो सो रहा हो, वह क्या कहला सकता है सुभद्रा !”

सुभद्रा देखती है । पर मैं नहीं जानता कि वह क्या देख रही है । नीन आकर कहता है, “आर्य ! यह सम्राट् का पत्र है !”

मैं उसे देखता हूँ । पढ़ता हूँ ।

“...धनकुमार तुम मेरे विश्वस्त हो । मलयदास का नीलाम कराने जाओ...”

मैं जाऊँ ?

“...राजप को धर्म का पालन करना है, निर्भय बनना होगा...”

नील पूछता है, “आर्य, क्या उत्तर दूँ ?”

मैं कहता हूँ, ‘उत्तर ? यह आज्ञा है नील । इसका पालन करना होगा, अन्यथा यह सब...सब छिन जाएगा । हम इस सबके स्वामी नहीं...इस सबके दास हैं...अन्य हैं ।’

सुभद्रा कहती है : ‘स्वामी ! क्या कहते हैं ?’

नील धराक है । मैं हँसता हूँ । कहता हूँ, “सत्य कठोर होता है सुभद्रे ! मैं जागने लगा हूँ ।”

मैं उठ खड़ा हुआ हूँ । मैं नहा रहा हूँ । सुभद्रा मुझे नहला रही है । मैं कोन हूँ ? मैं वही हूँ जिसे लोग धनकुमार कहते हैं । तो यह धनकुमार और मैं एक ही हैं । मैं इस धनकुमार में बंदी हूँ । पर मैं देखता हूँ कि यह धनकुमार बड़ा प्यासा है, बड़ा लोभी है । बड़ा निष्ठुर है । हां, हां । धनकुमार हँसता है । कहता है, ‘धनकुमार ही तेरा अस्तित्व है । अपने को मत छिपा ।’

मैं कहता हूँ, ‘मलयदास का नीलाम कराने जाएगा तू धनकुमार !’
धनकुमार कहता है, ‘चल देख तो सही । फरता क्यों है ? आती-जाती संपत्ति है तो मनुष्यों की, उस संपत्ति के नीचे हलचल तो देख ।’

मैं चल पड़ा हूँ । मलयदास अपने बच्चों और पत्नी के साथ, अपने स्वामि-भक्त सेवकों से हीन, उस विशाल भवन के सामने खड़ा है । अब भी वह कठोर है । वह दानशूर है । मैं आसन पर बैठता हूँ । मैं मलयदास को देख रहा हूँ पर पहचान नहीं रहा हूँ । मेरे सामने बड़त-से थ्रेप्लि हैं । वे मुझे हाथ लीडते हैं, मैं उत्तर दे देता हूँ । कायंस्थ नूचो बना रहे हैं, मलयदास की संपत्ति पी । मांगने प्लाए हैं वे, जिन्हें लेना है । मैं देख रहा हूँ कि वे स्वामिभक्त सेवक ये मलयदास के, वे उघरवाले उसके गहरे मित्र थे । मलयदास मुझे देखता है । वहाँ है, ‘धनकुमार ! इस काम के लिए एक तुम ही थे ?’

मैं देखना चाहता हूँ उसे, पर देख नहीं पाता । थ्रेप्लि उसपर व्यंग्य कर रहे

हैं। किन्तु मलयदास कह रहा है, 'अरे मेरी मूँछों में आभी इतने बाल हैं आर्यवर्त को इन्हींके बदले ले सकता हूँ।'

उसकी स्त्री रो रही है। उसके बच्चे विलख रहे हैं। एक-एक चीर चिपटकर रोते हैं और राजकर्मचारी उन्हें हथा देते हैं।

बोलियां लग रही हैं। मैं सुन रहा हूँ। मलयदास हँस रहा है, 'अरे ! यही मेरे मित्र बनेंगे। यही सेवक जो इस समय मुझपर हँस रहे हैं, मेरे उठाएंगे। इस दुनिया में सबसे बड़ा धन है। मैं उसे फिर कमाऊंगा।'

मैं केवल सुन रहा हूँ। वह मुझे देखकर कह रहा है, 'यह धनकुमार है देखते हो इसे। आज मुझे नहीं पहचानता !'

वह कौसी कठोरता से हँस रहा है ! क्या यह भी मनुष्य का हास्य है दिन बीत गया है। मलयदास भूखा है, स्त्री भूखी है, बच्चे भूखे हैं आभूषण भी बिक गए हैं। कोई इसका साथी नहीं है, क्योंकि लोग जानते हैं कि सग्राट उससे असंतुष्ट हैं।

मैं उठने लगा हूँ। कार्य हो चुका है। मलयदास राह का भिलारी हो गया मैं किसीको नहीं पहचानता ।

मलयदास फिर हँसता है। कठोर है। कठोर ।

एक व्यक्ति सामने आता है। उसका पुराना सेवक। विष्वस्त सेवक !! 'कौन ? तू विधिदास !' सुनता हूँ मैं। कह रहा है मलयदास। फिर हँसता हूँ, हूँ, तेरा वेतन श्रभी रह गया है, पर इस समय मेरे पास नहीं है, मूँ स्त्री को ले जा सकता है । . . .'

विधिदास रोता है और पांव पकड़कर कहता है उससे, 'स्वामी ! पाप ! राग्रो मुझसे । यह देह तुम्हारे श्रन्न से पली है। वहुत गरीब हूँ पर प्रपने सहाय मत जानो। इन बच्चों की भूख नहीं देखी जाती मुझमे। इन्हें नीकरी करके खिलाऊंगा। मेरे घर चलो !'

मलयदास देखता है और फिर मैं सुनता हूँ वह कह रहा है 'भूग ! ! ! विधिदास ! कोई नहीं था। पर तू है श्रभी . . .'

स्वामी ! धन से ऊपर मनुष्य है। प्रेम बड़ा है, धन आना-जाना है। त के बल पर आदमी को पहचानते हैं, वे धन के दास हैं...मैं जिधि या . . .'

"मनुष्य ऊपर है……" मलयदास कहता है……वह हंसता है……"वे धन के दास हैं……" वह फिर हंसता है……यह कैसा विचित्र हास्य है……प्रतिष्ठित होता हुआ !……"

मैं सुनता हूँ। कोई कहता है, "मलयदास पागल हो गया !……"

मलयदास बाल नोचते हुए हंसता हुआ राजपथ पर भाग रहा है……पीछे विधिदास है……पत्नी हाहाकार कर रही है……बच्चे चिल्ला रहे हैं……श्रेष्ठ हंस रहे हैं !……

और मलयदास चिल्लाता जा रहा है, "मनुष्य धन से ऊपर है !……"

उसकी आवाज गूंज रही है……लोग पुकार रहे हैं……बलिहारी है समय की दानशूर भिखारी हो गया……पागल हो गया !……

और मलयदास अब अट्टहास कर रहा है, "हा-हा-हा-हा !……"

मैं घोड़े पर चल पड़ा हूँ !……

पूछता है मुझसे धनकुमार, 'यह किसने किया ?'

मैं कहता हूँ, 'यह उसीने किया जिसने वियावान जंगल में तुझे मुर्दे की जांघ से निकालकर बहुमूल्य रत्न दिए थे।'

धनकुमार कहता है, 'देख सूर्य छूका है। याद है यह कौन-सी जगह आ गया है तू ?'

मैं देखता हूँ। कहता हूँ, '……हाँ। यहीं मिला था एक श्रादभी मुझे, जिसने कहा था : मेरे पाप को पुण्य बना देना !……'

'ग्रीष्म तूने बना दिया वह ?'

'क्यों नहीं ?'

'झूठे ! पाप से पाप जन्म लेगा कि पुण्य ?'

मैं उत्तर नहीं पाता। अन्धेरा ढा गया है। शाश्वत अन्धेरा। यह कौन पराह रहा है……यह कैसी कहण आवाज है !……

प्रस्ता तो यादी ! उस दिन से तू ग्रन्थ तक तड़प रहा है, कथोंकि धनकुमार तेरे पाप को पुण्य नहीं बना सका। तू कब तक इसी तरह तड़पता रहेगा अपरिचित ! 'पन्दुभार ! उस कराह को सुनकर तू हरता क्यों है ?'

'नहीं ! नहीं ! यहाँ प्रवद्ध कोई मर रहा है !'

'मरनेगाला तो मर नुका ! ग्रन्थ वह कहाँ है !'

‘नहीं मूर्ख ! वह ! वह कोई मनुष्य ही तो है ।’’छटपटा रहा है ।’’
मैं देख रहा हूँ । धनकुमार उठकर उस मनुष्य के पास चला गया है ।
चिल्लाता है :

“पिता ! मेरे पिता !”

मैं मुस्कराता हूँ, ‘इसके पिता यहां !’

वह व्यक्ति जो तड़प रहा था, एक धुंधली घृष्णि से देखकर धनकुमार
गले लगाकर रोने लगता है । धनकुमार उच्छ्वसित-सा पूछता है, “पिता !
क्या हुआ ?”

बृद्ध कहता है, “पुत्र ! धनदेव ने सर्वनाश कर दिया । उसने अधिकार न
देखा था । घोर अत्याचार करने लगा । धनदत्त भी वह गया । एक दिन उहं
किसीकी स्त्री से बलात्कार कर दिया । स्त्री क्षत्रिय थी । क्षत्रियों की भीड़
आक्रमण किया । पुत्र ! तेरी भाभियों को उन्होंने बलात्कार करके मार डाला
तेरे भतीजे और मां को मार डाला । मैं जब धनपुर लौटा, मैं बाहर था रोता
तो देखा घर जला पड़ा था । लोग कुद्दमे थे । मैं कोसांवी गया । महाराजा
शतानीक ने तीनों भाइयों को प्राणदंड दे दिया । प्रजा ने मुझे भी मारन
चाहा । परन्तु मैं भागा, रत्नों को समेटकर, तेरे पास ।’’परन्तु मार्ग में धनकुमार
ने मुझसे छीन लिया ।’’धायल कर गए ।’’मैं चल नहीं सका ।’’तीन दिन से
तड़प रहा हूँ ।’’नहीं जानता ।’’प्राण क्यों नहीं निकलते ।’’

बृद्ध कराह रहा है ।

धनकुमार कहता है, “मैं जानता हूँ यहां एक सरोवर है । अभी जाता हूँ
जल ।”

मैं कहता हूँ, ‘अब मत जा धनकुमार ! अब देर नहीं है ।’’दीपक गुण्डे
ही बाला है ।’’

‘नहीं...नहीं...’’ कहता है धनकुमार, ’’श्रितिम सांत तक लट्ठूगा ।’’
‘जब धनकुमार लौटता है । देखता है एक शब पड़ा है और सामने से गीदड़
आ रहा है ।’’

धनकुमार क्रोध से गीदड़ को मारता है । पर वह भागकर दिख जाता है ।

धनकुमार बैठ गया है ।

मैं कहता हूँ, ‘धनकुमार, तेरा वह मर गया, जिसने तुमे पाना था ।

'हाँ,' धनकुमार कहता है, 'यह मनुष्य मेरा पिता था।'

'चलो, नगर ले चलकर दाहकर्म करो इसका।'

'नहीं, नहीं,' धनकुमार कहता है, 'वहाँ मत चलो। वहाँ सब इस भिखारी को देखकर हँसेंगे। वहाँ जब कोसांधी में परिवार के विनाश की बात फैलेगी, सप्राट विवसार और अधिक ऐंठ जाएगा।'

'तो फिर ?'

धनकुमार चिता बना रहा है। धनकुमार उस शब को उठा रहा है, जिसे वह पिता कहता था और आग लगाता है। अंधेरे जंगल में वह चिता दूर से ऐसी लगती होगी जैसे एक दीपशिखा।

धनकुमार निस्तब्ध बैठा है।

मैं कहता हूँ, 'धनकुमार ! आज तुझे आवेश क्यों नहीं आता ? पहले तुझमें ममता का रुदन घुमड़ता था, अब क्यों नहीं घुमड़ता ? पहले तू याद करता था कि यह है मेरा पिता, वह जिसने यों किया, यों किया, यों सुख पाया, यों दुख पाया, पर अब वह सब तुझे कुछ लगता ही नहीं !'

'हाँ,' अब धनकुमार कहता है, 'वह लगना भूठ था। भला कौन कह सकता था कि मेरे पिता का यह अन्त होगा ?'

चिता बुझ चली है।

मैं कहता हूँ, 'धनकुमार ! शतानिक का अभिन्नहोने सदैव जलता था। वहने कहता था कि जब कुरुकुल हस्तिनापुर को छोड़कर कोसांधी आया था, तब भी वह उसी पवित्र अग्नि को ले आया था जो यथाति ने सुलगाई थी। दुष्यन्त, भरत, भीष्म, धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर... जाने किस-किसने उसीको प्रज्वलित किया पाया ? तुझे याद है कि अग्नि में सब भस्म हो जाता हे ?'

धनकुमार कहता है, 'लेकिन अग्नि में मनुष्य का मन नहीं जलता। आत्मा नहीं जलती, पाप और पुण्य नहीं जलता।'

मैं कहता हूँ, 'धनकुमार, आधी रात बीत गई है। अब घर चल।'

'चलता हूँ।'

परन्तु धनकुमार योद्धा भूल गया है। वह पैदल जा रहा है। मैं उसके माम हूँ। जब वह नगर में पहुँचता है उसे पथ पर एक आदमी हँसता हुआ मिलता है।

जो धन नहीं लेता था !'

मैं कहता हूं, 'पञ्जा अम्मां के पुण्य से तू आज तक जीवित रहा है। धन-पुर तेरे अहंकार का ही रूप था। पृथ्वी पर स्वर्ग कहां? पुनर्जन्म के भय से लोक में दरिद्र अपने अभावों में तड़पता हुआ सत्य के पास चक्कर लगाता है, पर उसे दूँह नहीं पाता। धनी क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण... ऐ पुनर्जन्म से डरकर भी नहीं डरते, क्योंकि अधिकार और धन इन्हें पागल किए रहते हैं। उनका स्वार्य ही उनका अंत है। वे चतुर हैं अतः दूसरों की आंखों में धूल झोकते हैं। और इन सबपर है भाग्य। भाग्य! जिसमें व्यक्ति पानी के बुलबुले की तरह फूलता है, रंग-विरंगा दिखाई देता है और फिर फट जाता है... जन्म एक दुख है... मृत्यु दूसरा दुख है... और इनके बीच में मनुष्यों का प्रयोग है... शाश्वत तक चलना... व्यक्ति सदैव लोक में बढ़ है... और ये बन्धन हैं धन के... धन से पेट पलता है, मैथुन होता है... धन ही पाप है... धन ही दासत्व है... यह लोक चल रहा है... हम नहीं जानते यह क्यों चल रहा है... कर्मों के फल से जन्मने-याने असाध्य और दुख कैसे दूर हो सकते हैं... व्यक्ति को बचना होगा... क्योंकि यह सब भूठ है... यह सब छलना है।...'

धनकुमार कहता है, '...फिर ?'

'तू ही सोच !...'

मैं कहता हूं, 'धनकुमार! तू तो फिर इसी जगह लौट आया है।...'

'हाँ, यहां मेरी कुमुमथी है, सोमधी है, सुभद्रा है... सौभाग्यमंजरी है, गीतकाला है, सरस्वती है... गुणवंती है... लक्ष्मी है... वे सब मुझे प्रिय हैं... उन्होंने मुझे सुख दिया है... उन सबने मुझे प्यार किया है।...'

मैं कहता हूं, '...नीच! प्यार! प्यार किया धन को... तेरी बुद्धि को... तेरे वेंधव को... और बता तो...? तूने किसे प्यार किया है... प्यार ऐसे बंट सकता है...? प्यार है ही बदा? तू उनके जन्म के लिए उत्तरदायी नहीं था, न होगा उनकी मृत्यु के लिए... तू, जिसे अपने ही जन्म और मृत्यु पर अधिकार नहीं... तू कैसे स्वामी बन गया मूर्दः...? तू याढ़ी है... याढ़ा में भत भूल... उस वासनों की ददा जो तुम्हें निर्मल मनुष्यत्व से दूर करती है... कोई चारा नहीं है।...'

धनकुमार भीतर चला गया है। गुपवंती बैठी है।...

धनकुमार के पीछे भीड़ चल रही है। वह शालिभद्र के द्वार पर पहुंच गया है। भद्रा देखती है जामाता को। कहती है, “देखो शालिभद्र ! तुम्हारे वैराग्य की सुनकर जामाता तुम्हें रोकने को कैसे भागे आ रहे हैं। सब रो रहे हैं।”

“शालिभद्र !” धनकुमार पुकारता है, “देर हो रही है।”

शालिभद्र की स्थियां रो उठी हैं। अब फिर चुप हैं।

धनकुमार पुकारता है, “शालिभद्र ! इस वैभव के दास कब तक बने रहोगे ! कब तक अपने को धोखा देते रहोगे !”

भद्रा अबाकूक है। वत्तीस पत्नियां स्थिर हैं, पथरा गई हैं। पास आकर पत्थर-सी लड़ी हैं धनकुमार की पत्नियां।

“चलो शालिभद्र !” धनकुमार पुकारता है।

बाहर भीड़ आ गई है। बहुत लोग हैं अब !

धनकुमार कहता है, “शालिभद्र ! यह सब बहुत बड़ा इन्द्रजाल है। इसे जो कड़ा करके एक झटके से तो दोड़। मैंने सुना कि तुम इसे छोड़ नहीं पा रहे हो। बहुत दुखी हो रहे हो ! आओ ! मैं बाहर निकलकर आया हूं, मैं तुम्हें पुकार रहा हूं……यह सब कुछ भी अपना नहीं है।……”

भीड़ में पवराहट होती है, स्थियां ढाती पीट रही हैं……मां भद्रा सिर पत्थर पर मार रही है……शिरीप रो रहा है।……

शालिभद्र आ रहा है। शांत ! भव्य ! एक भी आभूषण नहीं। एक धोती। मुग पर गंभीर्य !

“नबो शालिभद्र ! उसके पास चलें जो महावीर है। कायर बनकर मत चलो उमों पान !”

शालिभद्र कहता है, “आ गए हो धनकुमार ? यह सब मुझे वार-वार दीच लेता था। तुम सचमुच पराक्रमी हो।”

धनकुमार कहता है, “हम दोनों चलेंगे। शालिभद्र ! हम दोनों चलेंगे।” द्याह एक स्वर मूँजता है, “तुम दो ही जाप्रोग ? इस समय भी गर्व नहीं हुए तुमने ? मैं भी जाऊंगी न ? मैं क्यों नहीं जाऊंगी ? यह पुरुष और स्त्री का भेर तो दाढ़ी है न ?”

शालिभद्र द्याह कहता है, “अरे नुभद्रा ! चलेगी ! लोटेगी तो नहीं ?”

धनकुमार कहता है, "वहिन ! चल ! तुझे कौन रोकेगा ! जैसा पुरुष ! वैसी ही स्त्री ! पुरुष को स्त्री बन्धन है, स्त्री को पुरुष ! दोनों के मिलने से ही तो कायों का बन्धन बंधता है !"

सुभद्रा ढाढ़े मारती है। स्त्रियां दारूण क्रंदन कर रही हैं।

हठात् फिर सुभद्रा कहती है, "अरी मंगलगीत गाओ। आज मुक्ति के पथ पर जा रहे हैं हम, तीन अपरिचित आत्माएं। देह के रूप में एक मेरा भाई था, एक पति था। अब हम स्वतन्त्र हो गए हैं। आज चीर बेला है। गाओ…… पालकी सजाओ ! वाद्य बजाने दो।……"

मैं कहता हूँ, 'धनकुमार ! वह देख, कौन आ रहा है !……'

धनकुमार मुझसे कहता है, 'यह तो वही है न ? जो विवसार कहलाता है ? यही तो यग्ध का सग्राट है न ? अब भी क्या मुझे इसे भुक्कर प्रणाम करना होगा ?'

मैं कहता हूँ, 'प्रणाम करने में क्या दोष है ! नम्रता ही श्रेष्ठ है !'

धनकुमार तब सबको हाथ जोड़ता है……पत्नियों से कहता है, "माताप्री, प्रणाम !……नागरिकों, दासों, सेवकों, सैनिकों, दासियों, सग्राट और श्रेष्ठियों पर कहता है, "……भाइयो…… वहिनो……प्रणाम !……"

विवसार कहता है, "कहां जा रहा है वत्स…… मेरी पुत्री……मेरा विहित……"

धनकुमार कहता है, "……विवसार ! सब एक जाल है……ध्यान से खो……यह सब एक जाल है !……"

अब सुभद्रा कहती है, "ओ भद्रे ! तुम रजोहरण पात्र लेकर वैठो !……"

विशाल भीड़ चल रही है।……

लोग बातें कर रहे हैं……

धनकुमार और शालिभद्र…… सुभद्रा भी……

मैं कहता हूँ, "……तेरी प्रशंसा हो रही है। श्रहंकारी ! इस नाम से विष ना व्याकुल है तू ? यह नया नाटक रचा है तूने ? देख, सुभद्रा जों देय ! इ है श्रेष्ठ त्यागिनी ! कभी कुछ न बोली। वह गांगती नहीं। जो ईराम करती है ले लेती है……वह कभी अभाव से नहीं दबती…… धानिभट को वृ ! कैसा नमित है !……"

धनकुमार कहता है, “...लौट जाओ भाइयो, लौट जाओ वहिनो ! बिव-
सार ! भद्रा ! सब लौट जाओ। हम आज महान की शरण में जा रहे हैं।
महान इसीलिए आए हैं...”

मैं कहता हूँ, “...धनकुमार ! अब भी सब चल रहे हैं।”.....

धनकुमार कहता, ‘पर कहां हैं ? मुझे तो कोई नहीं दीखता...’ मैं किसीको
पहचान नहीं पाता..... यह कौन है ?’.....

मैं कहता हूँ, “...यह है, शालिभद्र..... यह है सुभद्रा.....”

वह कहता है, ‘हां, इसे मैं जानता हूँ।’.....

मैं पूछता हूँ, ‘अच्छा, यह तुझे याद है ? देख वाकी स्त्रियां कैसी रो
रही हैं !’.....

अच्छेहा हो रहा है..... अच्छेरा..... उस अच्छेरे में से एक प्रकाशमान
मुख है..... यह कौन है..... महावीर बद्धमान.....

तब मैं धनकुमार से मिलकर एक हो जाता हूँ..... और हम दोनों महा-
वीर के चरणों पर फूट-फूटकर रोने लगते हैं..... और देखते हैं महावीर असीम
दया में करुणा से.....

“उतार दो यह वस्त्र ! ये लज्जा का कारण भीतर के पापों को छिपाता
है। नग्न हो जायो, तब देखो कि तुम अपने को विकारों की कुरुक्षता से छिपा
मालते हो या नहीं नोच दो ये केश, ये तुम्हें सुन्दरता का अम देते हैं,
इसे चित्ता मत करो, हृदय में दया और अहिंसा के स्नेह को जाग्रत् करो...
इस देह को दुस दो..... दो, ज्योंकि इस देह की आत्मा को इस देह ने पाप में
जाना है..... यह आत्मा पहले निर्मल थी, उस सबमें मुक्ति नहीं है जिसे
गुम्हारी वानराश्रों ने बनाया है, वह तो कर्मों का जाला है..... वह निरन्तर
जनना जाएगा..... मुक्त वही होगा जो कर्मों का क्षय कर देगा..... एक
प्रात्मा लोक के कर्मजाल को कंसे स्पष्ट कर सकती है ? वया वह दूसरों को उठा
नकता है, विना शपने को उठाए... पहले अपने को निर्मल करो, फिर आओ...
आधो लोक-मानस को जगाने..... संसार से हिंसा और घृणा को हटाने.....
मंमार ने जाति का महंकार मिटाने..... अपने को पवित्र इसलिए मत करो कि
तुम प्रपत्ने महंगार को तृप्त करना चाहते हो..... इसलिए करो कि लोक देखे
कि दिन धन-वैभव के जाल में वह फँजा है, उसमें वह कितना निरीह है, और

वास्तव में मनुष्य कितना ऊँचा उठ सकता है……कहां तक जा सकता है
 मनुष्य……न जाने कितनी अवसर्पिणी बीत चुकी है……बीतती जाएंगी
 न कभी मनुष्य के लिए जल्दी है……न देर……बढ़ते चलो……बढ़ते र
 ……अविराम……अविराम है यह क्रम……आज तक तुमने त्याग किया
 अपने आहं को संतुष्ट करने को, अब उस आहं का नाश कर दो……धन अकेला
 नहीं होता……मानव से मिलकर वह पाप बन जाता है……अन्यथा सुध
 भी मिट्टी का ढेला है……सुख-दुख मनुष्य परिवार में भेलता है……जन्म औं
 मृत्यु भाव को हँसाते-रहते हैं……उन्हें प्रकृति का नियम समझो……छे
 परिवार से विशाल परिवार में आओ……इन्द्रियों को जीतने का मार्ग है जिन मा
 ……बहुत प्राचीन है मनुष्य की साधना……कई बार तप किया है मनुष्य ने
 दुख सत्य नहीं है दुख की प्रतीति सत्य है……मनुष्य अपने कर्मों के कारण
 दुखी है……प्रकृति को न समझते के कारण दुखी है……मृत्यु अनिवार्य
 है……और अपने दम्भ में मनुष्य अमर रहना चाहता है……यह क्या उसका
 अज्ञान नहीं ? जो मृत्यु को प्रकृति का नियम मानकर भमभ लेगा……वह क्यों
 रोएगा ? अभाव से रुदन आता है……अभाव का अनुभव मत करो……दीन
 और धनी सुवर्ण को महत्व न दें, मनुष्य को दें……तो यह पाप कहां रहे ?
 और धन से भी बड़ा पाप है……अधिकार का लोभ……इस लोभ के कारण
 मनुष्य अपने-आपको खो देता है !……”

मैं सुन रहा हूँ।

वीरभ्रम कहते हैं, “जाओ ! जिस नगर में शासन किया है वहां गिरा
 मांगो……मिटा दो अपने आहं को……एक बार जो तुम देने का अभियान
 रखते हो यह भी देखो कि यह लोक तुम्हें उतना सदैव देता है जितना तुम्हारे
 जीवित रहने को आवश्यक है !……”

उस क्षण मुझे लगा कि मेरा द्वन्द्व समाप्त हो गया और तब मैं घल पटा……
 भिक्षा मांगते……नंगा……मैला-कुचला……और लोट आया……मुझे गिराने नहीं
 पहचाना……लोग मुझे पहचानते, थे मेरे वस्त्रों से, मेरे पद से……मूर्खोंको नहीं जातता था।

शालिभद्र और मैं दोनों ने थककर देखा। हम पुस्करा उठे थे।
 अब मेरे जीवन में उड्डेग नहीं है। मैं छोड़कर नहीं आया, मैं दूर गया

हैं । क्योंकि मुझे अब व्यथा नहीं सताती । एक बार याद आया है सब । ऐसा लगा है कि मैं एक और व्यक्ति को देख रहा हूं । सचमुच वह एक छोटी दुनिया थी । उस समय मैं अपने स्वार्थ के लिए अन्याय को भी न्याय बनाकर देखता था, अपने मन को वहलाया करता था । अब ऐसा नहीं होता । अब मुझे किसीका भी भय नहीं है । मैं राजा और प्रजा को एक-सा देख रहा हूं……पहले राजा बड़ा लगता था……अब वह केवल मनुष्य लगता है ।……

श्राकाश में अनन्त नक्षत्र विखरे हुए हैं । लोक के लिए व्यक्ति जाग रहा है……और व्यक्ति के लिए लोक को जागना होगा और ऐसे ही क्रम चलता चला जाएगा……निरन्तर……अविराम !

परिशिष्ट

इस तरह आदमी ने आज से ढाई हजार साल पहले इसी दुनिया की गृथी को सुलझाने के लिए अपनी युगसीमा में ऐसा प्रयत्न किया । और तब भी वह दुनिया को काफी पुराना समझता था । बल्कि उस पुरानी दुनिया की यात्रा में एक मंजिल पर आकर आदमी सोचने लगा था कि आज तक मनुष्य वर्वर रहा है... आगे वह ठीक होता जाएगा । और निरन्तर यह संसार बढ़ता रहा है... सुधरता रहा है और हम जोकि नया रास्ता बना रहे हैं... हमें याद रखना है कि अपनी युगसीमा में जिसे हम शाश्वत समझ रहे हैं वह भी परिवर्तनशील है ।

० ० ०